प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला–65

डॉ. सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग–9



प्राकृत के प्रकीर्णक साहित्य की भूमिकाएँ

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

समर्पण



प. पू. मालव सिंहनी
श्री वल्लभकुँवरजी म.सा.



प. पू. सेवामूर्ति
श्री पानकुँवरजी म.सा.



प. पू. सुप्रसिद्ध व्याख्यात्री
श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा.



प. पू. अध्यात्म रसिका
श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

प्राच्य विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रमांक - 65
सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग - 9

प्राकृत के प्रकीर्णक साहित्य की भूमिकाएँ

लेखक
डॉ. सागरमल जैन, एम.ए., पीएच.डी.
निदेशक- प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

प्राच्य विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रमांक - 65
डॉ. सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग - 9

प्राकृत के प्रकीर्णक साहित्य की भूमिकाएँ

लेखक :
डॉ. प्रो. सागरमल जैन

सहयोग–
1. सुभाष कोठारी, 2. सुरेश सिसोदिया

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)
फोन नं. 07364 - 222218
email - sagarmal.jain@gmail.com

प्रकाशन वर्ष 2016

कापीराइट - लेखक डॉ. सागरमल जैन

मूल्य - रुपए 300/-

सम्पूर्ण सेट (लगभग 25 भाग) - 5000/-

मुद्रक – आकृति ऑफसेट, नई पेठ, उज्जैन (म.प्र.) फोन : 0734-2561720

प्रकाशकीय

डॉ. सागरमल जैन जैन विद्या एवं भारतीय विद्याओं के बहुश्रुत विद्वान हैं। उनके विचार एवं आलेख विगत 50 वर्षों से यत्रतत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के विभिन्न ग्रंथों की भूमिकाओं के रूप में प्रकाशित होतेरहेहैं। उन सबको एकत्रित कर प्रकाशित करनेके प्रयास भी अल्प ही हुए हैं। प्रथमतः उनके लगभग 100 आलेख सागरमल जैन अभिनंदन ग्रंथ में और लगभग 120 आलेख - श्रमण के विशेषांकों के रूप में 'सागर जैन विद्या भारती' में अथवा 'जैन धर्म एवं संस्कृति' के नाम सेसात भागों में प्रकाशित हुए हैं। किंतु डॉ. जैन के लेखों की संख्या ही 320 सेअधिक हैं। साथ ही उन्होंनेसंस्कृत एवं प्राकृत तथा जैन धर्म और संस्कृति सेसम्बंधित अनेक ग्रंथ की विस्तृत भूमिकाएं भी लिखी हैं। उनका यह समस्त लेखन प्रकीर्ण रूप सेबिखरा पड़ा है। विषयानुरूप उसका संकलन भी नहीं हुआ है, उनके अनेक ग्रंथ भी अब पुनः प्रकाशन की अपेक्षा रख रहेहैं, किंतु छह-सात हजार पृष्ठों की इस विपुल सामग्री कोसमाहित कर प्रकाशित करना हमारेलिए सम्भव नहीं था- साध्वीवर्या सौम्यगुणा श्री जी का सुझाव रहा कि प्रथम क्रम में उनके विकीर्ण आलेखों कोही एक स्थान पर एकत्रित कर प्रकाशित करनेका प्रयत्न किया जाए। उनकी यह प्रेरणा हमारेलिए मार्गदर्शक बनी और हमनेडॉ. सागरमल जैन के आलेखों कोसंग्रहित करनेका प्रयत्न किया। कार्य बहुत विशाल है, किंतु जितना सहज रूप से प्राप्त हो सकेगा- उतना ही प्रकाशित करनेका प्रयत्न किया जाएगा। अनेक प्राचीन पत्र-पत्रिकाएं पहले हाथ से ही कम्पोज होकर प्रिंट होती थी, साथ ही वे विभिन्न आकारों और विविध प्रकार के अक्षरों से मुद्रित होती थी, उन सब को एक साइज में और एक ही फॉण्ट में प्रकाशित करना भी कठिन था- अतः उनको पुनः प्रकाशित करने हेतु उनका पुनः टंकण एवं प्रुफ रीडिंग आवश्यक था। हमारे पुनः टंकण के कार्य में सहयोग किया श्री दिलीप नागर ने एवं प्रुफ संशोधन के कार्य में सहयोग किया- श्री चैतन्य जी सोनी एवं श्री नरेन्द्र जी गौड़ ने हम इनके एवं मुद्रक आकृति ऑफसेट उज्जैन के आभारी हैं।

नरेंद्र जैन

एवं ट्रस्ट मण्डल प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय सूचि	पेज क्र.
1.	देवेन्द्र स्तव	01
2.	तन्दुल वैचारिक	60
3.	महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक	91
4.	द्वीपसागरपण्णत्ति पइण्णयं	143
5.	गणिविज्जापइण्णयं	213
6.	गच्छाचार पइण्णयं	252
7.	वीरस्तव	274
8.	संथारगपइण्णयं	292
9.	चउसरणपइण्णयं	340
10.	सारावली पइण्णयं	353

प्राकृत का प्रकीर्णक साहित्य

1. देवेन्द्र स्तव

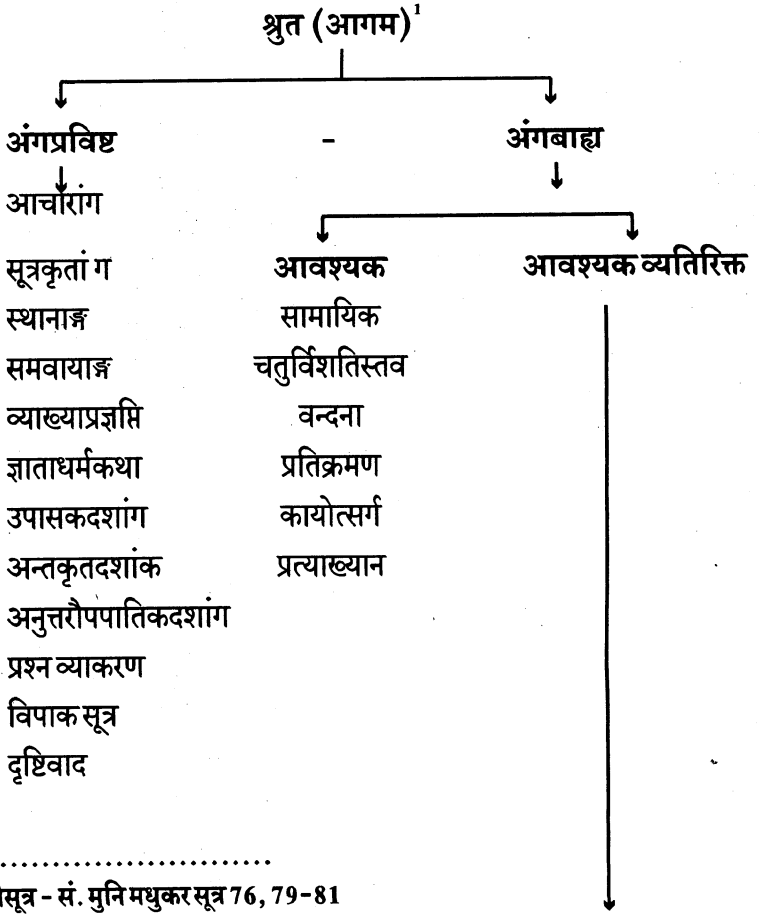
प्रत्येक धर्म परंपरा में धर्म ग्रंथ का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। हिन्दुओं के लिए वेद, बौद्धों के लिए त्रिपिटक, पारसियों के लिए अवेस्ता, ईसाइयों के लिए बाइबिल और मुसलमानों के लिए कुरान का जो स्थान और महत्व है, वही स्थान और महत्व जैनों के लिए आगम साहित्य का है। यद्यपि जैन परंपरा में आगम न तो वेदों के समान अपौरुषेय माने गये हैं और न ही बाइबिल और कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का संदेश है, अपितु वे उन अर्हतों एवं ऋषिओं की वाणी का संकलन है, जिन्होंने साधना और अपनी आध्यात्मिक विशुद्धि के द्वारा सत्य का प्रकाश पाया था। यद्यपि जैन आगम साहित्य में अंग सूत्रों के प्रवक्ता तीर्थंकरों को माना जाता है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि तीर्थंकर भी मात्र अर्थ के प्रवक्ता हैं, दूसरे शब्दों में वे चिंतन या विचार प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें शब्द रूप देकर ग्रंथ का निर्माण गणधर अथवा अन्य प्रबुद्ध आचार्य या स्थविर करते हैं[1]।

जैन परंपरा हिन्दू-परंपरा के समान शब्द पर उतना बल नहीं देती है। वह शब्दों को विचार की अभिव्यक्ति का मात्र एक माध्यम मानती है। उसकी दृष्टि में शब्द नहीं, अर्थ (तात्पर्य) ही प्रधान है। शब्दों पर अधिक बल न देने के कारण ही जैन परंपरा में आगम ग्रंथों में यथाकाल भाषिक परिवर्तन होते रहे और वे वेदों के समान शब्द रूप में अक्षुण्ण नहीं बने रह सके। यही कारण है कि आगे चलकर जैन आगम साहित्य अर्द्धमागधी आगम-साहित्य और शौरसेनी आगम-साहित्य ऐसी दो शाखाओं में विभक्त हो गया। यद्यपि इनमें अर्द्धमागधी आगम-साहित्य न केवल प्राचीन है, अपितु वह महावीर की मूलवाणी के निकट भी है। शौरसेनी आगम-साहित्य का विकास इन्हीं अर्द्धमागधी आगम साहित्य के प्राचीन स्तर के आगम ग्रंथों के आधार पर हुआ है। अतः अर्द्धमागधी आगम साहित्य शौरसनी आगम-साहित्य का आधार एवं उसकी अपेक्षा प्राचीन भी है।

.....

1. 'अत्वं भासइ सुत्तं गंथंति गणहरा - आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 92

यद्यपि यह अर्द्धमागधी आगम-साहित्य महावीर के काल से लेकर वीर निर्माण संवत् 980 या 993 की वल भी वाचना तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में संकलित और सम्पादित होता रहा है। प्राचीन काल में यह अर्द्धमागधी आगम साहित्य अंग-प्रविष्ट और अंग बाह्य ऐसे दो विभागों में विभाजित किया जाता था। अंगप्रविष्ट में ग्यारह अंग आगमों और बारहवें दृष्टिवाद को समाहित किया जाता था। जबकि अंगबाह्य में इसके अतिरिक्त वे सभी आगम ग्रंथ समाहित किये जाते थे, जो श्रुतकेवली एवं पूर्वधर स्थविरों की रचनाएँ माने जाते थे। पुनः इस अंगबाह्य आगम-साहित्य को नन्दीसूत्र में आवश्यक और आवश्यक व्यक्तिरिक्त ऐसे दो भागों में विभाजित किया गया है। आवश्यक व्यक्तिरिक्त के भी पुनः कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग किए गए है। नन्दीसूत्र का यह वर्गीकरण निम्नानुसार है-



1. नन्दीसूत्र - सं. मुनि मधुकर सूत्र 76, 79-81

आवश्यक व्यतिरिक्त

कालिक		***उत्कालिक***	
उत्तराध्ययन	समुत्थानश्रुत	*दशवैकालिक*	विहारकल्प
दशाश्रुतस्कन्ध	नागपरितापनिका	*कल्पिकाकल्पिक*	चरणविधि
काल्प	निरयावलिका	चुल्लकल्पश्रुत	**आतुरप्रत्याख्यान**
निशीथ	कल्पिका	औपपातिक	**महाप्रत्याख्यान**
महानिशीथ	कल्पावतंसिका	राजप्रश्नीय	
ऋषिभाषित	पुष्पिका	जीवाभिगम	
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	पुष्पचूलिका	प्रज्ञापना	
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति	वृष्णिदशा	महाप्रज्ञापना	
चन्द्रप्रज्ञप्ति		प्रमादाप्रमाद	
क्षुल्लिकाविमान	प्रविभक्ति	नन्दी	
		अनुयोगद्वार	
महल्लिकाविमान	प्रविभक्ति	**देवेन्द्रस्तव**	
		तंदुलवैचारिक	
अंगचूलिका		**चन्द्रवेध्यक**	
वंगचूलिका		*सूर्यप्रज्ञप्ति*	
विवाहचूलिका		*पौरुषीमंडल*	
अरुणोपपात		मण्डलप्रवेश	
वरुणोपपात		**गणिविद्या**	
गरुडोपपात		ध्यानविभक्ति	
धरणोपपात		मरणविभक्ति	
वैश्रवणोपपात		आत्मविभक्ति	
वेलन्धरोपपात		वीतरागश्रुत	
देवेन्द्रोपपात		संलेखणाश्रुत	

इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्दीसूत्र में देवेन्द्रस्तव का उल्लेख अंगबाह्य, आवश्यक व्यतिरिक्त उत्कालिक आगमों में हुआ है पाक्षिक सूत्र में भी आगमों के वर्गीकरण की यही शैली अपनायी गई है। इसके अतिरिक्त आगमों के वर्गीकरण की एक प्राचीन शैली हमें यापनीय परंपरा के शोरसेनी आगम 'मूलाचार' में भी मिलती है।

मूलाचार[1] आगमों को चार भागों में वर्गीकृत करता है -(1) तीर्थंकर - कथित (2) प्रत्येक-बुद्ध-कथित, (3) श्रुतकेवली-कथित (4) पूर्वधर - कथित। पुनः मूलाचार में इन आगमिक ग्रंथों का कालिक और उत्कालिक के रूप में भी वर्गीकरण किया गया है। मूलाचार में आगमों के इस वर्गीकरण में 'थुदि' का उल्लेख उत्कालिक आगमों में हुआ है। आज यह कहना तो कठिन है कि 'थुदि' से वे वीरत्थुई या देविदत्थओ में से किसका ग्रहण करते थे। इस प्रकार अर्द्धमागधी और शोरसेनी दोनों की आगम परम्पराएँ एक उत्कालिक सूत्र के रूप में स्तव या देवेन्द्रस्तव का उल्लेख करती है।

वर्तमान में आगमों के अंग, उपांग, छेद, मूलसूत्र, प्रकीर्णक आदि विभाग किये जाते है। यह विभागीकरण हमें सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ)[1] 13वीं शताब्दी) में प्राप्त होता है।[2] सामान्यतया प्रकीर्णक का अर्थ विविध विषयों पर संकलित ग्रंथ ही किया जाता है। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है कि तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रवण प्रकीर्णकों की रचना करते थे। परंपरानुसार यह भी मान्यहै कि प्रत्येक श्रमण एक-एक प्रकीर्णक की रचना करते थे। समवायांग सूत्र में "चोरासीइं पण्णग सहस्साइं पण्णत्ता" कहकर ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों के चौरासी हजार प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है।[3] महावीर के तीर्थ में चौदह हजार साधुओं का उल्लेख प्राप्त होता है अतः उनके तीर्थ में प्रकीर्णकों की संख्या भी चौदह हजार मानी गई है। किन्तु आज प्रकीर्णकों की संख्या दस मानी जाती है। ये दस प्रकीर्णक निम्न है-

(1) चतुःशरण, (2) आतुरप्रत्याख्यान, (3) महाप्रत्याख्यान (4) भत्तपरिज्ञा (5) तंदुलवैचारिक (6) संस्थारक (7) गच्छाचार (8) गणिविद्या (9) देवेन्द्रस्तव और (10) मरण समाधि। इन दस प्रकीर्णकों को श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय आगमों को श्रेणी में मानते हैं।

.....

1. मूलाचार - 5/80-82।
2. विधिमार्ग प्रपा - पृष्ठ 55।
3. समवायांग सूत्र - मुनि मधुकर - 84वाँ समवाय

परंतु प्रकीर्णक नाम से अभिहित इन ग्रंथों का संग्रह किया जाये तो निम्न 22 नाम प्राप्त होते हैं[1]- (1) चतुःशरण, (2) आतुर प्रत्याख्यान, (3) भक्तपरिज्ञा (4) संस्थारक (5) तंदुलवैचारिक (6) चंद्रावेध्यक (7) देवेन्द्रस्तव (8) गणिर्विद्या (9) महाप्रत्याख्यान (10) वीरस्तव (11) ऋषिभाषित (12) अजीवकल्प (13) गच्छाचार (14) मरणसमाधि (15) तित्थोगालि (16), आराधना पताका (17), द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (18) ज्योतिष्करण्डक (19) अंगविद्या (20) सिद्धप्राभृत, (21) सारावली और (22) जीवविभक्ति।

इसके अतिक्ति एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं। यथा- 'आउर पच्चक्खान' के नाम से तीन ग्रंथ उपलब्ध होते हैं।

इनमें से नन्दी और पाक्षिक के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रावेध्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, मरणसमाधि, महाप्रत्याख्यान, ये सात नाम पाये जाते है और कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागर प्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं।[1] इस प्रकार नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है।[2] यद्यपि प्रकीर्णकों की संख्या और नामों को लेकर मतभेद देखा जाता है, किन्तु यह सुनिश्चित है कि प्रकीर्णकों के भिन्न-भिन्न सभी वर्गीकरणों में देवेन्द्रस्तव को स्थान मिला ही है।

यद्यपि आगमों की श्रृंखला में प्रकीर्णकों का स्थान द्वितीयक है, किन्तु यदि हम भाषागत प्राचीनता और आध्यात्म - प्रधान विषय-वस्तु की दृष्टि से विचार करें तो प्रकीर्णक, आगमों की अपेक्षा भी महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित आदि ऐसे प्रकीर्णक है, जो उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन है।[3] अतः 'देवेन्द्रस्तव' का स्थान प्रकीर्णकों में होने से उसका महत्व कम नहीं हो जाता है। फिर भी इतना अवश्य है कि यह प्रकीर्णक अध्यात्मपरक अथवा आचारपरक न होकर स्तुतिपरक है। इसकी विषयवस्तु मुख्यतः देवनिकाय तथा उसके खगोल एवं भूगोल से संबंधित है।

.....

1. पइण्णयसुत्ताइं - मुनि पुण्यविजयजी - प्रस्तावना पृष्ठ 19।
2. नन्दीसूत्र - मुनि मधुकर पृष्ठ 80-81।
3. ऋषिभाषित की प्राचीनता आदि के संबंध में देखें-
   डॉ. सागरमल जैन - ऋषिभाषित : एक अध्ययन (प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर)

स्तुतिपरक जैन साहित्य और देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक :

आराध्य की स्तुति करने की परंपरा भारत में प्राचीनकाल से ही रही है। भारतीय साहित्य की अमरनिधि वेद मुख्यतः स्तुतिपरक ग्रंथ है। वेदों के अतिरिक्त भी हिन्दू परंपरा में स्तुतिपरक साहित्य की रचना होती रही है, किन्तु जहाँ तक श्रमण परंपराओं का प्रश्न है वे स्वभावतः अनीश्वरवादी बौद्धिक परंपराएँ हैं। श्रमणधारा के प्राचीन ग्रंथों में हमें साधना या आत्मशोधन की प्रक्रिया पर ही अधिक बल मिलता है, उपासना या भक्ति का तत्व उनके लिए प्रधान नहीं रहा। जैन धर्म भी श्रमण परंपरा का धर्म है। इसलिए उसकी मूल प्रकृति में स्तुति का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। जब जैन परंपरा में आराध्य के रूप में महावीर को स्वीकार किया गया, तो सबसे पहले उन्हीं की स्तुति लिखी गई, जो कि आज भी सूत्रकृतांगसूत्र के छठे अध्याय के रूप में उपलब्ध होती है।[1] संभवतः जैन धर्म के स्तुतिपरक साहित्य का प्रारंभ इसी 'वीरत्थुई' से है। वस्तुतः इसे भी स्तुति केवल इसी आधार पर कहा जा सकता है कि इसमें महावीर के गुणों एवं उनके व्यक्तित्व के महत्व को निरुपित किया गया है। इसमें स्तुतिकर्ता महावीर से किसी भी प्रकार की याचना नहीं करता। उसके पश्चात् स्तुतिपरक साहित्य के रचनाक्रम में हमारे विचार से **''नमुत्थुणं''** जिसे **'शक्रस्तव'** भी कहा जाता है, निर्मित हुआ होगा वस्तुतः यह अर्हत या तीर्थंकर की बिना किसी व्यक्ति विशेष का नाम निर्देश किये सामान्य स्तुति है जहाँ सूत्रकृतांग की **'वीरत्थुइ'** पद्यात्मक है, वहाँ यह गद्यात्मक है। दूसरी बात यह कि इसमें अर्हन्त को एक लोकोत्तर पुरुष के रूप में ही चित्रित किया गया है, 'वीरस्तुति' में केवल कुछ प्रसंगों को छोड़कर सामान्यतया महावीर को लोक में श्रेष्ठतम व्यक्ति के रूप प्रस्तुत किया गया है, लोकोत्तर रूप में नहीं[1]। यद्यपि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में वर्णित उनके जीवन वृत्त की अपेक्षा इसमें लोकोत्तर तत्व अवश्य ही प्रविष्ट हुए है। हमें तो ऐसा लगता है कि प्रारंभ में 'वीरत्थुई' के रूप में 'पुच्छिसुणं' और 'देविंदथओ' रूप में 'नमोत्थुणं' ही रहे होंगे क्योंकि 'देविंदथओ' का भी एक अर्थ देवेन्द्र के द्वारा की गई स्तुति होता है, 'नमुत्थुण' को जो 'शक्रस्तव' कहा जाता है, वह इसी तथ्य की पुष्टि करता है। स्तुतिपरक साहित्य में इन दोनों के पश्चात् 'चतुर्विंशतिस्तव' (लोगस्स-चोवीसत्थव) का स्थान आता है। लोगस्स का निर्माण तो चौबीस तीर्थंकरों की अवधारणा के साथ ही हुआ होगा।

.....

1. सूत्रकृतांगसूत्र - मुनि मधुकर, छठा अध्ययन - 'वीरत्थुइ'

'वीरत्थुइ' और 'नमुत्थुणं' में एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि जहां इन दोनों में भक्तहृदय अपने आराध्य के गुणों का स्मरण करता है, उससे किसी प्रकार कि लौकिक या आध्यात्मिक अपेक्षा नहीं करता है जबकि ''चोवीसत्थव'' के पाठ में सर्वप्रथम भक्त अपने कल्याण की कामना के लिए आराध्य से प्रार्थना करता है कि हे तीर्थंकर देवो ! आप मुझ पर प्रसन्न हों तथा मुझे आरोग्य, बोधिलाभ तथा सिद्धि प्रदान करे। संभवतः जैन स्तुतिपरक साहित्य में यही सबसे पहले उपासक हृदय याचना की भाषा का प्रयोग करता है। यद्यपि जैनदर्शन की स्पष्टतया यह मान्यता रही है कि तीर्थंकर तो वीतराग है, अतः वे न तो किसी का हित करते हैं और न अहित ही, वे तो मात्र कल्याण पथ के प्रदर्शक हैं। अपने भक्त का हित या उसके शत्रु का अहित संपादित करना उनका कार्य नहीं। 'लोगस्स' के पाठ को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पर सहवर्ती हिन्दू परंपरा का प्रभाव आया है। लोगस्स के पाठ में आरोग्य, बोधि और निर्वाण इन तीनों बातों की कामना की गयी है। जिसमें आरोग्य का संबंध बहुत कुछ हमारे ऐहिक जीवन के कल्याण के साथ जुड़ा हुआ है । यद्यपि आध्यात्मिक रूप से इसकी व्याख्या आध्यात्मिक विकृतियों के निराकरण रूप में की जाती है तथापि जैन परंपरा के स्तुतिपरक साहित्य में कामना का तत्व प्रविष्ट होता गया है, जो जैन दर्शन के मूल-सिद्धांत वीतरागता की अवधारणा के साथ संगति नहीं रखता है।

इसी संदर्भ में आगे चलकर यह माना जाने लगा कि तीर्थंकर की भक्ति से उनके शासन के यक्ष-यक्षी (शासन देवता) प्रसन्न होकर भक्त का कल्याण करते हैं। फिर शासन देवता के रूप में प्रत्येक तीर्थंकर के यक्ष और यक्षी की अवधारणा निर्मित हुई और उनकी भी स्वतंत्ररूप से स्तुति की जाने लगी। ''उवसग्गहर'' प्राकृत साहित्य का संभवतः सबसे पहला तीर्थंकर के साथ-साथ उसके शासन के पक्ष की स्तुति करने वाला काव्य है।[1] इसमें पार्श्व के साथ-साथ पार्श्व पक्ष की भी लक्षणा से स्तुति की गई है। प्रस्तुत स्तोत्र में जहाँ एक ओर पार्श्व से चिंतामणि कल्प के समान सम्यक्त्व-रत्न रूप बोधि और अजर-अमर पद अर्थात् मोक्ष प्रदान करने की कामना की गई है, वहीं यह भी कहा गया है कि कर्ममल से रहित पार्श्व का यह नाम रूपी मन्त्र विषधर के विष का विनाश करने वाला तथा कल्याणकारक है। जो मनुष्य इस मंत्र को धारण करता है उसके ग्रहों के दुष्प्रभाव, रोग और ज्वर आदि से शांत हो जाते हैं।

.....

1. उवसग्गहर स्तोत्र - गाथा 1 से 5 (पंचप्रतिकमण सूत्र)

इसके साथ ही यह भी कहा गया कि जो मात्र पार्श्व को प्रणाम करता है, वह भी दुर्गति रूपी दुःख से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत स्तोत्र में एक ओर भौतिक कल्याण की अपेक्षा है तो दूसरी ओर आध्यात्मिक पूर्णता की कामना भी। यदि हम चतुर्विंशतिस्तव से इस उवसग्गहर स्तोत्र की तुलना करें तो हमें यह स्पष्ट लगता है कि यद्यपि इसमें आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के कल्याण की कामना है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि चतुर्विंशतिस्तव की अपेक्षा उवसग्गहर - स्तोत्र भौतिक कल्याण की कामना में आगे बढ़ा हुआ कदम है। जहां चतुर्विंशतिस्तव में मात्र आरोग्य की कामना की गई है, वहीं इसमें ज्वर शांति, रोगशांति और सर्प-विष से मुक्ति की कामना भी परिलक्षित होती है। इसे एक मंत्र का रूप दिया गया है। जैन साहित्य में स्तोत्रों के माध्यम मंत्र-तंत्र का जो प्रवेश हुआ है, उस दिशा की ओर यह स्तोत्र प्रथम पद-निक्षेप कहा जा सकता है। इस स्तोत्र के कर्ता वरामिहिर के भाई द्वितीय भद्रबाहु को माना गया है।

इसके पश्चात् प्राकृत, संस्कृत और आगे चलकर मरु-गुर्जर में अनेक स्तोत्र बने, जिनमें ऐहिक सुख-सम्पदा प्रदान करने की भी कामना की गई है। यह चर्चा हमने यहाँ इसलिए प्रस्तुत की है कि जैन परंपरा में स्तुतिपरक साहित्य किस क्रम से और किस रूप में विकसित हुआ है, इसे समझा जा सके। अब हम इस संदर्भ में 'देवेन्द्रस्तव' का मूल्यांकन करेंगे।

जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि 'देवेन्द्रस्तव' को किसकी स्तुति माना जाय, यह निर्णय करना कठिन है। जहाँ इसकी प्रारंभिक एवं अंतिम गाथाएँ तीर्थंकर की स्तुतिरूप है, वहीं इसका शेषभाग इन्द्रो व देवों के विवरणों से भरा हुआ है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें किसी प्रकार के भौतिक कल्याण की कामना न तो तीर्थंकरों से और न ही देवेन्द्रों से की गई है। केवल अंतिम गाथा में कहा गया है कि सिद्ध, सिद्धि को प्रदान करे।[1] इस प्रकार कल्याण कामनापरक स्तुतियों की दृष्टि से तो यह "वीरत्थु" और "नमुत्थुणं" के पश्चात एवं "चतुर्विंशतिस्तव" के पूर्व का सिद्ध होता है। किन्तु इसको चतुर्विंशतिस्तव के पूर्व मानने के संबंध में मुख्य कठिनाई यह है कि इसके ऋषभ

.....

1. "सिद्धा सिद्धि उवविहिंतु" - देवेन्द्र-गाथा 310

को प्रथम और महावीर को अंतिम तीर्थंकर मानकर प्रथम भाषा में ही वंदन किया गया है।[1] अतः यह स्पष्ट है कि ग्रंथकार के समक्ष चौबीस तीर्थंकरों की अवधारणा उपस्थित थी, किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऋषभ को प्रथम और महावीर को अंतिम तीर्थंकर मानने मात्र से चौबीस की अवधारणा का समावेश नहीं हो जाता। उत्तराध्ययन में भी महावीर को अंतिम तीर्थंकर के रूप में माना गया है, लेकिन उसमें कहीं भी स्पष्ट रूप से चौबीस की संख्या का निर्देश नहीं है। इस प्रकार स्तुतिपरक साहित्य के विकास क्रम की दृष्टि से 'देवेन्द्रस्तव' पर्याप्त प्राचीन स्तर का ग्रंथ सिद्ध होता है।

पुन 'देवेन्द्रस्तव' को ''देवेन्द्रो का स्तव'' यदि इस रूप में माना जाय तो यह केवल उसी अर्थ में स्तवन है कि यह उनकी विशेषताओं का विवरण प्रस्तुत करता है। यद्यपि इसमें इन्द्रों की सामर्थ्य आदि का अतिशयपूर्ण वर्णन है, फिर भी इसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि देवताओं की इस समस्त ऋद्धि की अपेक्षा भी तीर्थंकरों की ऋद्धि अनंतानंतगुण अधिक है।[2] इससे ऐसा लगता है कि यह ग्रंथ यद्यपि देवेन्द्रों का विवरण प्रस्तुत करता है, किन्तु उसका मूल लक्ष्य तो तीर्थंकर की महत्ता को स्थापित करना और उनकी स्तुति करना ही है।

नामकरण की सार्थकता का प्रश्न-

यद्यपि नंदी, पाक्षिक-सूत्र आदि में इसका उल्लेख देवेन्द्रस्तव (देविदत्थओ) के रूप में पाया जाता है, किन्तु यदि हम इसके वर्णित विषय का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करें तो ऐसा लगता है कि यह 'देवेन्द्रस्तव' के स्थान पर तीर्थंकर-स्तव ही है क्योंकि इसकी 310वीं गाथा में ऋषिपालित को 'देविंदथयकारस्स वीरस्स' कहा गया है। मूलाचार में तो इसका 'थुदी' के रूप में ही उल्लेख है। यद्यपि इस देवेन्द्रस्तव में देवेन्द्रों का विस्तार से विवरण है, किन्तु उसमें एक भी गाथा ऐसी नहीं है, जिसमें देवेन्द्रों की स्तुति की गयी हो। अतः देवेन्द्रस्तव की व्याख्या करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि

.....

1. ''अमरनरवंदिए वंदिऊण उसभाइये जिणवरिंदे
   वीरवर पच्छिमंते तेलोक्कगुरु गुणाइन्ने'' - देवेन्द्रस्तव गाथा - 1
2. सुरगणइड्ढि समग्गा सव्वद्धापिंडिया अणंतगुणा।
   न वि पावे जिणइड्ढि णंतेहिं वि वग्गवग्गूहि - देवेन्द्रस्तव गाथा-307

इसका अर्थ देवेन्द्र की स्तुति न होकर देवेन्द्रों के द्वारा की गयी स्तुति ही माना जाना चाहिए। यदि इसे देवेन्द्रों की स्तुति मनना हो, तो यह केवल विवरणात्मक स्तुति है।

देवेन्द्रस्तव के कर्ता

देवेन्द्रस्तव के कर्ता के रूप में हमें ऋषिपालित का नाम उपलब्ध होत है। मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित एवं महावीर विद्यालय बम्बई से प्रकाशित संस्करण में इस प्रकीर्णक के प्रारंभ में ही 'सिरिइसिवालियथेरविरइओ' ऐसा स्पष्ट उल्लेख है, मात्र यही नहीं उसकी गाथा क्रमांक 309-310 में भी कर्ता का निम्न रूप में निर्देश उपलब्ध है।

(अ) ''इसिवालियमइमहिया करति जिणवराणं''।

(ब) ''इसिवालियस्स भद्दं सुरवरथयकारयस्स वीरस्स''।

इसमें ऋषिपालित को स्तुतिकर्ता के रूप स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया गया है, अतः ग्रंथ के आंतरिक एवं बाह्य साक्षों से यह फलित होता है कि इसके कर्ता ऋषिपालित हैं। यद्यपि डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने अपने 'प्राकृत साहित्य के इतिहास' में तथा देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने 'जैन आगम-साहित्य मनन और मीमांसा' में इसके कर्ता के रूप में 'वीरभद्र का उल्लेख किया है,[1] किन्तु दोनों ने इसके कर्ता वीरभद्र को मानने का कोई प्रमाण नहीं दिया जाता है। संभवतः चउसरण, आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा, और आराधनापताका आदि कुछ प्रकीर्णकों के कर्ता के रूप में वीरभ्रद का नाम प्रसिद्ध था, इसी भ्रमवश जगदीशचन्द्रजी ने देवेन्द्रस्तव के कर्ता के रूप में वीरभद्र का उल्लेख कर दिया होगा। उन्होंने मूलग्रंथ की अंतिम गाथाओं को देखने का भी प्रयास नहीं किया। देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने तो अपना ग्रंथ जगदीश चन्द्र जैन एवं नेमिचन्द्र शास्त्री के प्राकृत साहित्य के इतिहास ग्रंथों को ही आधार बनाकर लिखा है इसलिए उन्होंने भी मूल ग्रंथ की गाथाओं को देखने का कोई कष्ट नहीं किया। अतः उनसे भी यह भ्रांति होना स्वाभाविक ही था। पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी से प्रकाशित जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-2 में डॉ. मोहनलालजी मेहता ने और श्री जैन प्रवचन किरणावली के लेखक आचार्य विजय पद्मसूरि ने इस ग्रंथ की विषय् वस्तु

.....

1. (क) प्राकृत साहित्य का इतिहास - डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, पृ. 128
   (ख) जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा - देवेन्द्रमुनि शास्त्री पृ. 400

का संक्षिप्त निर्देश तो किया है, किन्तु उन्होंने इसके कर्ता के संबंध में विचार करने का कोई प्रयास ही नहीं किया है।[1] अतः यह दायित्व अब हमारे ऊपर ही रह जाता है कि इसके कर्ता के संबंध में थोड़ा गंभीरतापूर्वक विचार करें।

नंदीसूत्र और मूलाचार में देविंदत्थओं का उल्लेख होने से इतना तो निश्चित है कि यह ग्रंथ ईसा की पाँचवी शताब्दी में अस्तित्व में आ गया था, अतः इसके कर्ता वीरभद्र किसी भी स्थिति में नहीं हो सकते, क्योंकि आगमवेत्ता मुनिश्री पुण्यविजयजी ने ''पइण्णय सुत्ताइं'' के प्रारंभ में अपने संक्षिप्त वक्तव्य में वीरभ्रद का समय विक्रम सं. 1008 या 1078 निश्चित् किया है।[2] मूलग्रंथ में वीरभद्र के नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं होने से तथा वीरभद्र के पर्याप्त परवर्ती काल का होने से यह निश्चित है कि इस प्रकीर्णक के कर्ता वीरभद्र नहीं है। चूँकि ग्रंथ की मूल गाथाओं में कर्ता के रूप में ऋषिपालित का स्पष्ट उल्लेख है।[3] अतः इसके कर्ता ऋषिपालित ही है अन्य कोई नहीं।

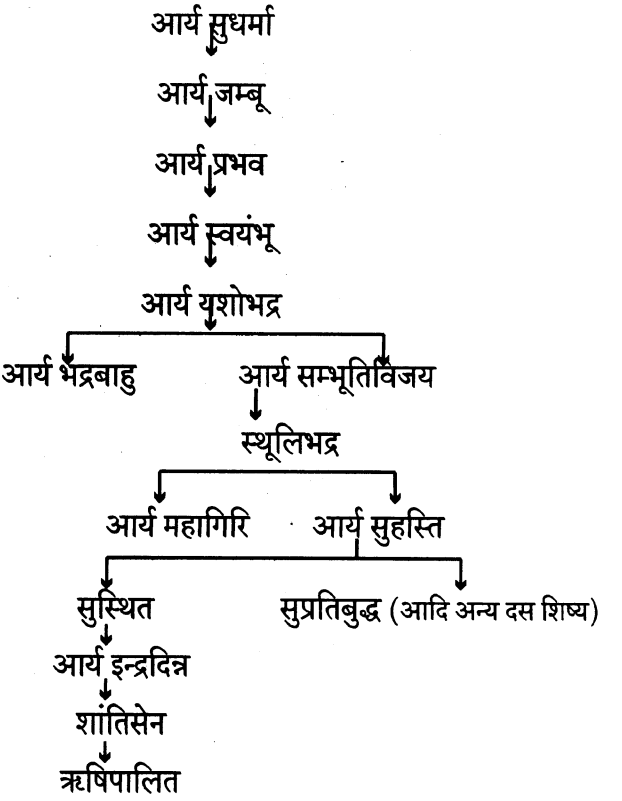
अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'देवेन्द्रस्तव' के कर्ता ऋषिपालित कौन थे ? और कब हुए ? यद्यपि नन्दीसूत्र की स्थविरावली एवं श्वेताम्बर परंपरा की कुछ पट्टालियों में ऋषिपालित नाम के आचार्य का उल्लेख हमें नहीं मिला है, किन्तु खोज करते-करते हमें ऋषिपालित का उल्लेख कल्पसूत्र की स्थविरावली में प्राप्त हो गया।[4] कल्पसूत्र की स्थविरा- वली के अनुसार ऋषिपालित आर्य शांतिसेन के शिष्य थे। मात्र यही नहीं कल्पसूत्र की स्थविरावली की गुरु परंपरा का भी उल्लेख है। ऋषिपालित के गुरु शांतिसेन और शांतिसेन के गुरु इन्द्रदिन्न थे। इन्हीं इन्द्रदिन्न के गुरु आर्य सुस्थित से 'कोटिक' नामक गण निकला था। इसी 'कोटिक' गण में आर्य शांतिसेन से उच्चनागरी शाखा निकली। ज्ञातव्य है कि इसी उच्चनागरी शाखा में आगे चलकर तत्वार्थ के कर्ता उमास्वाति हुए हैं।

.....

1. (क) जैन साहित्य का वृहद इतिहास - भाग 2 - डॉ. मोहनलाल मेहता - पृ. 360
   (ख) श्री जैन प्रवचन किरणावली - विजयपद्मसूरि - पृ. 433
2. पइण्णयसुत्ताइं - मुनि पुण्यविजय जी - प्रस्तावना - पृ. 19
3. देवेन्द्रस्तव - गाथा 309-310
4. ''थेरेहितो ण अज्ज इसिपालिएहिंतो एत्थ णं अज्ज
   इसिपालिया साहा निग्गया'' कल्पसूत्र - म. विनयसागर पृ. 304

पुनः प्रस्तुत ग्रंथ के कर्ता ऋषिपालित से भी कोटिकगण की आर्य ऋषिपालित शाखा निकलने का उल्लेख भी कल्पसूत्रकार करता है। अतः यह निश्चित हो जाता है कि आर्य ऋषिपालित एक प्रभावशाली आचार्य और ऐतिहासिक व्यक्ति है और हमारी दृष्टि में यही ऋषिपालित इस देविंदत्थओ के कर्ता है। कल्पसूत्र में उल्लिखित इन ऋषिपालित को 'देवेन्द्रस्तव' के कर्ता मानने में विद्वानों को एक ही आपत्ति हो सकती है, वह यह कि इस आधार पर 'देवेन्द्रस्तव' पर्याप्त प्राचीनकाल का ग्रंथ सिद्ध होगा। किन्तु ग्रंथ की विषयवस्तु एवं भाषा पर विचार करने पर हमें तो इसकी प्राचीनता पर संदेह नहीं रहता है। पुनः जब तक नन्दी के रचनाकाल के पूर्व अन्य किसी ऋषिपालित का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है तो हमारे सामने इसके कर्ता के रूप में कल्पसूत्र में उल्लिखित ऋषिपालित को मानने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार महावीर से लेकर ऋषिपालित तक की गुरु परंपरा इस प्रकार से निश्चित होती है -

श्रमण भगवान महावीर



ऋषिपालित का काल - उपर्युक्त गुरु-शिष्य परंपरा के अनुसार ऋषिपालित का क्रम भगवान् महावीर से बारहवाँ आता है अर्थात् इन दोनों के बीच दस आचार्य हुए हैं। यदि हम प्रत्येक आचार्य का काल 30 वर्ष भी स्वीकार करें तो ऋषिपालित लगभग वीर निर्वाण सं. 300 के आसपास तो हुए ही होंगे। इस गुरु शिष्य परंपरा में आर्य सुहस्ति से आर्य ऋषिपालित का क्रम पाँचवां आता है अतः यह मानना होगा कि आर्य ऋषि पालित सम्प्रति से लगभग 100 वर्ष पश्चात् हुए होंगे। सम्प्रति का शासन काल ईस्वी पूर्व 107 के लगभग स्वीकृत होता है। अतः ऋषिपालित ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में जीवित रहे होंगे और और तभी उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की होगी। अतः 'देविदत्थओ' का रचनाकाल लगभग ई. पू. प्रथम शताब्दी निश्चित होता है।

यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि 'देवेन्द्रस्तव' को ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी की रचना मानने में क्या बाधाएँ आ सकती है, इस संदर्भ में हमको इसकी भाषा शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से विचार करना होगा। जहाँ तक 'देवेन्द्रस्तव' की भाषा का प्रश्न है, यह सत्य है कि उस पर महाराष्टी प्राकृत का प्रभाव परिलक्षित होता है, किन्तु महाराष्टी का ऐसा प्रभाव तो हमें ऋषिभाषित जैसे प्राचीनस्तर के प्रकीर्णक पर तथा अचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगम ग्रंथों में भी मिलता है। वास्तविकता यह है कि श्रुत के शताब्दियों तक मौखिक बने रहने के कारण इस प्रकार के भाषिक परिवर्तन उसमें आ ही गये हैं। साथ ही अभी भी कुछ प्राचीन प्रतों में प्राचीन अर्धमागधी के पाठान्तर उपलब्ध हो जाते हैं। अतः महाराष्टी प्राकृत के प्रभाव के आधार पर इसे परिवर्ती काल की रचना नहीं कहा जा सकता है। पुनः प्रश्नव्याकरण, आदि कुछ आगमों की अपेक्षा इसकी भाषा में प्राचीनता के तत्त्व परिलक्षित होते हैं।

शैली - यदि हम शैली की दृष्टि से विचार करें तो 'देवेन्द्रस्तव' की शैली समस्त आगमग्रंथों से भिन्न है। आगम ग्रंथों की प्राचीन शैली में निम्न वाक्यांश से प्रारंभ किया जाता है ''सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं'' हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है उन भगवान ने यह कहा है। दूसरे कुछ परवर्ती स्तर के आगमों में प्रारंभ में आर्य सुधर्मा से जम्बू जिज्ञासा प्रकट करते हैं और आर्य सुधर्मा, गौतम और महावीर के संवाद के रूप में आगम की विषयवस्तु का विवेचन करते हैं। स्तुतिपूर्वक गाथाओं के पश्चात्

आगमों का विवरण प्रस्तुत करने की शैली मुख्यतः उन आगमों में देखी जाती है जिनके रचयिता कोई स्थविर या आचार्य माने जाते हैं। नंदी जैसे परवर्ती अर्द्धमागधी आगम ग्रंथों में तथा शौरसेनी आगम साहित्य के ग्रंथों में मुख्यतया इस प्रकार की शैली परिलक्षित होती है।

'देवेन्द्रस्तव' की वर्णन शैली भी इसी प्रकार की है। किन्तु इस ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि इसमें महावीर की स्तुति के पश्चात् समग्र विषय-वस्तु का विवेचन श्राविका की जिज्ञासा के समाधान के रूप में श्रावक द्वारा करवाया गया है। अतः इसमें जिज्ञासा समाधानपरक और स्तुतिपरक दोनों ही शैलियों का मिश्रण देखा जाता है।

जिज्ञासा-शैली की दृष्टि से सम्भवतः यही एक मात्र ऐसा ग्रंथ है, जिसमें विषयवस्तु का विवरण तीर्थंकर के मुख से अथवा आर्य सुधर्मा या गौतम के मुख से न कहलवाकर श्रावक के मुख से कहलवाया गया है। वस्तुतः इसके पीछे एक रहस्य प्रतीत होता है। यद्यपि भगवती, सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि में देवों से संबंधित विवरण महावीर के श्रीमुख से ही कहलवाये गये। गौतम के पूछने पर महावीर ने कहा, ऐसा कह करके आर्य सुधर्मा, आर्य जम्बू को कहते हैं। तो फिरआखिर ऐसा क्यों हुआ कि 'देवेन्द्रस्तव' में यह विवरण एक श्रावक प्रस्तुत करता है ? हमारे विचार से चूंकि 'देवेन्द्रस्तव' एक स्तुतिपरक ग्रंथ था अतः महावीर अपने श्रीमुख से अपनी स्तुति कैसे करते ? पुनः किसी काल-विशेष तक आध्यात्मिक साधना प्रधान श्रमण इस प्रकार देवों की स्तुति नहीं करते होंगे, अतः आचार्य ऋषिपालित ने यह सोचा होगा कि इसे महावीर या गणधर के मुख से प्रस्तुत नहीं करवा करके श्रावक के मुख से ही प्रस्तुत करवाया जाये।

पुनः जब ग्रंथ के आरंभ में ही देवेन्द्रों को तीर्थंकर की स्तुति करने वाला कह दिया गया तो फिर स्वयं तीर्थंकर अपने मुँह से अपनी स्तुति करने वाले का विवरण कैसे प्रस्तुत करते ? साथ ही 'देवेन्द्रस्तव' की इस शैली से ऐसा फलित होता है कि किसी समय तक खगोल-भूगोल संबंधी मान्यताओं को लौकिक मान्यता मान कर ही जैन परंपरा में स्थान दिया जाता रहा होगा। अतः इसका विवरण तीर्थंकर या आचार्य द्वारा न करवा करके श्रावक के द्वारा प्रस्तुत किया गया। यदि हम 'देवेन्द्रस्तव' की शैली के आधार पर इस तथ्य को स्वीकार कर लें कि ये लौकिक मान्यताएँ थी तो सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि खगोल और ज्योतिष विषयक आगमों के कुछ पाठों को लेकर आधुनिक विज्ञान

से जो विसंगति देखी जाती है अथवा जिनके कारण जैन परंपरा की अहिंसा भावना खंडित होती प्रतीत होती है, उन सबकी लौकिक मान्यता के रूप में संगतिपूर्ण व्याख्या की जा सकती है।

हमारी दृष्टि में आध्यात्म प्रधान और नैतिक आदर्शों के प्रवक्ता तीर्थंकर महावीर का उन सब लौकिक मान्यताओं से बहुत अधिक संबंध नहीं रहा होगा, यह तो परवर्ती आचार्यों का ही प्रयत्न होगा कि उन्होंने जैन आगम साहित्य को खगोल-भूगोल आदि विभिन्न लौकिक विषयों से समृद्ध करने के प्रयत्न में लौकिक मान्यताओं को भी जैन आगमों में समाविष्ट कर लिया, अन्यथा इन सब बातों का अध्यात्म एवं चरण-गुण प्रधान जैन धर्म से सीधा-सीधा कोई संबंध नहीं रहा था। 'देवेन्द्रस्तव' की यह विशिष्ट शैली हमें उन सब समस्याओं से बचा लेती है और खगोल-भूगोल संबंधी विवरणों में जो विसंगति परिलक्षित होती है उसके लिए तीर्थंकर की वाणी उत्तरदायी नहीं बनती है।

पुनः आज भी मूर्तिपूजक श्वेताम्बर समाज में एक वर्ग जिसे 'त्रिस्तुतिक' (तीन थुई) के नाम से जाना जाता है, क्षेत्रपाल आदि देवों की स्तुति को षड्वश्यक की साधना में अनिवार्य नहीं मानता और उसे आगम विरुद्ध कहता है। शायद यही दृष्टि प्राचीनकाल में भी रही होगी और इसीलिए 'देवेन्द्रस्तव' को श्रावक के मुख से ही कहलवाया गया। 'देवेन्द्रस्तव' की यह शैली उसी युग में संभव थी जब अध्यात्म और नैतिकता प्रधान जैन धर्म में लौकिक मान्यताओं का प्रवेश तो हो रहा था, किन्तु उन्हें तीर्थंकर प्रणीत नहीं कहा जा रहा था। इस प्रकार भाषा-शैली की दृष्टि से इसकी विशेषताओं को देखते हुए इसे ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी का ग्रंथ मानने में विद्वानों को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

यदि हम विषय-वस्तु की दृष्टि से 'देवेन्द्रस्तव' का काल निर्धारण करना चाहें तो हमें यह विचार करना होगा कि 'देवेन्द्रस्तव' की विषयवस्तु क्या है, वह किस काल की हो सकती है तथा वह किन-किन आगम ग्रंथों में पायी जाती है ? सर्वप्रथम यह तो स्पष्ट है कि 'देवेन्द्रस्तव' में भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक इन चार प्रकार के देवों, उनके इन्दों, निवास-क्षेत्रों, भवनों, निवास क्षेत्र एवं भवनों के आकार-प्रकारों तथा इन देवों और इन्द्रों की आयु, शक्ति, ज्ञान-सामर्थ्य आदि का विवेचन किया गया है। साथ ही साथ ज्योतिष्क देवों की गति संबंधी चर्चा भी है जो सूर्यप्रज्ञप्ति के अनुरूप ही है। सूर्यप्रज्ञप्ति की ज्योतिष्क संबंधी मान्यताओं के आधार पर विद्वानों ने उसका

काल ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी के आसपास का माना है। चूँकि 'देवेन्द्रस्तव' में भी वे ही मान्यताएँ प्रस्तुत की गई हैं, अतः वह भी उसका समकालीन या कुछ परवर्ती माना जा सकता है। हमें 'देवेन्द्रस्तव' की अधिकांश गाथाएँ अर्थात् तीन सौ में से लगभग आधी गाथाएँ सूर्यप्रज्ञप्ति, स्थानांग, प्रज्ञापना, समवायांग आदि में यथावत् रूप से अथवा किंचित् पाठान्तरों के साथ मिली है, जिसका विस्तृत तुलनात्मक विवरण हमने इसी प्रभावना के अंत में दिया है।

गाथाओं की यह समानता हमारे सामने दो प्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत करती हैं, या तो 'देवेन्द्रस्तव' से ये गाथाएँ इन आगम ग्रंथों में गई हों या फिर आगम ग्रंथों से ये गाथाएँ 'देवेन्द्रस्तव' में ली गई हो। यद्यपि यह एक कठिन और विवादास्पद प्रश्न हो सकता है किन्तु फिर भी हमारी दृष्टि में कुछ तथ्य ऐसे है जिनसे यह फलित होता है कि ये गाथाएँ 'देवेन्द्रस्तव' से ही आगम ग्रंथों में गई है। इस संबंध में हम विद्वानों से गंभीर चिंतन की अपेक्षा करते हैं और यदि वे अन्य कोई प्रमाण प्रस्तुत कर सके तो हमें अन्यथा मानने में भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी। किन्तु हमारा जो यह मानना है कि ये गाथाएँ 'देवेन्द्रस्तव' से इन आगम ग्रंथों में गई हैं, निराधार नहीं है और विद्वानों को अन्यथा निर्णय लेने के पूर्व उन आधारों पर विचार कर लेना चाहिए-

(1) प्रथम तो यह कि सूर्यप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना, स्थानांग, समवायांग ये सभी ग्रंथ गद्यात्मक शैली के हैं और इनमें से अधिकांश में तो ''गाहाओ'' कहकर ही इन गाथाओं को प्रस्तुत किया गया है। सामान्यतया गद्यात्मक ग्रंथ में उस विषय से संबंधित गाथाओं को 'गाहाओ' लिख कर कहीं से अवतरित ही किया जाता रहा है। चूँकि यहाँ भी ये गाथाएँ अवतरित की गई है। अतः इन गाथाओं का रचना-काल इन ग्रंथों से पूर्व ही मानना चाहिए। यदि हम गाथाओं को परवर्ती मानते हैं तो यह मानना होगा कि आगे चलकर ये गाथाएँ उन ग्रंथों में सम्मिलित कर ली गई है।

(2) जिन ग्रंथों में ये गाथाएँ मिली हैं, उनमें से सूर्यप्रज्ञप्ति को छोड़कर स्थानांग, समवायांग, प्रज्ञापना, जीवाभिगम आदि सभी को विद्वानों ने ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी या उसके पश्चातकालीन रचना माना है। स्थानांग और समवायांग तो परवर्ती संकलन ग्रंथ हैं। स्थानांग के वीर निर्वाण के 584 वर्ष पश्चात् हुए निह्नवों का तथा ई.पू. प्रथम शती के गणों का उल्लेख होने से यह ई. सन् प्रथम शती के पूर्व की रचना नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम कल्पसूत्र की

स्थविरावली के अनुसार ऋषिपालित से परवर्ती है अतः संभावना यही है कि 'देवेन्द्रस्तव' से ही ये गाथायें इनमें गई है। हो सकता है कि सूर्यप्रज्ञप्ति में इन्हें बाद में सम्मिलित किया गया हो।

(3) पुनः जहाँ 'देवेन्द्रस्तव' एक सुव्यवस्थित रचना है वहाँ दूसरे आगम ग्रंथों में प्रसंगानुसार ये गाथाएँ समाहित की गई प्रतीत होती हैं। इन गाथाओं की भाषा-शैली से भी ऐसा लगता है कि यह एक ही व्यक्ति और एक ही काल की कृति है, जबकि जिन आगमों में से गाथाएँ उपलब्ध होती हैं, उनमें स्थानांग आदि ऐसे हैं जिनमें भिन्न-भिन्न कालों की विषय वस्तु का संकलन होता रहा है। संभावना यही है कि 'देवेन्द्रस्तव' से, जो किसी समय एक बहुप्रचलित स्वाध्यायग्रंथ रहा होगा, इन परवर्ती आगम ग्रंथों का निर्माण करते समय इसकी गाथाएँ यथाप्रसंग अवतरित कर ली गई होगी। साथ ही यह कम ही विश्वसनीय लगता है कि अनेक ग्रंथों से गाथाओं का संकलन करके यह ग्रंथ बनाया गया होगा। 'देवेन्द्रस्तव' का एक व्यक्तिकृत और एक काल की रचना होना यही सिद्ध करता है कि गाथाएँ इसी से अन्य आगम ग्रंथों में गई हैं। इस भूमिका के अंत में जो हमने तुलनात्मक विवरण दिया है विद्वानों से अपेक्षा है कि वे इसका अध्ययन कर इस सत्य को समझने का प्रयास करेंगे।

ग्रंथकर्ता का काल, ग्रंथ की विषय-वस्तु तथा इस ग्रंथ की गाथाओं का अन्य ग्रंथों में पाया जाना यही सिद्ध करता है कि 'देवेन्द्रस्तव' का रचना काल ईस्वीपूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग ही रहा होगा।

इस कालनिर्णय के प्रसंग में विषय-वस्तु संबंधी विवरण में एक ही आपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है, वह यह कि 'देवेन्द्रस्तव' में सिद्धों के स्वरूप संबंधी जो गाथाएँ हैं उनमें एक गाथा में केवली को दर्शन और ज्ञान क्रमपूर्वक ही होता है, युगपद् नहीं, यह मान्यता सिद्ध की गई है। केवली के दर्शन और ज्ञान के क्रमपूर्वक और युगपद् होने के प्रश्न को लेकर जैन परंपरा में महत्वपूर्ण विवाद रहा है। जहाँ आगमिक परंपरा दर्शन और ज्ञान को क्रमपूर्वक ही मानती है, दिगम्बर परंपरा उन्हें युगपद् मानती है। इस विवाद को समन्वित करने का प्रयत्न आचार्य सिद्धसेन ने सर्वप्रथम अपने ग्रंथ ''सन्मतितर्क'' में किया था। 'देवेन्द्रस्तव' के कर्ता ने बलपूर्वक यह बात कही है कि केवली को दर्शन और ज्ञान क्रमपूर्वक ही होता है। इससे ऐसा लगता है कि उसके सामने अन्य मान्यता भी प्रस्तुत रही होगी। परंतु अगर उसके सामने अन्य मान्यता रही होती,

तो वह पहले उनका उल्लेख करता और फिर अपने मत की पुष्टि करता, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। पुनः यह क्रम-वाद की मान्यता आगमिक एवं प्राचीन है। हो सकता है कि उस काल तक विवाद प्रारंभ हो गया होगा और 'देवेन्द्रस्तव' के कर्ता ने उसी प्रसंग में बलपूर्वक अपने मत को प्रकट किया होगा।

अतः इस आगमिक मान्यता की उपस्थिति से 'देवेन्द्रस्तव' परवर्ती काल का नहीं माना जा सकता है, क्योंकि आगमिक काल में यह अवधारणा तो अस्तित्व में आ ही गई थी। पुनः सिद्धों का विवरण देने वाली सभी गाथाएँ प्रज्ञापना और देविंदत्थओं में नहीं थी। अतः यह बाद में प्रक्षिप्त की गई होगी। पुनः देवताओं के संदर्भ में जो विस्तृत चर्चा इस ग्रंथ में है उनमें से कुछ विवरण संबंधी ऐसी बातें भी हैं जो लगभग इसी काल के हिन्दू व बौद्ध ग्रंथों में भी पाई जाती है, जिन पर इसके विषय-वस्तु की तुलना के प्रसंग में विचार करेंगे।

विषय-वस्तु : 'देवेन्द्रस्तव' में बत्तीस इन्द्रों का क्रमशः विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इसमें किसी संस्करण में 307 व किसी संस्करण में 311 गाथाएँ प्राप्त होती हैं। ग्रंथ का प्रारंभ ऋषभ से लेकर महावीर तक की स्तुति से किया गया है। तत्पश्चात् किसी श्रावक की पत्नी अपने पति से बत्तीस देवेन्द्रों के विषय में प्रश्न पूछती है कि ये बत्तीस देवेन्द्र कौन है ? कहाँ रहते हैं ? उनके भवन कितने हैं ? और उनका स्वरूप क्या है ? (गाथा 1 से 11 तक) प्रत्युत्तर में वह श्रावक भवनपतियों, वाणव्यंतरों ज्योतिष्कों, वैमानिकों एवं अंत में सिद्धों का वर्णन करता है। अब हम क्रमशः इनका विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। सर्वप्रथम 20 भवनपतियों का जो वर्णन किया गया है उसे निम्नांकित सारिणी से समझा जा सकता है। (गाथा 15 से 50)। देखिये - सारणी सं. 1।

वाणव्यंतर : पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गंधर्व ये आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव कहे गये हैं । इनके काल, महाकाल, सुरुप, प्रतिरुप, पूर्णभद्र, माणिभद्र, भीम, महाभीम, किन्नर, किम्पुरुष, सत्पुरुष, महापुरुष, अतिकाय, महाकाय, गीतरति, गीतयश आदि सोलह इन्द्र कहे गये है। ये देव ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक किसी भी लोक में उत्पन्न हो सकते हैं। इनकी कम से कम आयु दस हजार वर्ष और अधिकतम आयु एक पल्योपम कही गई है। (गाथा 67 से 80)

ज्योतिषिक : चन्द्र, सूर्य, तारागण, नक्षत्र और ग्रह ये पाँच ज्योतिषिक देव कहे गये हैं। यहीं पर चन्द्र, सूर्य का विस्तार, इनकी संख्या, उनके विमान और आयाम-विष्कम्भ का वर्णन किया गया है। (गाथा 81 से 93)

सारिणी - 1

भवनपति	इन्द्रों के नाम		भवन		सामानिक		निवास स्थान
	दक्षिण दिशा के इन्द्र	उत्तर दिशा के इन्द्र	दक्षिण दिशा के भवन	उत्तर दिशा के भवन	द.दि.	उ.दि.	
असुरकुमार	चमरेन्द्र	असुरदेव	34 लाख	30 लाख	64 हजार	60 हजार	अरुणवरसमुद्र
नागकुमार	धरणेन्द्र	भूतानन्द	44 लाख	40 लाख	64 हजार	60 हजार	अरुणवरसमुद्र
सुपर्णकुमार	वेणुदेव	वेणुदालि	38 लाख	34 लाख	,,	,,	मनुष्योत्तर पर्वत
द्वीपकुमार	पूर्ण	वशिष्ठ	40 लाख	36 लाख	,,	,,	अरुणवर द्वीप
उदधिकुमार	जलकांत	जलप्रभ	40 लाख	36 लाख	,,	,,	अरुणवर समुद्र
दिशाकुमार	अमितगति	अमितवाहन	40 लाख	36 लाख	,,	,,	अरुणवर द्वीप
वायुकुमार	वेलम्बर	प्रभज्जन	50 लाख	46 लाख	,,	,,	मनुष्योत्तर पर्वत
स्तनितकुमार	घोष	महाघोष	40 लाख	36 लाख	,,	,,	अरुणवर द्वीप
विद्युत कुमार	हरिकांत	हरिस्सह	40 लाख	36 लाख	,,	,,	माल्यवत् पर्वत
अग्निकुमार	अग्निशिख	अग्निमानव	40 लाख	36 लाख	,,		अरुणवर द्वीप

चन्द्र और सूर्य के विषय में इसमें विस्तार से चर्चा पाई जाती है। उनको गति के बारे में कहा गया है कि सूर्य चन्द्रमा से, ग्रह सूर्य से, नक्षत्र ग्रहों से और तारे नक्षत्रों से तेज गति करने वाले होते हैं। (गाथा 94 से 96) यहीं पर शतभिएज, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाति और ज्येष्ठा ये छः नक्षत्र कहे गये हैं, जो पन्द्र मुहूर्त संयोग वाले कहे गये हैं। तीन उत्तरा-नक्षत्र और पुर्नवसु, रोहिणी और विशाखा - ये छः नक्षत्र चन्द्रमा के साथ पैतालिस मुहूर्त का संयोग करते हैं। इसी प्रकार अन्य नक्षत्रों के च न्द्र-सूर्य संयोगों का उल्लेख हुआ है (गाथा 97 से 107)।

सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिषिक देवों की संख्या को निम्न सारिणी से आसानी से समझा जा सकता है (गाथा 108 से 129)

	चन्द्र ↓	सूर्य ↓	नक्षत्र ↓	ग्रह ↓	तारा (क्रोडा कोड़ी में) ↓
जम्बूद्वीप	2	2	56	176	133950
लवणसमुद्र	4	4	112	352	267900
धातकीखण्ड	12	12	336	1056	803700
कालोदधि समुद्र	42	42	1176	3696	2812950
पुष्कर द्वीप	144	144	4022	12672	9644400
अर्द्धपुष्कर द्वीप	72	72	2016	6336	482200
मनुष्यलोक	132	112	3696	11616	8840700

इसके बाद ज्योतिषिकों के पिटक, पंक्तियाँ, मंडल, उनका ताप क्षेत्र, उनकी गति आदि का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् बताया गया है कि चंद्रमा की हानि और वृद्धि किस प्रकार होती है, यहाँ कहा गया है कि शुक्ल पक्ष के पंद्रह दिनों में चंद्रमा का बांसठवां-बांसठवां भाग राहु से अनावृत्त होकर घटता प्रतिदिन बढ़ता है और कृष्णपक्ष के उतने ही समय में राहु से अनावृत्त होकर घटता जाता है, इस प्रकार चंद्रमा वृद्धि को प्राप्त होता है और इसी प्रकार चंद्रमा का ह्रास होता है।

वैमानिक देव- इसके बाद वैमानिक देवों के बारह भेदों ग्रेवेयक देवों के 9 भेदों और अनुत्तर वैमानिक देवों के पाँच भेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है। विशेष रूप से इनके विमान, स्थिति, लेश्या, ऊँचाई, गंध, कामकीड़ा, अवधिज्ञान सीमा, आहार ग्रहण करने की इच्छा, उनके प्रसाद, प्रसादों का वर्ण आदि विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिसे निम्न सारणियों द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। (गाथा 162 से 276)-

इन्द्रों के नाम	विमानों का आधार	पृथ्वी की मोटाई (योजनमें)	विमान संख्या	प्रत्येक विमान में प्रसादों की संख्या
सौधर्म	घनोदधि	2700	32 लाख	500
ईशान	घनोदधि	2700	28 लाख	500
सनत्कुमार	घनवात	2600	12 लाख	600
माहेन्द्र	घनवात	2600	8 लाख	600
ब्रह्म	घनवात	2500	4 लाख	700
लान्तक	अवकाशान्तर	2500	50 हजार	700
महाशुक्र	अवकाशान्तर	2400	40 हजार	800
सहस्त्रार	,,	2400	6 हजार	800
आनत	,,	2300	200	900
प्राणत	,,	2300	200	900
आरण	,,	2300	150	900
अच्युत	,,	2300	150	900
ग्रैवेयक	,,	2200	307	1000
अनुत्तरदेव	,,	2100	5	1100

सारिणी - 3

इन्द्रों के नाम	प्रसादों का वर्ण	आयु (स्थिति) (सागरोपम)	ऊँचाई (रत्नि में)	लेश्या (मनोवृत्ति)	अवधि ज्ञान की सीमा	आहार ग्रहण करने की इच्छा (हजार वर्षों में)	काम-क्रीड़ा का माध्यम
सौधर्म	काला, नीला, लाल, पीला, श्वेता	2	7	तेजस्	पहली नरक	2	शरीर के द्वारा
ईशान	काला, नीला, लाल, पीला, श्वेत	2 से कुछ अधिक	7	तेजस्	पहली नरक	2 से कुछ अधिक	”
सनत्कुमार	नीला, लाल, पीला श्वेत	7	6	पद्म	दूसरी नरक	7	स्पर्श के द्वारा
माहेन्द्र	”	7 से कुछ अधिक	”	”	”	7 से कुछ अधिक	”
ब्रह्म	लाल, पीला, श्वेत	10	5	शुक्ल	तीसरी नरक	10	रूप के द्वारा
लान्तक	लाल, पीला, श्वेत	14	5	”	”	14	”
महाशुक्र	पीला, श्वेत	17	4	”	चौथी नरक	17	स्वर के द्वारा
सहस्रार	पीला, श्वेत	18	4	”	”	18	”
आनत	श्वेत	19	3	”	पांचवीं नरक	19	मन के द्वारा
प्राणत	”	20	3	”	”	20	”
आरण	”	21	2	”	छठी नरक	21	”
अच्युत	”	21	2	”	”	22	”
ग्रैवेयक	”	-	2	”	सातवीं नरक	-	काम क्रीड़ा का अभाव
अनुत्तरदेव	”	33	1	”	संपूर्ण लोक नाड़ी	33	काम-क्रीड़ा का अभाव

सिद्धशि़ला- अंत में सिद्धशिला पृथ्वी का वर्णन किया गया है जो सर्वार्थसिद्ध विमान के सबसे ऊँचे स्तूप के अंत से 12 योजन ऊपर है। वह 45 लाख योजन लम्बी चौड़ी है और परिधि में यह 14230249 योजन से कुछ अधिक है।

इस पर सिद्धों का निवास है। वे सिद्ध वेदनारहित, ममतारहित, आसक्तिरहित, शरीररहित, अनाकार दर्शन और साकार ज्ञान वाले होते हैं। इनकी उत्कृष्ट अवगाहना 333 धनुष और जघन्य अवगाहना एक रत्नि आठ अंगुल कुछ अधिक है (गाथा 277 से 306)।

अंत में अरिहन्तों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए ऋषिपालित कहते हैं कि सभी भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देव अरिहंतों की वंदना व स्तुति करने वाले ही होते हैं।

विषय-वस्तु की तुलना -

'देवेन्द्रस्तव' की यह विषय वस्तु श्वे. आगम साहित्य एवं दिगम्बर तिलोयपण्णत्ति और अन्य प्रकीर्णकों में कहाँ उपलब्ध है इसका तुलनात्मक विवरण निम्नानुसार है -

देवेन्द्रस्तव

दो भवणवईइंदा चमरे 1 वइरोयणे 2 य अनुसराणं 1।
दो नागकुमारिंदा धरणे 3 तह भूयणंदे 4 ॥15॥

दो सुयणु ! सुवण्णिदा वेणूदेवे 5 य वेणुदाली 6 य 3।
दो दीवकुमारिंदा पुण्णे 7 य तहा वसिट्ठे 8 ॥16॥

दो उदहिकुमारिंदा जलकंते जलपभे 10 नामेणं।
अमियगइ 9 अमियवाहण दिसाकुमाराण दोइंदा 6 ॥17॥

दो वाउकुमारिंदा वेलंब 11 पभंजणे 12 य नामेणं 7।
दो यणियकुमारिंदा घोसे 13 य तहा महाघोसे 14 ।8॥

दो विज्जुकुमारिंदा हरिकंत 15 हरिस्सहे 16 य नामेणं 9।
अग्गिसिह 17 अग्गिमाणव 18 हुयासणवई वि दो इंदा 10 ॥19॥

चमर-वइरोयणाणं असुरिंदाणं महाणुभागाणं।
तेसिं भवणवराणं चउसट्ठिमहे सयसहस्सा ॥21॥

नागकुमारिंदाणं भूयाणंद-धरणाण दोण्हं पि।
तेसिं भवणवराणं चुलसीइमहे सयसहस्सा ॥22॥

दो सुयणु ! सुवण्णिंदा वेणूदेवे य वेणुदाली य।
तेसिं भवणवराणं बावत्तरि मो सयसहस्सा ॥23॥

तुलना - स्थानांग सूत्र

दो असुरकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा-चमरे चेव, बले चेव ॥
दो णागकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा-धरणे चैव, भूयाणंदे चेव॥

दो सुवण्णकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा - वेणुदेवे चेव, वेणुदाली चेव।
दो विज्जुकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा-हरिच्चेव, हरिस्सहे चेव॥

दो उदहिकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा-जलकंते चेव, जलप्पभे चेव॥
दो दिसाकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा-अमियगती चेव, अमितवाहणे चेव॥

दो वायुकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा-वेलंबे चेव, पभंजणे चेव॥
दो थणियकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा-घोसे चेव, महाघोसे चेव॥[1]

दो अग्गिकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा - अग्गिसिहे चेव, अग्गिमाणवे चेव॥
दो दीवकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा-पुण्णे चेव, विसिट्ठे चेव॥

तुलना - समवायांग सूत्र :[2]

चउसट्ठिं असुरकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता।
चमरस्स णं रत्नो चउसट्ठिं सामाणियसाहस्सीयो पण्णत्ताओ॥

चोरासीइं नागकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता।
चोरासीइं पन्नगसहस्साइं पण्णत्ता।

चोरासीइं जोणिप्पमुहसयहस्सा पण्णत्ता।[3]
बावत्तरिं सुवन्नकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता।

.....

1. (क) स्थानांगसूत्र-मुनि मधुकर, पृ. 78-79 सूत्र 353 से 362 तक
   (ख) तिलोय पण्णत्ति - महा. 3, गाथा 14-16
2. (क) समवायांगणूत्र - मुनि मधुकर, पृ. 124, सूत्र 325,
   (ख) तिलोयपण्णत्ति - महा. 3 गाथा 9-11
3. वही, पृ. 143, सूत्र - 396

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

वाउकुमारिंदाणं वेलंब - पभंजणाण दोण्हं पि। ⟶
तेसिं भवणवराणं छन्नवइमहे सयसहस्सा ॥24॥

चोवट्ठी असुराणं, चुलसीई चेव होइ नागाणं। ⟶
बावत्तरी सुवण्णाण, वाउकुमराण छन्नउई ॥25॥

दीव-दिसा-उदहीणं विज्जुकुमारिंद - थणिय - मग्गीणं। ⟶
छण्हं पि जुवलयाणं छावत्तरि मो सयसहस्सा ॥26॥

चउतीसा चोयाला अट्ठत्तीसं च सयसहस्साइं। ⟶
चत्ता पन्नासा खलु नाहिणओ हुँति भवणाइं ॥41॥

तीसा चत्तालीसा चउतीसं चेव सयसहस्साइं
छत्तीसा छायाला उत्तरओ हुँति भवणाइं ॥42॥

पिसाया 1 भूया 2 जक्खा 3 रक्खसा 4 किन्नरा 5 किंपुरिसा 6।
महोरगा 7 य गंधव्वा 8 अट्ठविहा वाणमंतरिया ॥67॥

काले 1 य महाकाले 2। 1 सुरूव 3 पडिरूव 4। 2 पुन्नभद्दे 5 य।
अमरवइ माणिभद्दे 6। 3 भीमे 7 य तहा महाभीमे 7। 4 ॥69॥

लवणस्स समुद्दस्स बावत्तरिं नागसाहस्सीओ बहिरियं वेलं धारंति ॥[1]
वायुकुमाराणं छण्णउइं भवणावाससयसहस्सा पण्णत्ता ॥[2]

तुलना - प्रज्ञापना :

चोवट्ठिं असुराणं 1 चुलसीती चेव होंति णागाणं 2।
बावत्तरिं सुवण्णे 3 वाउकुमाराण छण्णउई 4 ॥

दीव-दिसा-उदहीणं विज्जुकुमारिंद - थणिय - मग्गीणं।
छण्हं पि जुअलयाणं छावत्तरिमो सतसहस्सा 10 ॥[3]

चीत्तीसा 1 चत्तालीसा 2 चोत्तीसं चेव सयसहस्साइं 3॥
छायाला 4 छत्तीसा 5-10 उत्तरओ होंति भवणाइं ॥[4]

पिसाया 1 भूया 2 जक्खा 3 रक्खसा 4 किन्नरा 5 किंपुरिसा 6।
भुयगवइणो य महाकाया 7 गंधव्वगणा य निउणगंधव्वगीत रइणो ॥8॥

काले य महाकाले 1 सुरुव पडिरूव 2 पुणभद्दे य।
अमरवइ माणिभद्दे 3 भीमे य तहा महाभीमे 4 ॥

.....

1. प्रज्ञापना, पृ. 930, सूत्र - 353.
2. वही, पृ. 155, सूत्र - 433.
3. प्रज्ञापनासूत्र - मधुरमुनि, द्वितीय स्थान पद पृ. 160, सूत्र 178 गाथा 138-139.
4. वही पृ. 160, सूत्र - 187, गाथा - 140 - 141

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

किन्नर 9 किंपुरिसे 10 खलु सप्पुरिसे 11 चेव तह
महापुरिसे 12।3
अइकाय 13 महाकाए 14।7 गीयरई 15 चेव गीयजसे
16।8 ॥70॥

सन्निहिए 1 सामाणे 2।1 धाय 3 विधाए 4।2 इसी
5 य इसिवाले 6।3।
इस्सर 7 महिस्सरे या 8।4 हवइ सुवच्छे 9
विसाले य 10।5 ॥71॥

हासे 11 हासरई वि य 12।6 सेए य 13 तहा भवे
महासेए 14।7।
पयए 15 पययवई वि य 16।7 नेयव्वा आणुपुव्वीए ॥72॥

चंदा 1 सूरा 2 तारागणा 3 य नक्खत्त 4 गहगण-
समग्गा 5।
पंचविहा जोइसिया, ठिई वियारी यते भणिया॥81॥

अद्धकविट्ठगसंठाणसंठिया फालियामया रम्भा
जोइसियाण विमाणा तिरियंलोए असंखेज्जा॥82॥

छप्पनं खलु भागा विच्छिन्नं चंदमंडल होइ।
अडवीसं च कलाओ बाहल्लं तस्स बोद्धव्वं॥87॥

(प्रज्ञापना तुलना)

किण्णर किंपुरिसे खलू 5 सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे 6।
अइकाय महाकाए 7 गीयरई चेव गीतजसे 8।

सण्णिहिया सामाणा 1 धाय विधाए 2 इसी य इसिपाले 3।
ईसर महेसरे या 4 हवइ सुवच्छे विसाले य 5॥

हासे हासरई वि य 6 सेते य तहा भवे महासेते 7।
पयते पययपई वि य 8 नेयव्वा आणुपुव्वीए॥[1]

जोइसिया पंचविहा पन्नत्ता। तंजहा चंदा 1 सूरा 2।
गहा 3 नक्खत्ता 4 तारा 5॥[2]

अद्धकविट्ठगसंठाणसंठिता सव्वफलियामया।
जोइसियाणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा जोइसियविमाणावाससतसहस्सा[3]

तुलना - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति :

छप्पण्णं खलु - भाए - विच्छिण्णं चंदमंडलं होइ।
अट्ठावीसं भाए बाइल्लं तस्स बोद्धव्वं॥

.....

1. (क) प्रज्ञापनासूत्र - मुनि मधुकर, पृ. 165, 168, 169.
   (ख) तिलोयपण्णत्ति - महा. 3 गाथा 25, 34-49
2. (क) प्रज्ञापनासूत्र - मुनि मधुकर, पृ. 112, सूत्र - 142 (1)
   (ख) तिलोयपण्णत्ति महा. 7, गाथा 7
3. वही, पृ. 170, सूत्र - 195 (1)

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

अडयालीसं भागा विच्छिन्नं सूरमंडलं होइ।
चउवीसं च कलाओ बाहल्लं तस्स बोद्धव्वं ॥88॥

अद्धजोयणिया उ गहा, तस्सऽद्धं चेव होइ नक्खत्ता।
नक्खत्तद्धे तारा, तस्सऽद्धं चेव बाहल्लं ॥89॥

चंदेहि उ सिग्घयरा सूरा, सूरेहिं तह गहा सिग्घा।
नक्खत्ता उ गहेहि य, नक्खत्तेहि तु ताराओ ॥94॥

सव्वऽप्पगई चंदा, तारा पुण होंति सव्वसिग्घगई।
एसो गईविसेसो जोइसियाणं तु देवाणं ॥95॥

अप्पिड्ढिया उ तारा, नक्खत्ता खलु तओ महिड्ढियए।
नक्खत्तेहिं तु गहा, गहेहिं सूरा, तओ चंदा ॥96॥

पंचेव धणुसयाइं जहन्नयं अंतरं तु ताराणं।
दो चेव गाउयाइं निव्वाघाएण उक्कोसं ॥99॥

दोन्नि सए छावट्ठे जहन्नयं अंतरं तु ताराणं।
बारस चेव सहस्सा दो बायाला य उक्कोसा ॥100॥

तुलना - जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

अडयालीसं भाए, वित्थिण्ण सूरमंडलं होइ।
चउवीसं खलु भाए, बाहल्लं तस्स बोद्धव्वं॥

दो कोसे अगहाणं, णक्खताण तहवइ तस्सद्ध।
तस्सद्ध ताराणं तस्सद्धं चेव बाहल्ले॥[1]

तुलना - सूर्यप्रज्ञप्ति :

चंदोहिंतो सिग्घगइ सूरे सूरेहिंतो गहा सिग्घगई।
गहेहिंतो णक्खत्ता सिग्घगई, णक्खत्तेहिंतो तारा सिग्घगइ,

सव्वप्पगइ चंदा सव्वसिंग्घगइ तारा।
महड्ढिया वा ताराहिंतो महिड्ढिया णक्खत्तेहिंतो गहा

महिड्ढिया गहेहिंतो सूरा महिड्ढिया सूरेहिंतों चंदा महिड्ढिया
सव्वप्पड्ढिया तारा सव्वमहिड्ढिया चंदा॥[2]

तुलना - जीवाभिगमसूत्र :

से जहन्नेणं पंचधणुसयाइं उक्कोसेणं दो गाउवाइ तारारूव जाव
अंतरे पन्नत्ते।

जहन्नेणं दोण्णि य छावट्ठे जोयणसए उक्कोसेणं बारस जोयणसहस्साइं दोण्णि य बायाले
जोयणसए तारारूवस्सरय अबाहाए अंतरे पन्नते[3]

.....

1. जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति, सातवाँ - वक्षकार, सूत्र 165
   (गणितानुयोग - मुनि कन्हैयालाल 'कमल', पृ. 447 से उद्धृत)
2. सूर्यप्रज्ञप्ति - घासीलालजी मुनि, प्राभृत - 18 सूत्र 95.
3. जीवाभिगम सूत्र - मुनि घासीलालजी, पृ. 995, सूत्र 116.

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

एयस्स चंदजोगो सत्तट्ठिं खंडिओ अहोरत्तो।
ते हुंति नव मुहुत्ता सत्तावीसं कलाओ य॥101॥

सयभिसया भरणीओ अद्दा अस्सेस साइ जेट्ठा य।
एए छ न्नक्खत्ता पन्नरसमुहुत्तसंजोगा॥102॥

तिन्नेव उत्तराइ पुणव्वसू रोहिणी विसाहा य।
ए ए छ न्नक्खत्ता पणयालमुहुत्तसंजोगा॥103॥

अवसेसा नक्खत्ता पनरस या होंति तीसइमुहुत्ता।
चंदम्मि एस जोगो नक्खत्ताणं मुणेयव्वो॥104॥

अभिई छच्च मुहुत्ते चत्तारी य केवले अहोरत्ते।
सूरेण समं वच्चइ एत्तो सेसाण वुच्छामि॥105॥

सयभिसया भरणीओ अद्दा अस्सेस साइ जेट्ठा य।
वच्चंति छऽहोरत्ते एक्कावीसं मुहुत्ते य॥106॥

तिन्नेव उत्तराइं पुणव्वसू रोहिणी विसाहा य।
वच्चंति मुहुत्ते तिन्नि चेव वीसं अहोरत्ते॥107॥

अवसेसा नक्खत्ता पण्णरस वि सूरसहगया जंति।
बारस चेव मुहुत्ते तेरस य समे अहोरत्ते॥108॥

तुलना -
सूर्यप्रज्ञप्ति :

णव मुहुत्ते सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोएइ

पण्णरस मुहुत्ताइं तीसमुहुत्ताइ पणयालीस मुहुत्ताइ' मणितव्वाइ जाव उत्तरासाढ़ा।

एवं अहोरत्ता छ एक्कवीसं मुहुत्ता य तेरस अहोरत्ता बारस मुहुत्ता य वीसं अहोरत्ता तिण्णि मुहुत्ता य सव्वे भणियव्वा।[1]

.....

1. (क) सूर्यप्रज्ञप्ति - मुनि घासीलालजी, भाग 2, सूच - 84.
   (ख) ज्योइसकरण्डग पइण्णय - गाथा 127-137

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

दो चंदा, दो सूरा, नक्खत्ता खलु हवंति छप्पन्ना।
छावत्तरं गहसयं जंबुद्दीवे वियारी णं॥109॥

एक्कं च सयसहस्सं तित्तीसं खलु भवे सहस्साइं।
नव य सया पण्णासा तारागणकोडिकोडीणं॥110॥

चत्तारि चेव चंदा, चत्तारि य सूरिया लवणतोए।
बारं नक्खत्तसयं, गहाण तिन्नेव बावन्ना॥111॥

दो चेव सयसहस्सा सत्तट्ठि खलु भवे सहस्सा उ।
नव य सया लवणेजले तारागणकोडिकोडीणं॥112॥

चउवीसं ससि-रविणो, नक्खत्त सया य तिण्णि छत्तीसा।
एक्कं च गहसहस्सं छप्पनं धायईसंडे॥113॥

अट्ठेव सयसहस्सा तिण्णि सहस्सा य सत्त य सयाइं।
धायइसंडे दीवे तारागणकोडिकोडीणं॥114॥

बायालीसं चंदा बायालीसं च दिणयरा दित्ता।
कालोदहिम्मि एए चरंति संबद्धलेसाया॥115॥

नक्खत्तसहस्सं एगमेव छावत्तरं च सयमन्नं।
छच्च सया छन्नउया महग्गहा तिन्नि य सहस्सा॥116॥

अट्ठावीसं कालोदहिम्मि बारस य सहस्साइं।
नव य सया पन्नासा तारागणकोडिकोडीणं॥117॥

तुलना - सूर्यप्रज्ञप्ति :

दो चंदा दो सूरा णक्खत्ता खलु हवंति छप्पण्णा।
बावत्तरं गहसयं जंबुद्दीवे विचरीणं॥

एगं च सयसहस्सं तित्तीसं च खलु भवे सहस्साइं।
णव य सया पण्णासा तारागण कोडिकोडीणं॥

चत्तारि चेव चंदा चत्तारि य सूरिया लवणतोये।
बारस णक्खत्तसयं गहाण तिण्णेव बावण्णा॥

दोच्चेव सयसहस्सा सत्तट्ठिं खलु भवे सहस्साइं।
णव य सया लवणजले तारागण कोडिकोडीणं॥

चउवीसं ससिरविणो णक्खत्तसया त तिण्णि छत्तीसा।
एगं च गहसहस्सं छप्पण्णं धातई संडे॥

अट्ठेव सयसहस्सा तिण्णि सहस्साइं सत्त य सयाइं।
धातई दीवे तारागण कोडिकोडीणं॥

बयालीसं चंदा बयालीसं च दिणयरा दित्ता।
कोलिदधिंमि एए चरंति, संबद्धलेस्सागा॥

णक्खत्तसहस्सं एगमेव छावत्तरं च सयमण्णं।
छच्च सयाछण्णउया महग्गहा तिण्णि य सहस्सा॥

अट्ठावीसं कालोदहिंमि बारसयसहस्साइं।
णव य सया पण्णासा तारागण कोडिकोडीणं॥

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

चोयाल चंदसयं, चायालं चेव सूरियाण सयं।
पोक्खरवरम्मि एए चरंति संबद्धलेसाया॥118॥

चत्तारिं च सहस्सा बत्तीसं चेव होंति नक्खत्ता।
छच्च सया बावत्तर महग्गहा बारस सहस्सा॥119॥

छन्नउइ सयसहस्सा चोयालीसं भवे सहस्साइं।
चत्तारि तह सयाइं तारागणकोडिकोडीणं॥120॥

बावत्तरिं च चंदा, बावत्तरिमेव दिणयरा दित्ता।
पुक्खरवरदीवड्ढे चरंति एए पगासिंता॥121॥

तिण्णि सया छत्तीसा छच्च सहस्सा महग्गहाणं तु।
नक्खत्ताणं तु भवे सोलाणि दुवे सहस्साणि॥122॥

अडयालसयसहस्सा बावीसं खलु भवे सहस्साइं।
दो य सय पुक्खरद्धे तारागणकोडिकोडीणं॥122॥

बत्तीसं चंदसयं 132, बत्तीसं चेवं सूरियाण सयं॥123॥
सयलं मणुस्सलोयं चरंति एए पयासिंता॥124॥

एक्कारस य सहस्सा छप्पि य सोला महग्गहसया उ 11616॥
छच्च सया छन्नउआ नक्खत्ता तिण्णियसहस्सा 3696॥125॥

अट्ठासीइं चत्ताइं सयसहस्साइं मणुलोगम्मि।
सत्त य सया अणूणा तारागणकोडिकोडीणं॥126॥

एसो तारापिंडो सव्वसमासेण मणुयलोगम्मि।
बहिया पुण ताराओ जिणेहिं भणिया असंखेज्जा॥127॥

तुलना - सूर्यप्रज्ञप्ति :

चोत्तालं चंदसयं चोत्तालं चेव सूरियाणसयं।
पोक्खरवरदीवम्मि च चरंति एए पभासंता॥

चत्तारि सहस्साइं छत्तीसं चेव हुंति णक्खत्ता।
छच्च सया बावत्तर महग्गहा बारससहस्सा[1]

छण्णउति सयसहस्सा चोत्तालीसं खलु भवे सहस्साइं।
चत्तारि य सया खलु तरागणकोडिकोडीणं॥

बावत्तरिं च चंदा बावत्तरिमेव दिणकरा दित्ता।
पुक्खरवरदीवड्ढे चरंति एए पभासेंता॥

तिण्णि सया छत्तीसा, छच्च सहस्सा महग्गहाणं तु।
णक्खत्ताणं तु भवे, सोलाइं दुबे सहस्साइं।

अडयालसयसहस्सा बावीसं खलु भवे सहस्साइं।
दोउ सूरे पुक्खरद्धे तारागण कोडिकोडीणं॥

बत्तीसं चंदसयं बत्तीसं चेव सूरियाण सयं।
सयलं मणुसलोयं चरंति एए पमासता॥

एक्कारस सयसहस्सा छप्पिय सोला महग्गहाणं तु।
छच्च समा छण्णउया णक्खत्ता तिण्णि य सहस्सा॥

अट्ठासीई चत्ताइं सयसहस्साइं मणुयलोगंमि।
सत्तयसया अणूणा तारागण कोडिकोडीणं॥

एसो तारापिंडो सव्व समासेण मणुयलोयंमि।
बहित्ता पुण ताराओ जिणेहिं भणिया असंखेज्जाओ॥

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

एवइयं तारग्गं जं भणियं तह य मणुयलोगम्मि।
चारं कलंबुयापुप्फसंठियं जोइसं चरइ॥128॥

रवि-ससि-गह-नक्खत्ता एवइया आहिया मणुयलोए।
जेसिं नामा-गोयं न पागया पन्नवेइंति॥129॥

छावट्ठिं पिडयाइं चंदाऽऽइच्चाण मणुयलोगम्मि।
दो चंदा दो सूरा य होंति एक्केक्कए पिडए॥130॥

छावट्ठिं पिडयाइं नक्खत्ताणं तु मणुयलोगम्मि।
छप्पन्नं नक्खत्ता य होंति एक्केक्कए पिडए॥131॥

छावट्ठी पिडयाइं महग्गहाणं तु मणुयलोगम्मि।
छावत्तरं गहसयं च होइ एक्केक्कए पिडए॥132॥

चत्तारि य पंतीओ चंदाऽऽइच्चाण मणुयलोगम्मि।
छावट्ठिं छावट्ठिं च होई इक्किक्किया पंती॥133॥

छप्पन्नं पंतीओ नक्खत्ताणं तु मणुयलोगम्मि।
छावट्ठिं छावट्ठिं च होइ इक्किक्किया पंती॥134॥

छावत्तरं गहाणं पंतिसयं होइ मणुयलोगम्मि।
छावट्ठि छावट्ठि च होइ इक्किक्किया पंती॥135॥

ते मेरुमणुचरंती पयाहिणावत्तमंडला सव्वे।
अणवट्ठि जोएहिं चंद-सूरा गहगणा य॥136॥

नक्खत्त-तारयाणं अवट्ठिया मंडला मुणेयव्वा।
ते वि य पयाहिणावत्तमेव मेरु अणुचरंति॥137॥

तुलना - सूर्यप्रज्ञप्ति :

एवइयं तारग्गं जं भाणियं माणुसंमि लोगंमि।
चारं कलंबुयापुष्फ संठितं जोतिसं चरइ।

रविससिगहणक्खत्ता एवइया आहिया मणुयलोए।
जेसिं णामागोत्तं ण पागया पण्णवेहिंति॥

छावट्ठिं पिडगाइं चंदादिच्चाण मणुयलोयंमि।
दो चंदा दो सूरा य हुंति एक्केक्कए पिडए॥

छावट्ठिं पिडगाइं णक्खत्ताणं तु मणुयलोयंमि।
छप्पण्णं णक्खत्ता हुंति एक्केक्कए पिडए॥

छावट्ठिं पिडगाइं महागहाणं तु मणुयलोयंमि।
छावत्तरं गहसयं होइ एक्केक्कए पिडए॥

चत्तारि य पंतीओ चंदाइच्चाण मणुयलोयम्मि।
छावट्ठि छावट्ठि च होइ एक्किक्किया पंती॥

छप्पण्णं पंतिओ णक्खत्ताणं तु मणुयलोपंमि।
छावट्ठि छावट्ठि हवंति एक्केक्किया पंती॥

छावत्तरं गहाणं पंतिसयं हवइ मणुयलोयंमि।
छावट्ठिं छावट्ठिं हवइ य एक्केक्किया पंती॥

ते मेरुयणुचरंता, पदाहिणावत्तमंडला सव्वे।
अणवट्ठियजोगेहि चंद सूरा गहगणा य॥

णक्खत्त तारगाणं अवट्ठिया मंडलामुणेयव्वा।
तेऽविय पयाहिणावत्तमेव मेरुं अणुचरंति॥

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

रयणियर - दिणयराणं उड्ढमहे एव संकमो नत्थि।
मंडलसंकमणं पुण अब्भिंतर बाहिरं तिरियं ॥138॥

रयणियर-दिणयराणं नक्खत्ताणं च महगहाणं च।
चारविसेसेण भवे सुह-दुक्खविही मणुस्साणं ॥139॥

तेसिं पविसंताणं तावक्खेत्तं तु वड्ढए नियमा।
तेणेव कमेण पुणो परिहायइ निक्खमिंताणं ॥140॥

तेसिं कंलबुयापुप्फसंठिया होंति तावखेत्त मुहा।
अंतो य संकुला बाहिं वित्थडा चंद-सूराणं ॥141॥

केणं वड्ढइ चंदो ? परिहाणी वा वि केण चंदस्स ?
कालो वा जोण्हा वा केणऽणुभावेण चंदस्स ? ॥142॥

किण्हं राहु विमाणं निच्चं चंदेण होइ अविरहियं।
चउरंगुलमप्पत्तं हिट्ठा चंदस्स तं चरइ ॥143॥

बावट्ठिं बावट्ठिं दिवसे दिवसे तु सुक्कपक्खस्स।
जं परिवड्ढइ चंदो, खवेइ तं चेव कालेणं ॥144॥

पन्नरसइभागेण य चंदं पन्नरसमेव संकमइ।
पन्नरसइभागेण य पुणो वि तं चेव पक्कमइ ॥145॥

एव वड्ढइ चंदो, परिहाणी एव होइ चंदस्स।
कालो वा जोण्हा वा तेणऽणूभावेण चंदस्स ॥146॥

तुलना - सूर्यप्रज्ञप्ति :

रयणियरदिणयराणं उद्धं च अहेव संकमो नत्थि।
मंडलसंकमणं पुण सब्भंतर बाहिरंतिरिए॥

रयणियरदिणयराणं, णक्खत्ताणं महग्गहाणं च।
चारविसेसेण भवे सुहदुक्खविही मणुस्साणं॥

तेसिं पविसंताणं तावक्खेत्तं तु वड्ढए णिययं।
तेणेव कमेण पुणो परिरहायति णिक्खमंताणं॥

तेसिं कलंबुया पुप्फसंठिया हुंति तापक्खेत्तपहा।
अंतो य संकुडा बाहिं वित्थडा चंदसूराणं॥[1]

केणं वड्ढह चंदो, परिहाणी केण हुंति चंदस्स।
कालो वा जोण्हो वा, केणाणुभावेण चंदस्स॥

किण्हं राहु विमाणं णिच्चं चंदेण होइ अविरहितं।
चतुरंगुलमसंपत्तं हिच्चा चंदस्स तं चरइ॥

बावट्ठिं बावट्ठिं दिवसे दिवसे तु सुक्कपक्खस्स।
जं परिवड्ढइ चंदी खवेइ तं चेव कालेणं॥

पण्णरस भागेण य चंदं पण्णरसमेव तं वरइ।
पण्णरसइ भागेण य पुण्णो विं तं चेव पक्कमइ।

एवं वड्ढइ चंदो परिहाणी एव होइ चंदस्स।
कालो वा, जुण्हो वा, एवाऽणुभावेण होई चंदस्स॥[2]

.....

1. सूर्यप्रज्ञप्तिसूत्र - मुनि घासीलालजी, भाग 2, पृ. 943-959.
2. सूर्यप्रज्ञप्तिसूत्र - मुनि घासीलालजी, भाग 2 पृ. 963-967.

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

अंतो मणुस्सखेत्ते हवंति चारोवगा य उववण्णा।
पंचविहा जोइसिया चंदा सूरा गहगणा य ॥147॥

तेण परं जे सेसा चंदाऽऽइच्च-गह-तार-नक्खत्त।
नत्थि गई, न वि चारो, अवट्ठिया ते मुणेयव्वा ॥148॥

एए जंबुद्दीवे दुगुणा, लवणे चउग्गुणा होंति।
कालोयणा (? लावणगा य) तिगुणिया ससि-
सूरा धायईसंडे॥149॥

दो चंदा इह दीवे, चत्तारि य सागरे लवणतोए।
धायइसंडे दीवे बारस चंदा य सूरा य ॥150॥

धायइसंडप्पभिई उद्दिट्ठा तिगुणिया भवे चंदा।
आइल्लचंदसहिया अणंतराणंतरे खेत्ते ॥151॥

रिक्ख - गह - तारग्गं दीव - समुद्दे जइच्छसे नाउं।
तस्स ससीहिउ गुणियं रिक्ख - गह-तारयग्गं तु॥152॥

बहिया उ माणुसनगस्स चंद-सूराणऽवट्ठिया जोगा॥
चंदा अभिईजुत्ता, सूरा पुण होंति पुस्सेहिं ॥153॥

चंदाओ सूरस्स य सूरा चंदस्स अंतरं होइ।
पण्णास सहस्साइं (तु) जोयणाणं अणूणाइं॥154॥

सूरस्स य सूरस्स य ससिणो ससिणो य अंतरं होइ।
बहिया उ माणुसनगस्स जोयणाणं सयसहस्सं ॥155॥

तुलना - जीवाभिगम सूत्र।

अंतो मणुस्सखेत्ते हवंति चारोवगा य उववण्णा।
पंचविहा जोइसिया चंदा सूरा गहा गणा य॥

तेण परं जे सेसा चंदाइच्चा गहतार नक्खत्ता।
नत्थि नई न वि चारो अवट्ठि ते मुणेयव्वा॥

दो दो जम्बूदीवे ससिपूरा दुगुणिया भवे लवणे।
लावणिगाय तिगुणिया ससिसूरा धायइसंडे॥

दो चंदा इह दीवे चत्तारि य सागरे लवणतोए।
धायइसंडे दीवे बारस चंदा य सूरा य॥

धायइसंडप्पभिई उद्दिट्ठ तिगुणिया भवे चंदा।
आइल्लचंदसहिया अणंतराणंतरे खेत्ते॥

रिक्खग्गहतारग्गं दीव समुद्दे जहिच्छसे नाउं।
तस्स ससीहि गुणियं रिक्खग्गह तारगाणं तु॥

बहियाओ माणुसनगस्स चंदसूराणं अवट्ठिया जोगा।
चंदा अभीइजुत्ता सूरा पुण होंति पुस्सेहिं॥

चंदातो सूरस्स य सूरा चंदस्स अंतरं होइ।
पन्नास सहस्साइं तु जोयणाणं अणणाइं॥

सूरस्स य सूरस्स य ससिणो य अंतरं होइ।
जोयणाणं सयसहस्सं वहियाओ मणुस्स - नगस्स॥

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

सूरतरिया चंदा, चंदंतरिया य दिणयरा दित्ता।
चित्तंतरलेसागा सुहलेसा मंदलेसा य॥156॥

अट्ठासीइं च गहा, अट्ठावीसं च होंति नक्खत्ता।
एगससीपरिवारो, एत्तो ताराण वोच्छामि॥157॥

छावट्ठिसहस्साइं नव चेव सयाइं पंचसयराइं
एगससीपरिवारो तारागणकोडिकोडीणं॥158॥

भवणभइ-वाणमंतर-जोइसवासीठिई मए कहिया।
कप्पवई वि य वोच्छं बारस इंदे महिड्ढीए॥162॥

पढमो सोहम्मवई 1 ईसाणवई उ भन्नए बीओ 2।
तत्तो सणंकुमारो हवइ 3 चउत्थो उ माहिंदो 4॥163॥
पंचमओ पुण बंभो 5 छट्ठो पुण लंतओऽत्थ देविंदो 6।
सत्तमओ महसुक्को 7 अट्ठमओ भवे सहस्सारो 8॥164॥
नवमो य आणइंदो 9 दसमो पुण पाणओऽत्थ देविंदो 10।
आरण एक्कारसमो 11 बारसमो अच्चुओ इंदो 12॥165॥
किण्हा-नीला - काऊ-तेऊलेसा य भवणं - वंतरिया।
जोइस-सोहम्मीसाणे तेउलेसा मुणेयव्वा॥191॥
कप्पे सणंकुमारे माहिंदे चेव बंभलोगे य।
एएसु पम्हलेसा, तेण परं सुक्कलेसा उ॥192॥

कणगत्तयरत्ताभा सुखसभा दोसु होंति कप्पेसु।
तिसु होंति पम्हगोरा, तेण परं सुक्किला देवा॥193॥

तुलना - जीवाभिगम सूत्र।

सूरं तरिया चंदा चंदं तरिया य दिणयरा दित्ता।
चित्तंतर लेसागा सुहलेसा मंदलेस्सा य॥

अट्ठासीइं गहा, अट्ठावीसं च होंति नक्खत्ता।
एगससी परिवारों एत्तो ताराण वोच्छामि॥

छावट्ठि सहस्साइं नव चेव सायइं पंचसयाइं॥
एगससी परिवारो तारागणकोडिकोडीणं॥[1]

तुलना -प्रज्ञापना :

सोहम्मीसाण-सणंकुमार-माहिंद-बंभलोग-लंतग-महासुक्क-सहस्सार- आणय-पाणय-आरण-ऽच्चुय-गेवेज्जगा-ऽणुत्तरोववाइया देवा।

तुलना - सिद्धांन्तसार :

सौधर्मेशानयोः पीतलेश्या देवा भवन्त्यमी।[2]
सनत्कुमारमाहेन्द्रा पीतपद्मादिलेश्यकाः।
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे कल्पे लांतवे च तथा पुनः।
कापिष्ठे सर्वदेवाः स्युः पद्मलेश्याः समन्ततः॥
शुक्रे चापि महाशुक्रे शतारे सर्वसुन्दरे।
सहस्त्रारे च देवानां पद्मशुक्ला हि सा पुनः॥

आनतादच्युतान्तेषु शुक्ललेश्या दिवौकसः।
महाशुक्लैकलेश्याः स्युस्ततो यावदनुत्तरम्॥[3]

.....

1. जीवाभिगमसूत्र - मुनि घासीलालजी, भाग 3, पृ. 755-763.
2. प्रज्ञापना - मुनि मधुकर, पृ. 172.
3. सिद्धान्तसार - हीरालाल जैन, पृ. 198

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

भवणवइ-वाणमंतर-जोइसिया होंति सत्तरयणीया।
कप्पवईण य सुंदरि! सुण उच्चत्तं सुरवराणं॥194॥

सोहम्मे ईसाणे य सुरवरा होंति सत्तरयणीया।
दो दो कप्पा तुल्ला दोसु वि परिहायए रयणी॥195॥

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

भवणवइ-वाणमंतर-जोइसिया हुंति कायपवियारा।
कप्पवईण वि सुंदरि! वोच्छ पवियारणविही उ॥199॥

सोहम्मीसाणेसुं च सुरवरा होंति कायपवियारा।
सणंकुमार-माहिंदेसु फासपवियारया देवा॥200॥

बंभे लंतयकप्पे य सुरवरा होंति रूवपवियारा।
महसुक्क सहस्सारेसु सद्दपवियारया देवा॥201॥

आणय-पाणयकप्पे आरण तह अच्चुएसु कप्पम्मि।
देवा मणपवियारा परओ पवियारणा नत्थि॥202॥

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

आवलियाइ विमाणा वट्टा तंसा तहेव चउरंसा।
पुप्फावकिण्णया पुण अणेगविहरूव-संठाणा॥209॥

तुलना - सिद्धांन्तसार :

ज्योतिष्काणा च सप्तैव धनूंषि कथितं वपुः ॥[1]

सौधर्मेशानयोः सप्तहस्तो देहो निगद्यते।[2]

तुलना - सिद्धांन्तसार :

आ ऐशानान्मता देवाः सङक्लिष्टपरिणामतः।
कायेनैव प्रवीचारं प्रकुर्वाणा मनुष्यवत्॥
सानत्कुमारमाहेन्द्रद्वये देवा भवन्त्यमो।
दिव्यदेवाङ्गनास्पर्शमात्रेणापि सुनिर्वृताः॥
ततः कापिष्टपर्यन्ते देवीविलोकनात्।
परमं सुखमायान्ति बहुपुण्यमनोरमाः॥
आसहस्त्रारमत्यन्तमधुरस्वरमात्ततः।
देवीनां सौख्यमश्नन्ति देवा दिव्याङ्गधारिणः॥
अच्युतान्तेषु सर्वेषु तदूर्ध्वं स्मरणादपि।
देवीणां दिव्यरुपाणां सुखिनः सर्वदेव ते॥[3]

तुलना - जीवाभिगमसूत्र :

आवलिया सुविमाणा वट्टा तंसा तहेव चउरंसां।
पुप्फावकिण्णगापुण अणेगविहरुव संठाणा॥[1]

.....

1. सिद्धान्तसार - हीरालाल जैन पृष्ट 197
2. सिद्धान्तसार - हीरालाल जैन, पृ. 197
3. जीवातिगमसूत्र - मुनि घासीलालजी, पृ. 197

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

सक्कीसाणा पढमं दोच्चं च संणकुमार - माहिंदा।
तच्चं च बंभ-लंतग सुक्क - सहस्सारय चउत्थि ॥234॥

आणय-पाणयकप्पे देवा पासंति पंचमिं पुढविं।
तं चेव आरण-ऽच्चुय ओहिन्नाणेण पासंति ॥235॥

छट्ठिं हिट्ठिम - मज्झिमगेवेज्जा सत्तमिं च उवरिल्ला।
संभिन्नलोगनालिं पासंति अणुत्तरा देवा ॥236॥

सत्तावीसं जोयणसयाइं पुढवीण होइ बाहल्लं।
सोहम्मीसाणेसुं रयणविचित्ता य सा पुढवी ॥241॥

तुलनीय - सिद्धान्तसार :

सौधर्मेशानदेवानामवधिः प्रथमावनिः।
सनत्कुमारमाहेन्द्राः जानत्याशर्कराप्रभम्॥130॥

ब्रह्मब्रह्मोत्तरे कल्पे लान्तवे तस्य चापरे।
दिव्यावधिर्भवव्येषाभातृतीयावधिर्महान्॥131॥

आसहस्त्रारमेतेभ्यो जातयेऽवधिरूत्तमः
चतुर्थ नरकं तावदभिव्याप्नोति निर्मलः॥132॥

आनते प्राणते देवाः पश्यन्त्यवधिनापुरः।
पंचमं नरकं यावद्विशुद्धत्तरभावतः॥133॥

आरणाच्युतदेवानां षष्ठी पर्यंत इष्यते।
ग्रेवेयकेषु सर्वेषु सप्तम्या विधितोऽवधिः॥134॥[1]

समवायांगसूत्र :

सोहम्मीसाणेसुं कप्पेसु विमाणपुढवी सत्ताबीसं
जोयणसयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ता।[2]

.....

1. सिद्धान्तसार - हीरालाल जैन - जीवराज जैन ग्रंथमाला - शोलापुर
2. समवायांग सूत्र - मुनि मधुकर समवाय 27 पृ. 77

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

छव्वीस जोयणसया पुढवीणं ताण होइ बाहल्लं।
सणंकुमा र-माहिंदे रयणविचित्ता य सा पुढवी॥253॥

चउवीस जोयणसयाइ पुढवीणं तासि होइ बाहल्लं।
सुक्के य सहस्सारे रयणविचित्ता य सा पुढवी॥261॥

तेवीस जोयणसयाइं पुढवीणं तासि होइ बाहल्लं।
आणय - पाणयकप्पे आरण-ऽच्चुए रयणविचित्ता
उ सा पुढवी॥265॥

बावीस जोयणसयाइं पुढवीणं तासि होइ बाहल्लं।
गेवेज्जविमाणेसुं, रयणविचित्ता उ सा पुढवी॥269॥

इगवीस जोयणसयाइं पुढवीणं तासि होइ बाहल्लं।
पंचसु अणुत्तरेसुं, रयणविचित्ता उ सा पुढवी॥273॥

जीवाभिगमसूत्र में यह वर्णन आंशिक रूप से समान है।

कहिं पडिहया सिद्धा ? कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?
कहिं बोंदि चइत्ताणं कत्थ गंतूण सिज्झई ? ॥285॥

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयऽग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं तत्थ गंतूण सिज्झई॥286॥

जं संठाणं तु इहं भवं चयंतस्स चरिमसमयम्मि।
आसी य पएसघणं तं संठाणं तहिं तस्स॥287॥

तुलनीय - जीवाभिगमसूत्र।

सणंकुमा रमाहिंदेसु छव्वीसं जोयणसयाइं बंभलंतए पंचवीसं।

महासुक्कसहस्सारेसु चउवीसं। आणयपाणयारणाच्चुएसु तेवीसं सयाइं।

गेविज्जविमाणपुढवी बावीसं।

अणुत्तरविमाणपुढवी एक्कवीसं जोयणसयाइं बाहल्लेणं।[1]

प्रज्ञापनासूत्र :

कहिं पडिहता सिद्धा ? कहिं सिद्धा पइट्ठिता ?।

कहिं बोंदिं चइत्ता णं ? कहिं गंतूण सिज्झई॥

अलोए पडिहता सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ता णं तत्थ गंतूण सिज्झई॥

जं संठाणं तु इहं भवं चयंतस्स चरिमसमयम्मि।
आसी य पदेसघणं तं संठाणं तहिं तस्स॥

.....

1. **जीवाभिगम सूत्र - मुनि घासीलालजी, पृ. 1054**

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

दीहं वा [4] हुस्सं वा जं संठाणं हवेज्ज चरिमभवे।
तत्तो तिभागहीणा सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥288॥

तिन्नि सया [5] तेत्तीसा धणुत्तिभागो य होइ बोधव्वो।
एसा खलु सिद्धाणं उक्कोसोगाहणा भणिया ॥289॥

चत्तारि य रयणीओ रयणितिभागूणिया य बोधव्वा।
एसा खलु सिद्धाणं मज्झिमओगाहणा भणिया ॥290॥

एक्का य होइ रयणी अट्ठेव य अंगुलाइं साहीया।
एसा खलु सिद्धाणं जहण्ण ओगाहणा भणिया ॥291॥

ओगाहणाइ सिद्धा भवत्तिभागेण हुंति परिहीणा।
संठाणमणित्थंत्थं जरा-मरणविप्पमुक्काणं ॥292॥

जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अन्नोन्नसमोगाढा पुट्ठा सव्वे अलोगंते ॥293॥

असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य नाणे य।
सागारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥294॥

फुसइ अणंते सिद्धे सव्वपएसेहिं णियमसो सिद्धो।
ते वि असंखेज्जगुणा देस - पएसेहिं जे पुट्ठा ॥295॥

केवलनाणुवउत्ता जाणंती सव्वभावगुण-भावे।
पासंति सव्वओ खलु केवलदिट्ठी हऽणंताहिं ॥296॥

तुलनीय प्रज्ञापना-

दीहं वा हस्सं वा जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं।
तत्तो तिभागहीणा सिद्धाणोगाहणा भणिया।

तिण्णि सया तेत्तीसा धणुत्तिभागो य होतिं बोधव्वो।
एसा खलु सिद्धाणं उक्कोसोगाहणा भणिया।

चत्तारि य रयणीओ रयणितिभागूणिया य बोद्धव्वा।
एसा खलु सिद्धाणं मज्झिम ओगाहणा भणिया॥

एगा य होइ रयणी अट्ठेव य अंगुलाई साहीया।
एसा खलु सिद्धाणं जहण्ण ओगाहणा भणिता॥

ओगाहणाए सिद्धा भवत्तिभागेण होंति परिहीणा।
संठाणमणित्थंथं जरा-मरणविप्पमुक्काणं॥

जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अण्णोण्णसमोगाढा पुट्ठासव्वेविलोयंते॥

असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे न नाणे य।
सागारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं॥

फुसइ अणंते सिद्धे सव्वपएसेहिं नियमसो सिद्धा।
ते वि असंखेज्जगुणा देस-पदेसेहिं जे पुट्ठा॥

केवलणाणुवउत्ता जाणंती सव्वभावगुण-भावे।
पासंति सव्वतो खलु केवलदिट्ठीहऽणं ताहिं॥

देविन्दत्थय (देवेन्द्र स्तव)

सुरगणसुहं समत्तं सव्वद्धापिंडियं अणंतगुणं।
न वि पावइ मुत्तिसुहं णंताहि वग्गवग्गूहिं॥298॥

न वि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं न वि य सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं॥299॥

सिद्धस्स सुहो रासी सव्वद्धापिंडिओ जइ हविज्जा।
णंतगुणवग्गुभइओ सव्वागासे न माएज्जा॥300॥

जह नाम कोइ मिच्छो नयरगुणे बहुविहे वियाणंतो।
न चएइ परिकहेउं उवमाए तहिं असंतीए॥301॥

इअ सिद्धाणं सोक्खं अणोवमं, नत्थि तस्स ओवम्मं।
किंचि विसेसेणित्तो सारिक्खमिणं सुणह वोच्छं॥302॥

जह सव्वकामगुणिय पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोई।
तण्हा-छुहाविमुक्को अच्छिज्ज जहा अमियतित्तो॥303॥

इय सव्वकालतित्ता अउलं निव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता॥304॥

सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य पारगय त्ति य परंपरगय त्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असंगा य॥305॥

निच्छिन्नसव्वदुक्खा जाइ-जरा-मरण-बंधणविमुक्का।
[1] सासयमव्वाबाहं अणुहुंति सुहं सयाकालं॥306॥

सुरगणसुहं समत्तं सव्वद्धापिंडितं अणंतगुणं।
न वि पावे मुत्तिसुहं णंताहिं वि वग्गवग्गूहि॥
न वि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं न वि य सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं अव्वावाहं उवगयाणं॥
सिद्धस्स सुहो रासी सव्वद्धापिंडितो जइ हवेज्जा।
सोऽणंतवग्गभइतो सव्वागासे ण माएज्जा॥
जह णाम कोइ मेच्छो णगरगुणे बहुविहे वियाणंतो।
न चएइ परिकहेउ उवमाए तहिं असंतीए॥

इय सिद्धाणं सोक्खं अणोवमं, णत्थि तस्स ओवम्मं।
किञ्चि विसेसेणेत्तो सारिक्खमिणं सुणह वोच्छं॥

जह सव्वकामगुणितं पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ।
तण्हा-छुहाविमुक्को अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो।

इय सव्वकालतित्ता अतुलं णेव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता॥

सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य पारगत त्ति य परंपरगत्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असंगा य॥

णित्थिण्णसव्व दुक्खा जाति-जरा-मरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सोक्खं अणुहुंती सासयं सिद्धा॥[1]

.....

1. क. प्रज्ञापना - मुनि मधुकर, सूत्र - 159-179।
ख. तित्थोगाली पइण्णयं - गाथा 1226 से 1255

बौद्ध धर्म में देवों की अवधारणा

बौद्ध धर्म में प्राणियों को नारक, तिर्यंञ्च, प्रेत, मनुष्य और देवता इन पाँच विभागों में वर्गीकृत किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि जहाँ जैन परंपरा में प्रेत, असुर आदि को देव निकाय में वर्गीकृत किया गया है वहाँ बौद्ध परंपरा उन्हें स्वतंत्र निकाय के रूप में प्रस्तुत करती है। यद्यपि उनकी शक्ति आदि के विषय में देवों के समान ही उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देवनिकाय की चर्चा के प्रसंग में बहुत अधिक अंतर नहीं रह जाता है। बौद्ध परंपरा लोक को अपायभूमि, कामसुगतभूमि, रुपावचर भूमि और अरुपावचरभूमि ऐसे चार भागों में वर्गीकृत करती है। जैन परंपरा के तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर, जो जैनों का अधोलोक है वह बौद्धों की कामावचर अपाय भूमि है, जो जैनों का तिर्यक् या मध्यलोक है वही बौद्धों की कामसुगति भूमि है, जैनों ने जिसे ऊर्ध्व लोक कहा है वह बौद्धों की रूपावचर भूमि है और जैनों का जो सिद्ध लोक या लोकाग्र है वहीं बौद्धों के अनुसार अरुपावचर भूमि है।

यद्यपि यहाँ एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि जहाँ बौद्ध परंपरा इस अरुपावचर भूमि को भी ऐवे देवों का निवास मानती है जो रूप रहित मात्र एक चेतना प्रवाह है, वहीं जैन परंपरा इसे निर्वाण या मोक्ष प्राप्त आत्माओं का निवास स्थान मानती है। बौद्ध परंपरा में इसके संबंध में कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं है कि सिद्ध अस्तित्व रखता है या नहीं, अगर रखता है तो कहाँ? यहाँ हम इस समस्त विवेचन में विस्तार से चर्चा नहीं करके देव-निकाय के संबंध में ही तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे।

जिस प्रकार जैन मान्यतानुसार देव-निकाय के प्राणी अधो, ऊर्ध्व और मध्य तीनों लोकों में निवास करते हैं, उसी प्रकार बौद्ध परंपरा में भी यदि हम प्रेतों को देव-निकाय का अंग मान ले तो यहां भी इस वर्ग का निवास कामावचर अपाय भूमि (अधोलोक) कामावचरसुगत भूमि (मध्य लोक), रूपावचर भूमि (ऊर्ध्वलोक) और अरुपावचर भूमि (सिद्ध लोक) में पाया जाता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि अरुपावचर भूमि में जिन देवों की कल्पना की गई है वे वस्तुतः जैनों के सिद्धों के अनुरूप अरुपी और शुद्ध चेतना मात्र है, अंतर केवल यह है कि बौद्धों के अनुसार ये देव बिना मनुष्य - लोक के जन्म लिये आयु पूर्ण होने पर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं , जबकि जैनों के अनुसार सिद्ध आत्माएँ निर्वाण प्राप्त ही हैं।

जैनों ने जिसे व्यंतरदेव कहा है बौद्ध परंपरा में उन्हें प्रेत कहा गया है। जैनों के अनुसार ये असुरनिकाय और व्यंतरदेव अधोलोक में निवास करते हैं उसी प्रकार बौद्धों के अनुसार भी प्रेत अधोलोक में ही निवास करते हैं। जैनों ने जहां इस निकाय के विविध इन्द्रों की कल्पना की है वहां बौद्ध परंपरा में प्रेतों का राजा यम माना गया है जिसका निवास स्थान जम्बूद्वीप से पाँच सौ योजन नीचे माना गया है।

जैन परंपरा में भवन पति देवों का जो उल्लेख है वैसा उल्लेख बौद्ध परंपरा में नहीं मिलता है, किन्तु बौद्ध परंपरा में कामधातु देवों के मुख्य रूप से भूमिवासी और विमानवासी ऐसे दो विभाग किये गये हैं। भूमिवासी देवों की कल्पना जैनियों के भवनवासी देवों के निकट तो है परंतु मुख्य अंतर यह है कि भवनपति देवों के कुछ आवास अधोलोक में माने गये हैं वहां बौद्धों के अनुसार भूमिवासी देवों के आवास सुमेरु की श्रेणियों पर माने गये हैं। बौद्धों में भूमिवासी देवों के मुख्य रूप से चातुर्माहाराजिक और त्रायस्त्रिंशक दो प्रकार किये गये हैं पुनः चातुर्माहाराजिक देवों के करीट पानी, मालाधर, सदामद तथा चार माहराजक ये चार प्रकार प्रकार किये गये है। भूमिवासी देवों का दूसरा वर्ग त्रायस्त्रिंशक देव है। ये तैंतीस देव अपने पार्षदों सहित सुमेरुपर्वत पर निवास करते हैं। बौद्ध विचारकों के अनुसार ये त्रायस्त्रिंशक देव सुमेरु शिखर, जो 80 हजार योजन विस्तृत है उन पर और इसकी उपदिशाओं में पांच सौ योजन ऊँचे विशाल कूट हैं जिनमें व्रजवाणी नामक यक्ष निवास करते हैं। शिखर के मध्य में देवराज शक्र की सुदर्शन नामक राजधानी बताई गई है जहाँ शक्र का 250 योजन विस्तृत वैजयन्त नामक भवन बताया गया है। हम देखते हैं कि जहाँ जैनों के अनुसार शक्र और त्रायस्त्रिंशक को विमानवासी देव माना गया है वहाँ बौद्ध परंपरा उन्हें भूमिवासी देव मानती है।

पुनः बौद्धों के अनुसार चातुर्माहाराजिक देवों का ही एक वर्ग सूर्य, चंद्र और तारा विमानों में निवास करत है जबकि जैन परंपरा में ज्योतिष्क देवों का एक स्वतंत्र वर्ग माना गया है। यद्यपि बौद्ध परंपरा में चंद्र, सूर्य और तारकों का उल्लेख उपलब्ध है परंतु अभिधर्मकोश में नक्षत्रों का उल्लेख नहीं है। बौद्धों के अनुसार चन्द्र, सूर्य और तारक मेरु के चारों ओर भ्रमण करते हैं और उनकी गति युगंधर के शिखर के समतल पर होती है। पुनः बौद्धों के अनुसार चन्द्रबिम्ब 50 योजन का एवं सूर्यबिम्ब 51 योजन का माना गया है। तारकों में सबसे छोटा विमान एक कोश परिमाण एवं सबसे बड़ा विमान 16 योजन का माना गया है। सूर्य के विमान के अधर और बाह्य में एक तेजस् चक्र होता है वहां चन्द्र विमान के अधर और बाह्य में एक आभा चक्र होता है। जिसके फलस्वरूप क्रमशः प्रकाश और ज्योत्स्ना होती है। जैनों की तरह बौद्धों में इनकी विस्तृत संख्या का उल्लेख नहीं मिलता है, बौद्ध परंपरा में मात्र यह कहा गया है कि चतुर्द्वीप में एक चन्द्र और एक सूर्य होता है।

चन्द्रबिम्ब के विकल होने के कारणों के संबंध में जहाँ जैन परंपरा इसकी विकलता का कारण राहु के विमान को मानती है, वहाँ बौद्ध परंपरा चंद्र-सूर्य विमान के सान्निध्य को ही इसका कारण मानती है। इनके अनुसार जब चन्द्र - विमान सूर्य-विमान के सान्निध्य में आता है तब सूर्य का आतप चंद्र-विमान पर पड़ता है। अतः ऊपर पार्श्व में छाया पड़ती है और मंडल विकल दिखाई देने लगता है। अभिधर्मकोश में कहा है कि चंद्र का बाह्य योग ऐसा है

कि चंद्र कभी पूर्ण व कभी विकल दिखाई पड़ता है। यहीं पद दिन और रात्रि के घटने बढ़ने का कारण भी बताया गया है। इस प्रकार तुलनात्मक रूप से हम ये पाते हैं कि जैनों की सूर्य-चन्द्र आदि के गति की कल्पना और चंद्रमा की विकलता में राहु के विमान को उत्तरदायी बताना यह प्राचीन काल की अवधारणा है।ज्योतिष्क देवों के ऊपर विमानवासी देवों की स्थिति मानी गई है। बौद्ध परंपरा के अनुसार कामधातु के विमानवासी देव चार प्रकार के माने गये है-याम, तुषित निर्माणरति और परनिर्मितवशवर्तिन । इस प्रकार कामावचरसुगर्तिभूमि के चातुर्माहाराजिक व त्रायस्त्रिशक ये दो भूमिवासी और शेष चार विमानवासी ये छः प्रकार माने गये है। इन्हें कामधातु देव इसलिए कहा गया है कि ये काम-वासना की संतुष्टि सामान्यतया विभिन्न उपायों से करते हैं। चातुर्माहाराजिक व त्रायस्त्रिशक देव का मैथुन मनुष्यों के समान द्वन्द्व समापत्ति से होता है और शक्र का अभाव होने से वायु ही निर्गत कर परिदाह विगम करते हैं, शेष चार में से याम आलिङ्गन से, तुषित पाणिग्रहण से, निर्माणरति हास-परिहास से तथा परनिर्मितवशवर्तिन देखने मात्र से कामवासना संबंधी परिदाह का विगम करते हैं।

इस प्रकार देवों की काम वासना को संतुष्टि में दोनों परंपराओं में बहुत कुछ समानताएं है और दोनों के अनुसार वैमानिक देवों तक काम वासना की उपस्थिति मानी गई है। यद्यपि वैमानिक देवों के भेदों आदि को लेकर दोनों में मतभेद है। जहां बौद्ध परंपरा में केवल चार प्रकार के वैमानिक देव माने गये हैं वहाँ जैन परंपरा में श्वेताम्बरों के अनुसार 12 और दिगम्बरों के अनुसार 16 भेद माने गये हैं।

जिस प्रकार जैन परंपरा ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में काम-वासना की उपस्थिति नहीं मानती है, उसी प्रकार बौद्ध परंपरा भी रूपावचर देवों में कामवासना की उपस्थिति नहीं मानती है। रूपधातु देवों के अंतर्गत 17 भेद माने गये हैं इनमें अंत के पांच शुद्धावासिक कहे गये हैं। जिस प्रकार जैनों में ग्रैवेयकों के तीन-तीन वर्ग माने गये हैं, उसी प्रकार बौद्धों में प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान और तृतीय ध्यान में प्रत्येक के तीन-तीन भेद किये गये हैं। यद्यपि चतुर्थ ध्यान में तीन भेदों के अतिरिक्ति पाँच शुद्धावासिक भी माने गये हैं। इनके स्थापना पर जैनों ने 5 सर्वार्थसिद्ध विमान माने है। इस प्रकार नाम आदि की तो दोनों परंपराओं में भिन्नता है परंतु अवधारणा की दृष्टि से कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है।

रूपधातु देवों के शरीर की लंबाई और आयुष्य को लेकर दोनों परंपराओं में कोई समानता नहीं है। किन्तु यह अवश्य देखा जाता है कि क्रमशः ऊपर के देवों की आयु नीचे के देवों की अपेक्षा अधिक होती है। लंबाई के दृष्टिकोण को लेकर दोनों में भिन्न दृष्टिकोण देखे जाते हैं, जैन परंपरा में क्रमशः ऊपर के देवों की लंबाई कम होती जाती है वहाँ बौद्ध परंपरा में बढ़ती जाती है। हाँ ! दोनों में यह समानता है कि दोनों के अनुसार देव उपपादुक या औपपातिक ही होते हैं। बौद्ध परंपरा में देवों की उत्पत्ति माता-पिता की जंघाओं पर बताई गई है। वहाँ जैन

परंपरा में प्रत्येक विमान में एक ही शय्या से उत्पत्ति मानी गई है।

देवों की इन अवधारणाओं में सबसे महत्वपूर्ण भिन्नता यह है कि बौद्ध परंपरा आरुप्यधातु देवों की उपस्थिति भी मानती है। उसके अनुसार ये देव अरुपी होते हैं। इनमें देवों या सत्त्वों की चार ध्यान भूमियाँ मानी गई है।

1. आकाशानन्त्यायतन 2. विज्ञानानन्त्यायतन 3. अकिंचन न्त्यायतन

इन भूमियों के सुखों की इच्छा रखते हुए यदि सत्त्व कुशल धर्म और ध्यान को सम्पन्न करत है तो वह अरुपलोक के सुखों का उपभोग करता है। इस अरुपलोक की चतुर्थ भूमि नैवसंज्ञानासंज्ञायतन तक ही संभव है, इसलिए इसे लोकाग्र कहा गया है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि यह स्थिति जैनों की अरुपी सिद्ध-आत्मा के समान ही है। जिस प्रकार सिद्धात्मा अनंत सुख का भोग करती हुई लोकाग्र में स्थित रहती है, उसी प्रकार यहाँ भी सत्त्व मात्र चेतना-प्रवाह रूप होकर लोकाग्र पर निवास करता है। अंतर मात्र यही है कि जहाँ जैनों के अनुसार सिद्ध गति में आत्मा की स्थिति अनंतकाल तक ही होती है, वहाँ बौद्धों ने इसे एक सीमित काल तक ही माना है। यद्यपि बौद्धों की मान्यता यह है कि इस काल-स्थिति के समाप्त होने पर वह चित्तसन्तति निर्वाण को प्राप्त कर लेती है, उसे पुनः मनुष्यलोक में जन्म नहीं लेना होता है। अतः इसकी स्थिति जैनों के सर्वार्थसिद्ध विमान से भी भिन्न है। चूँकि बौद्ध परंपरा में निर्वाण का निर्वचन उपलब्ध नहीं है और न यह बताया गया है कि निर्वाण प्राप्त सत्त्व का क्या होता है ? इसलिए जैनों के सिद्धों की स्थिति के अनुरूप इसमें कोई अवधारणा उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार जैन और बौद्ध परंपरा में देवनिकाय की अवधारणा को लेकर अनेक बातों पर विचार किया गया है, जिनमें कुछ प्रश्नों पर परस्पर समानता और कुछ प्रश्नों पर असमानता पाई जाती है। प्रस्तुत भूमिका में हमने जैन परंपरा की अवधारणा को जहाँ देवेन्द्रस्तव के आधार पर वर्णित किया है, वहीं बौद्ध परंपरा के लिए हमने अभिधर्म-कोश के लोक-निर्देश नामक तृतीय स्थान को आधार बनाया है।

इसी प्रकार हिन्दू, ईसाई और इस्लाम धर्मो में भी देवताओं और स्वर्ग की अवधारणाएँ की गई है, फिर भी विस्तार भय से इन सबकी चर्चा में जाना यहाँ संभव नहीं है। हम यहाँ केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि जैन परंपरा ने अन्य धर्म के समान ही देवों की अवधारणा पर विस्तृत विवचन किया है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन परंपरा के अनुसार देवयोनि को प्राप्त करना जीवन का साध्य नहीं है। जीवन का साध्य तो निर्वाण की प्राप्ति है। यद्यपि देव योनि को श्रेष्ठ माना गया है किन्तु जैनों की अवधारणा यह है कि निर्वाण की प्राप्ति देव योनि से न होकर मनुष्य योनि में होती है। अतः मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और वह अपनी साधना के द्वारा उस अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर सकता है, जिसकी देवता भी वंदना करते हैं।

24 नवंबर, 1988

प्रो. सागरमल जैन

सहयोग : डॉ. सुभाष कोठारी

2. तन्दुल वैचारिक

नन्दीसूत्र में तंदुवैचारिक का उल्लेख अंगबाह्य, आवश्यक-व्यक्तिरिक्त उत्कालिक आगमों में हुआ है। पाक्षिक सूत्र में भी आगमों के वर्गीकरण की यही शैली अपनाई गई है। इसके अतिरिक्त आगमों के वर्गीकरण की एक प्राचीन शैली हमें यापनीय परंपरा के शौरसेनी आगम 'मूलाचार' में भी मिलती है। मूलाचार आगमों को चार भागों में वर्गीकृत करता है[1] - (1) तीर्थंकर-कथित (2) प्रत्येक बुद्ध-कथित (3) श्रुतकेवली-कथित (4) पूर्वधर - कथित। पुनः मूलाचार में इन आगमिक ग्रंथों का कालिक और उत्कालिक के रूप में भी वर्गीकरण किया गया है। किन्तु मूलाचार में कहीं भी तंदुलवैचारिक का नाम नहीं आया है। अतः यापनीय परंपरा इसे किस वर्ग में वर्गीकृत करती थी, यह कहना कठिन है।[1]

वर्तमान में आगमों के अंग, उपांग, छंद, मूलसूत्र, प्रकीर्णक आदि विभाग किये जाते हैं। यह विभागीकरण हमें सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ - 13वीं शताब्दी) में प्राप्त होता है।[2] सामान्यतया प्रकीर्णक का अर्थ विविध विषयों पर संकलित ग्रंथ ही किया जाता है। नंदीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है कि तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते थे। परंपरानुसार यह भी मान्यता है कि प्रत्येक श्रमण एक-एक प्रकीर्णक की रचना करता था। समवायांग सूत्र में "चोरासीइ पण्णग सहस्साइ पण्णत्ता' कहकर ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों के चौरासी हजार प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है।[3] महावीर के तीर्थ में चौदह हजार साधुओं का उल्लेख प्राप्त होता है। अतः उनके तीर्थ में प्रकीर्णकों की संख्या भी चौदह हजार मानी गई है। किन्तु आज प्रकीर्णकों की संख्या दस मानी जाती है। ये दस प्रकीर्णक निम्न है- (1) चतुःशरण, (2) आतुरप्रत्याख्यान, (3) महाप्रत्याख्यान, (4) भत्तपरिज्ञा, (5) तंदुलवैचारिक,

.....

1. मूलाचार - भारतीय ज्ञानपीठ गाथा 277
2. विधिमार्गप्रपा - पृष्ठ 55।
3. समवायांग सूत्र - मुनि मधुकर - 84वाँ समवाय

(6) संस्थारक, (7) गच्छाचार, (8) गणिविद्या, (9) देवेन्द्रस्तव और (10) मरण समाधि।

इन दस प्रकीर्णकों को श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय आगमों की श्रेणी में मानते हैं। परंतु प्रकीर्णक नाम से अभिहित इन ग्रंथों का संग्रह किया जाये तो निम्न बाईस नाम प्राप्त होते हैं-

(1) चतुःशरण (2) आतुरप्रत्याख्यान (3) भत्तपरिज्ञा (4) संस्थारक (5) तंदुलवैचारिक (6) चंद्रावेध्यक (7) देवेन्द्रस्तव (8) गणिविद्या (9) महाप्रत्याख्यान (10) वीरस्तव (11) ऋषिभाषित (12) अजीवकल्प (13) गच्छाचार (14) मरणसमाधि (15) तित्थोगालि (16) आराधना पताका (17) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (18) ज्योतिष्करण्डक (19) अंगविद्या (20) सिद्धप्राभृत (21) सारावली और (22) जीवविभक्ति[1]।

इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं । यथा- 'आउर पच्चक्खान' के नाम से तीन ग्रंथ उपलब्ध होते हैं।

इनमें से नन्दी और पाक्षिक के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रावेध्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, मरणसमाधि, महाप्रत्याख्यान, ये सात नाम पाये जाते हैं और कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं। इस प्रकार नंदी एवं पाक्षिक सूत्रों में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है।[1]

यद्यपि प्रकीर्णकों की संख्या और नामों को लेकर परस्पर मतभेद देखा जाता है, किन्तु यह सुनिश्चित है कि प्रकीर्णकों के भिन्न-भिन्न सभी वर्गीकरणों में तंदुलवैचारिक को स्थान मिला है।

यद्यपि आगमों की श्रृंखला में प्रकीर्णकों का स्थान द्वितीयक हैं, किन्तु यदि हम भाषागत प्राचीनता और आध्यात्म-प्रधान विषय वस्तु की दृष्टि से विचार करें तो प्रकीर्णक, आगमों की अपेक्षा भी महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित

.....

1. पइण्णयसुत्ताइं - मुनि पुण्यविजयजी - प्रस्तावना पृष्ठ 19।
2. नंदीसूत्र - मुनि मधुकर पृष्ठ 80-81।
3. ऋषिभाषित की प्राचीनता आदि के संबंध में देखें-
   डॉ. सागरमल जैन - ऋषिभाषित : एक अध्ययन (प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर)।

आदि ऐसे प्रकीर्णक हैं, जो उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन हैं।[1]

तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक- तंदुलवैचारिक-प्रकीर्णक एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख नंदी एवं पाक्षिक सूत्र में प्राप्त होता है। दोनों ही ग्रंथों में आवश्यक- व्यतिरिक्त उत्कालिक श्रुत के अंतर्गत तंदुलवैचारिक का उल्लेख मिलता है।[1] पाक्षिक सूत्र वृत्ति में तंदुलवैचारिक का परिचय देते हुए कहा गया है कि- ''तंदुलवेयालियं ति तन्दुलानां वर्षशतायुष्कपुरुषप्रतिदिनभोग्यानां संख्याविचारेणोपलक्षितो ग्रन्थविशेषस्तन्दुलवैचारिक'' अर्थात् सौ वर्ष की आयु वाला मनुष्य प्रतिदिन जितना चावल खाता है, उसकी जितनी संख्या होती है उसी के उपलक्षण रूप संख्या विचार को तंदुलवैचारिक कहते हैं।[2]

अन्य ग्रंथों में तंदुलवैचारिक का उल्लेख इस प्रकार पाया जाता है-

(1) आवश्यक चूर्णि के अनुसार कुछ ग्रंथों का अध्ययन एवं स्वाध्याय किसी निश्चित समय पर ही किया जात है और कुछ ग्रंथों का स्वाध्याय किसी भी समय किया जा सकता है। परंपरागत शब्दावली से पहले प्रकार के ग्रंथ कालिक और दूसरे प्रकार के ग्रंथ उत्कालिक कहे जाते हैं। यहाँ भी तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक का उल्लेख उत्कालिक सूत्र के रूप में हुआ है।[3]

(2) दशवैकालिक चूर्णि में जिनदासगणि महत्तर ने ''कालदसा 'बाला मंदा, किड्डा' जहां तंदुलवेयालिए'' कहकर तंदुलवैचारिक का उल्लेख किया है।[4]

(3) निशीथ चूर्णि में भी उत्कालिक सूत्रों के अंतर्गत तंदुल- वैचारिक का उल्लेख मिलता है।[5]

.....

1. (क) उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं तंजहा - (1) दसवेआलिअं..... (14) तंदुलवेआलिअं ... एवमाइ। (नन्दी सूत्र - मधुकर मुनि - पृष्ठ 161-162)(ख) नमो तेसि खमासमणाणं.....अंगबाहिर उक्कालियं भगवंतं। तंजहा- दसवेआलिअं..... तंदुलविआलिअं..... महापच्चक्खाणं॥ (पाक्षिक - देवचन्द्र-लालचन्द्र जैन पुस्तकोद्धार, पृ. 76)
2. (क) पाक्षिक सूत्र वृत्ति - पत्र - 77
   (ख) अभिधान राजेन्द्र कोश, पृ. 2168
3. आवश्यक चूर्णि - ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था - रतलाम, 1929, भाग - 2, पृष्ठ 224।
4. दशवैकालिक चूर्णि - रतलाम - 1933, पृ. 5।
5. निशीथ सूत्र चूर्णि - भाग 4, पृ. 235।

लेखक एवं रचनाकाल का विचार- तंदुलवैचारिक का उल्लेख यद्यपि नंदीसूत्र आदि अनेक ग्रंथों में मिलता है किन्तु इस ग्रंथ के लेखक के संबंध में कहीं पर भी कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। जो संकेत हमें मिलते हैं उसके आधार पर मात्र यही कहा जा सकता है कि यह 5वीं शताब्दी या उसके पूर्व के किसी स्थविर आचार्य की कृति है। इसके लेखक के संदर्भ में किसी भी प्रकार का कोई संकेत सूत्र उपलब्ध न हो पाने के कारण इस संबंध में कुछ भी कहना कठिन है।

किन्तु जहाँ तक इस ग्रंथ के रचना काल का प्रश्न है, हम इतना तो सुनिश्चित रूप से कह सकते हैं कि यह ईस्वी सन् की 5वीं शताब्दी के पूर्व की

रचना है क्योंकि तंदुलवैचारिक का उल्लेख हमें नंदीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र के अतिरिक्त नंदी चूर्णि, आवश्यक चूर्णि, दशवैकालिक चूर्णि और निशीथ चूर्णि मे मिलता है। चूर्णियों का काल लगभग 6-7वीं शताब्दी माना जाता है। अतः तंदुलवैचारिक का रचना काल इसके पूर्व ही होना चाहिए। पुनः तंदुलवेचारिक का उल्लेख नंदीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में भी है। नंदी सूत्र के कर्ता देववाचक माने जाते हैं। नंदीसूत्र और उसके कर्ता देव वाचक के समय के संदर्भ में मुनि श्री पुण्यविजयजी एवं पं. दलसुख भाई मालवणिया ने विशेष चर्चा की है। नंदी चूर्णि में देववाचक को दूष्यगणी का शिष्य कहा गया है। कुछ विद्वानों ने नन्दीसूत्र के कर्ता देववाचक और आगमों को पुस्तकारूढ़ करने वाले देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को एक ही मानने की भ्रांति की है। इस भ्रांति के शिकार मुनि श्री कल्याण विजयजी भी हुए हैं, किन्तु उल्लेखों के आधार पर जहाँ देवर्द्धि के गुरु आर्य शांडिल्य हैं, वही देववाचक के गुरु दूष्यगणी हैं। अतः यह सुनिश्चित है कि देववाचक और देवर्द्धि एक ही व्यक्ति नहीं है। देववाचक ने नन्दीसूत्र स्थविरावली में स्पष्ट रूप से दूष्यगणी का उल्लेख किया है।

पं. दलसुख भाई मालवणिया ने देववाचक का काल वीर निर्वाण संवत् 1020 अथवा विक्रम संवत् 550 माना है, किन्तु यह अंतिम अवधि ही मानी जाती है। देववाचक उसके पूर्व ही हुए होंगे। आवश्यक निर्युक्ति में नंदी और अनुयोगद्वार सूत्रों का उल्लेख है, और आवश्यक निर्युक्ति को द्वितीय भद्रबाहु की रचना भी माना जाय तो उसका काल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी निश्चित है। इस संदर्भ में विशेष जानने के लिए हम मुनिश्री पुण्य विजयजी एवं पं. दलसुख भाई मालवलिया के नंदीसूत्र की भूमिका में देववाचक की समय संबंधी चर्चा को देखने का निर्देश करेंगे। चूँकि नंदी

सूत्र में तंदुलवैचारिक का उल्लेख है, अतः इस प्रमाण के आधार पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं, कि यह ग्रंथ ईस्वी सन् की 5वीं शताब्दी के पूर्व निर्मित हो चुका था। किन्तु इसकी अपर सीमा क्या थी, यह कहना कठिन है। स्थानांगसूत्र में मनुष्य जीवन की दस दशाओं का उल्लेख हमें मिलता है। यह निश्चित है कि तंदुल वैचारिक की रचना का आधार मानव-जीवन की ये दस दशाएँ ही रही है। इसी प्रकार तंदुलवैचारिक में गर्भावस्था का, जो विवरण उपलब्ध होता है,वह पूर्ण रूप से भगवती सूत्र में उपलब्ध है। इसमें वर्णित संहनन एवं संस्थानों की चर्चा भी स्थानांग, समवायांग एवं भगवती में उपलब्ध होती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि इसकी रचना स्थानांग और भगवती सूत्र के पश्चात् ही कभी हुई होगी। स्थानांग में महावीर के नौ गणों और सात निण्हवों का उल्लेख होने से उसे ईस्वी सन प्रथम या द्वितीय शताब्दी के आसपास की रचना माना जाता है। यदि इसकी रचना का आधार स्थानांग, भगवती, अनुयोगद्वार और औपपातिक को माना जाये, तो हम यह कह सकते हैं कि तंदुलवैचारिक की रचना ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी से ईस्वी सन् की 5वीं शताब्दी के बीच कभी हुई होगी।

भाषा और शैली की दृष्टि से भी इसका रचना काल यही माना जा सकता है, क्योंकि इसकी भाषा भी महाराष्टी प्रभाव युक्त अर्द्धमागधी है। यद्यपि इसमें कुछ विवरण ऐसे भी है जो आवश्यक एवं पक्खी सूत्र में उपलब्ध होते हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि के शरीर का जो वर्णन इसमें उपलब्ध होता है, वह प्रश्न व्याकरण में भी उपलब्ध है। किन्तु उपलब्ध प्रश्न- व्याकरण नंदी और नंदी चूर्णि के बीच कभी बना है, जबकि तंदुलवैचारिक का उल्लेख स्वयं नंदी सूत्र में है। अतः यह मानना होगा कि प्रश्नव्याकरण में यह विवरण या तो तंदुलवैचारिक से या औपपातिक से लिया गया है। हमारी दृष्टि में तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि शरीर संबंधी यह विवरण औपपातिक से ही प्रश्नव्याकरण और तंदुलवैचारिक में आया होगा।

यद्यपि यह कल्पना भी की जा सकती है कि तंदुलवैचारिक से ही यह समग्र विवरण स्थानांग भगवती, औपपातिक आदि में गये हों, क्योंकि तंदुलवैचारिक अपने विषय का क्रमपूर्वक और सुनियोजित रूप से विवरण देने वाला एक संक्षिप्त ग्रंथ है और ऐसे संक्षिप्त ग्रंथ अपेक्षाकृत रूप से प्राचीन स्तर के माने जाते हैं। चाहे हम इस तथ्य को स्वीकार करें या न करें किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि तंदलुवैचारिक ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से लेकर पाँचवीं शताब्दी तक के बीच कभी निर्मित हुआ होगा।

विषय वस्तु- 'तंदुलवैचारिक' इस नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इसमें

मात्र चावल के बारे में विचार किया होगा, परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इसमें मुख्य रूप से मानव जीवन के विविध पक्षो यथा गर्भावस्था, मानव-शरीर रचना, उसकी शत वर्ष की आयु के दस विभाग, उनमें होने वाली शरीरिक स्थितियाँ, उसके आहार आदि के बारे में भी पर्याप्त विवेचन किया गया है। प्रत्येक ग्रंथ की तरह इसके प्रारंभ में भी मंगलाचरण है। भगवान महावीर की वंदना से यह ग्रंथ प्रारंभ होता है। इसके पश्चात् निम्न विषय क्रमानुसार वर्णित है-

गर्भावस्था : सर्वप्रथम इसमें गर्भावस्था का विस्तार से विवेचन किया गया है। सामान्यतया मनुष्य दो सौ साढ़े सत्तहत्तर दिन गर्भ में रहता है। इस संख्या में कभी-कभी कमी या वृद्धि भी हो सकती है। (2-8) इसके बाद गर्भ धारण करने में समर्थ योनि का स्वरूप बतलाया गया है। साथ ही यह बतलाया गया है कि स्त्री पचपन वर्ष की आयु तक और पुरुष पचहत्तर वर्ष तक संतान उत्पन्न करने में समर्थ होता है। (9-13) माता के दक्षिण कुक्षि में रहने वाला गर्भ नपुंसक का होता है। गर्भगत जीव संपूर्ण शरीर से आहार ग्रहण करता है तथा श्वाँस लेता है और छोड़ता है। इसके आहार को ओज-आहार कहा जाता है। (14-21) गर्भस्थ जीव के तीन अंग माता के एवं तीन अंग पिता के कहे गये हैं। गर्भ के मांस, रक्त और मस्तक का स्नेह माता के एवं हड्डी, मज्जा एवं केश-रोम-नाखून पिता के अंग माने गये है। (25) गर्भ में रहा हुआ जीव अगर मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो वह नरक एवं देवलोक दोनों में उत्पन्न हो सकता है। (26-27) गर्भगत जीव माता के समान भावों एवं क्रियाओं वाला होता है अर्थात् माता के उठने, बैठने, सोने अथवा दुःखी या सुखी होने पर वह भी उठता, बैठता, सोता है तथा दुःखी या सुखी होता है। (28) पुरुष, स्त्री और नपुंसक की उत्पत्ति के बारे में कहते हैं कि पुरुष का शुक्र अधिक एवं माता का ओज कम हो तो पुत्र, ओज अधिक और शुक्र कम हो तो पुत्री और दोनों बराबर होने पर नपुंसक की उत्पत्ति होती है। (35) शरीर के अशुचित्त्व को प्रकट करते हुए कहा गया है कि अशुचि से उत्पन्न सदैव दुर्गं ध युक्त मल से भरे हुए इस शरीर पर गर्व नहीं करना चाहिए।

दस दशाएँ : गर्भावस्था के विवेचन के पश्चात् इसमें मनुष्य की सौ वर्ष की आयु को दस अवस्थाओं में विभक्त किया गया है, जिनके नाम, क्रमशः इस प्रकार है- (1) बाला, (2) क्रीड़ा, (3) मंदा, (4) बला, (5) प्रज्ञा, (6) हायणी, (7) प्रपञ्चा (8) प्राग्भारा (9) मुन्मुखी और (10) शायनी। (45-58) इन अवस्थाओं में व्यक्ति को अपना समय जिनभाषित धर्म का पालन करने में बिताना चाहिए। (59-

63) व्यक्ति को यह विचार कभी नहीं करना चाहिए कि अभी तो इतने दिनों, महिनों अथवा वर्षों तक जीना है। अतः बाद में व्रत-नियमों का पालन कर लूँगा, क्योंकि इस जीवन का क्षण भर का भी विश्वास नहीं है। यह कोई नहीं जानता कि कब रोग अथवा मृत्यु आकर हमें दबोच ले। (तन्दु 64)

चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि की देह रिद्धि- पहले व्यक्ति हजारों, लाखों वर्ष जीवित रहते थे, उनमें जो विशिष्ठ, चक्रवर्ती, तीर्थंकर, यौगलिक आदि पुरुष होते थे, वे अत्यंत सौम्य सुंदर, उत्तम लक्षणों से युक्त, श्रेष्ठ गज की गति वाले, सिंह की कमर के समान कटि प्रदेश वाले, स्वर्ण के समान क्रांति वाले, रागादि उपसर्ग से रहित, श्रीवत्स आदि शुभ चिन्हों से चिन्हित वक्षस्थल वाले, पुष्ठ व मांसल हाथों वाले, चंद्रमा, सूर्य, शंख, चक्र आदि के चिन्हों से युक्त हथेलियों वाले, सिंह के समान कन्धों वाले, सारस पक्षी के समान स्वर वाले, विकसित कमल के समान मुख वाले, उत्तम व्यंजनों, लक्षणों आदि से परिपूर्ण होते थे। (तन्दु 65)।

शतायुष्य मनुष्य का आहार परिमाण - सौ वर्ष जीने वाला मनुष्य बीस युग, दो सौ अयन, छः सौ ऋतु, बारह सौ. महिने, चौबीस सौ पक्ष, चार सौ सात करोड़ अड़तालिस लाख चालीस हजार श्वासोश्वास जीता है और इस समयावधि में वह साढ़े बाईस वाह तंदुल खाता है। एक वाह में चार सौ साठ करोड़ अस्सी लाख चालव के दाने होते हैं। इस प्रकार मनुष्य साढ़े बाईस वाह तंदुल खाता हुआ साढ़े पाँच कुंभ मूँग, चौवीस सौ आढक घृत और तेल, छत्तीस हजार पल नमक खाता है। अगर प्रतिमाह वस्त्र बदले तो संपूर्ण जीवन में बारह सौ धोती धारण करता है। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रहे और उसके पास यह सब उपभोग योग्य सामग्री हो तभी इस सामग्री का उपभोग वह कर पाता है। जिसके पास खाने को ही नहीं हो वह इनका उपभोग कैसे करेगा? (तन्दु 66-81)

समय उच्छ्वास आदि का काल परिमाण- सर्वाधिक सूक्ष्म काल का वह अंश जो विभाजित नहीं किया जा सके, समय कहलाता है। एक उच्छ्वास निःश्वास में असंख्य समय होते हैं। एक उच्छ्वास निःश्वास को ही प्राण कहते हैं, सात प्राणों का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, सत्तहत्तर लवों का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त या साठ घड़ी का एक दिन-रात, पंद्रह अहोरात्र का एक पक्ष और दो पक्ष का एक महिना होता है। (तन्दु. 82-86) बारह मास का एक वर्ष होता है। एक वर्ष में 360 रात-दिन होते हैं। एक रात-दिन में एक लाख तरह हजार एक सौ नब्बे उच्छ्वास होते हैं। (94-

98) इससे आगे व्यक्ति को आयु की अनित्यता का बोध कराते हुए कहते हैं कि अज्ञानी निद्रा, प्रमाद, रोग एवं भय की स्थितियों में अथवा भूख, प्यास और कामवासना की पूर्ति में अपने जीवन को व्यर्थ गंवाते हैं अतः उन्हें चारित्र रूपी श्रेष्ठ धर्म का पालन करना चाहिए। (तन्दु. 99-107)

शरीर का स्वरूप- मनुष्य के शरीर में पीठ की हड्डियों में 18 संधियाँ है। उनमें से 12 हड्डियाँ निकली हुई है जो पसलियाँ कहलाती है। शेष छः संधियों से छः हड्डियाँ निकलकर हृदय के दोनों तरफ छाती के नीचे रहती हैं। मनुष्य की कुक्षि बारह अंगुल परिमाण, गर्दन चार अंगुल परिमाण, बत्तीस दाँत और सात अंगुल प्रमाण की जीभ होती है। हृदय साढ़े तीन पल का होता है। मनुष्य शरीर में दो आँतें, दो पार्श्व, 160 संधि स्थान, 107 मर्म स्थान, 300 अस्थियाँ, 900 स्नायु, 700 नसें, 500 पेशियाँ, नौ रसहरणी नाड़िया, सिराएँ, दाढ़ी-मूंछ को छोड़कर 99 लाख रोमकूप तथा इन्हें मिलाकर साढ़े तीन करोड़ रोमकूप होते हैं। मनुष्य के नाभि से उत्पन्न सात सौ शिराएँ होती हैं। उनमें से 160 शिराएँ नाभि से निकलकर सिर से मिलती है, जिनसे नेत्र, श्रोत, घ्राण, और जिव्हा को कार्यशक्ति प्राप्त होती है। 160 शिराएँ नाभि से निकल कर पैर के तल से मिलती है, जिनसे जंघा को बल प्राप्त होता है। 160 शिराएँ नाभि से निकल कर गुदा में मिलती हैं, जिनसे मलमूत्र का प्रस्रवण उचित रूप से होता है। मनुष्य के शरीर में कफ को धारण करने वाली 25, पित्त को धारण करने वाली 25 और वीर्य को धारण करने वाली 10 शिराएँ होती हैं। पुरुष के शरीर में नौ और स्त्री के शरीर में ग्यारह द्वार (छिद्र) होते हैं। (तन्दु. 108-113)

शरीर का अशुचित्व - इस ग्रंथ में शरीर को सर्वथा अपवित्र और अशुचिमय कहा गया है। शरीर के भीतरी दुर्गंध का ज्ञान नहीं होने के कारण ही पुरुष स्त्री शरीर को रागयुक्त होकर देखता है और चुम्बन आदि के द्वारा शरीर से निकलने वाले अपवित्र स्रावों का पान करता है। (तन्दु. 120-129) इस दुर्गन्धयुक्त नित्य मरण की आशंका वाले शरीर में गृद्ध नहीं होना चाहिए। कफ, पित्त, मूत्र, वसा आदि में राग बढ़ाना उचित नहीं है। जो मल-मूत्र का कुआँ है और जिस पर कृमि सुल-सुल का शब्द करते रहते हैं, उसमें क्या राग करना ? जिसके नौ अथवा ग्यारह द्वारों से अशुचि निकालती रहती है उस पर राग करने का क्या अर्थ है? यहाँ कहते हैं कि तुम्हारा मुख मुखवास से सुवासित है, अंग अगर आदि के उबटन से महक रहे हैं, केश सुगन्धित द्रव्यों से सुगंधित है, तो हे मनुष्य! तेरी अपनी कौन-सी गंध है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते

हैं कि आँख, नाक और कान का मैल, कफ और मल-मूत्र आदि की गंध यही सब तो तेरी अपनी गंध है। (तन्दु. 130-153)

स्त्री शरीर स्वभाव- अनेक कवियों और लेखकों ने स्त्रियों की प्रशंसा में रचनाएँ की हैं परंतु यहाँ कहा गया है कि वास्तव में वे ऐसी नहीं है। वे स्वभाव से कुटिल, अविश्वास का घर, व्याकुल चित्त वाली, हजारों अपराधों की कारणभूत, पुरुषों का वध स्थान, लज्जा की नाशक, कपट का आश्रय स्थान, शोक की जनक, दुराचार का घर, ज्ञान को नष्ट करने वाली, कुपित होने पर जहरिले साँप की तरह, दुष्ट हृदया होने से व्याघ्री की तरह और चंचलता में बंदर की तरह होती हैं। ये नरक की तरह डरावनी, बालक की तरह क्षणभर में प्रसन्न या रुष्ट होने वाली, किंपाक फल की तरह बाहर से अच्छी लगने वाली, किन्तु कटु फल प्रदान करने वाली, अविश्वसनीय, दुःख से पालित, रक्षित और मनुष्य की दृढ़ शत्रु है। ये साँप के समान कुटिल हृदय वाली, मित्र और परिजनों में फूट डालने वाली, कृतघ्न और सर्वाङ्ग जलाने वाली होती है।

इसी संदर्भ में ग्रंथ में उनके नाम की अनेक निर्युक्तियाँ दी गई हैं। पुरुषों का उनके समान अन्य कोई अरि (शत्रु) नहीं होने से वह नारी कही जाती है। नाना प्रकार के पुरुषों को मोहित करने के कारण महिला, पुरुषों को मद युक्त बनाती है इसलिए प्रमदा, महान् कष्ट उत्पन्न कराती है इसलिए महिलिका, योग-नियोग से पुरुषों को वश में करने से योषित कही जाती है। ये स्त्रियाँ विभिन्न हाव-भाव, विलास, श्रृंगार, कटाक्ष, आलिङ्गन द्वारा पुरुषों को आकृष्ट करती है। सैकड़ों दोषों की गागर और अनेक प्रकार से बदनामी का कारण होती है। स्त्रियों के चरित्र को बुद्धिमान पुरुष भी नहीं जान सकते हैं फिर साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है ? इस कारण व्यक्ति को चाहिए कि वह इनका सर्वथा त्याग कर दें। (तन्दु. 154-167)

धर्म का महात्म्य- धर्म रक्षक है, धर्म ही शरणभूत है। धर्म से ही ज्ञान की प्रतिष्ठा होती है और धर्म से ही मोक्ष पर प्राप्त होता है। देवेन्द्र और चक्रवर्तियों के पद भी धर्म के कारण ही प्राप्त होते हैं और अंततः उसी से मुक्ति की प्राप्ति भी होती है। यहीं पर उपसंहार करते हुए कहते है कि इस शरीर का गणित से अर्थ प्रकट कर दिया है अर्थात् विश्लेषण करके उसके स्वरूप को बता दिया गया है जिसे सुनकर जीव सम्यकत्व और मोक्ष रूपी कमल को प्राप्त करता है। (तन्दु. 171-177)

तदुल वैचारिक की गाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन

तदुल वैचारिक–

(1) इमो खलु जीवो अम्मा - पिउसंजोगे माऊओयं पिउसुक्कं तं तदुभयसंसंट्ठ कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहारं आहारित्ता गब्भत्ताए वक्कमइ।

(तंदुलवैचारिकसूत्र - 17)

(2) जीवस्स णं भंते ! गब्भगयस्स समाणस्स अत्थि उच्चारे इ वा पासवणे इ वा खेले वा सिंघाणे इ वा वंते इ वा पित्ते इ वा सुक्के इ वा सोणिए इ वा ? नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ - जीवस्स णं गब्भगयस्स समाणस्स नत्थि उच्चारे इ वा जाव सोणिए इ वा ? गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे जं आहारमाहारेइ तं चिणाइ सोइंदियत्ताए चक्खुइंदियत्ताए घाणिंदियत्ताए जिब्भिदियताए फासिंदियत्ताए। अट्ठि-अट्ठिमिंज-केस-मंसु-रोम-नहत्ताए, से एएणं अट्ठेणं गोयना ! इव वुच्चइ-जीवस्स णं गब्भगयस्स समाणस्स नत्थि उच्चारे इ वा जाव सोणिए इ वा।

(तंदुलवैचारिकसूत्र-20)

(3) जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे पहू मुहेणं कावलियं आहार' आहारित्तए ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइजीवे णं गब्भगए समाणे नो पहू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए ? गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे सव्वओ आहारेइ, सव्वओ परिणामेइ, सव्अओ ऊससइ, सव्वओ नीससइ; अभिक्खणं आहारेइ, अभिक्खणं परिणामेइ, अभिक्खणं ऊससइ, अभिक्खणं नीससइ; आहच्च आहारेइ, आहच्च परिणामेइ, आहच्च ऊससइ, आहच्च नीससइ; से माउजी वर- सहरणी पुत्तजीवरसहरणी माउजोवपडिबद्धा पुत्तजीवंफुडा तम्हा आहारेइ तम्हा परिणामेइ, अवरा वि य णं पुत्तजीवपडिबद्धा माउजीवफुडा तम्हा चिणाइ तम्हा उवचिणाइ, से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइजीवे णं गब्भगए समाणे नो पहू मुहेणं कावलियं आहारं आहारेत्तए।

(तंदुलवैचारिकसूत्र-21)

तुलनीय भगवतीसूत्र

(1) गोयमा ! माउओयं पिउसुक्कं तदुभयसंसिट्ठं कलुसं किव्विसं तप्पढमताए आहारमाहारेति।

(भगवतीसूत्र - 1-7-12)

(2) जीवस्स णं भंते ! गब्भगतस्स समाणस्स अत्यि उच्चारे इ वा पासवणे इ वा खेले इ वा सिंघाणे इ वा वंते इ वा पित्ते इ वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे जमाहारेति तं चिणाइ तं सोतिंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए अट्ठि-अट्ठिमिंज-केस-मंसु-रोम-नहत्ताए, से केणट्ठेणं।

(भगवतीसूत्र - 1-7-14)

(3) जीवे णं भंते ! गब्भगते समाणे पभू मुहेणं कावलियं आहार आहारित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं ? गोयमा ! जीवे णं गब्भगते समाणे सव्वतो आहारेति, सव्वतो परिणामेति, सव्वतो उस्ससति, सव्वतो निस्ससति, अभिक्खणं आहारेतिं, अभिक्खणं परिणामेतिं, अभिक्खणं उस्ससति, अभिक्खणं निस्ससति, आहच्च आहारेति, आहच्च परिणामेति, आहच्च उस्ससति, आहच्च निस्ससति। मातुजीवरसहरणी पुत्तजीवरस-हरणी मातुजीवपडिबद्धा पुत्तजीवं फुडा तम्हा आहारेइ, तम्हा परिणामेति, अवरा वि य णं पुत्तजीव पंडिबद्धा माउजीवफुडा तम्हा चिणाति, तम्हा उवचिणा सूति, से तेणट्ठेणं जाव नो पभू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए।

(भगवतीसूत्र - 1-7-15)

(4) जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे किमाहारं आहारेइ ? गोयमा ! जं से माया नाणाविहाओ रसविगईओ तित्त-कडुय-कसायंबिल-महुराइ दव्वाइं आहारेइ तओ एगदेसेणं ओयमाहारेइ।

(तंदुलवैचारिकसूत्र-22)

(5) कइ णं भंते ! माउअंगा पण्णत्ता ? गोयमा ! तओ माउअंगा पण्णत्ता, तं जहा - मंसे 1 सोणिए 2 मत्थुलुंगे 3। कइ णं भंते ! पिउअंगा पण्णत्ता ? गोयमा ! तओ पिउअंगा पण्णत्ता, तंजहा - अट्ठि 1 अट्ठिमिंजा 2 केस-मंसु-रोम-नहा 3।

(तंदुलवैचारिकसूत्र-25)

(6) जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे नरएसु उववज्जिज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवे णं गब्भगए समाणे नरएसु अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए, नो उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जे णं जीवे गब्भगए समाणे सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए वेउव्विअलद्धीए वेउव्वियलद्धिपत्ते पराणीअं आगयं सोच्चा निसम्म पएसे निच्छुहइ, 2 त्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, 2 त्ता चाउरंगिणिं सेन्नं सन्नाहेइ, सन्नाहित्ता पराणीएण सद्धिं संगामं संगामेइ, से णं जीवे अत्थकामए रज्जकामए भोगकामए कामकामए, अत्थकंखिए, रज्जकंखिए भोगकंखिए कामकंखिए, अत्थपिवासिए रज्जपिवासिए भोगपिवासिए कामपिवासिए तच्चित्तं तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते. तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए, एयंसि च णं अंतरंसि कालं करेज्जा नेरइएसु उववज्जेज्जा, से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जीवे ण गब्भगए समाणे नेरइएसु अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

(तंदुलवैचारिक, सूत्र-26)

(4) जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे किमाहारमाहारेति ? गोयमा ! जं से माता नाणाविहाओ रसविगतीओ आहारमाहारेति तदेक्कदेसेणं ओयमाहारेति।

(भगवतीसूत्र - 1-7-13)

(5) कति णं भंते ! मातिअंगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ मतिअंगा पण्णत्ता। तंजहा - मंसे सोणिते मत्थुलुंगे।

कति णं भंते ! पितियंगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ पेतिअंगा पण्णत्ता। तंजहा - अट्ठि अट्ठिमिंजा केस-मंसु-रोम-नहे।

(भगवतीसूत्र - 1-7-16-17)

(6) (1) जीवे णं भंते ! गब्भगते समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

(2) से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! से णं सन्नी पचिंदिए सव्वाहिं पज्जतीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए पराणीअं आगयं सोच्चा निसम्म पदेसे निच्छुभति, 2 वेउव्वियसमुग्धाएणं समोहण्णइ, वेउव्वियसमुग्धाएणं समोहण्णित्ता चाउरंगिणिं सेणं विउव्वइ, चाउरंगिणिं सेणं विउव्वेत्ता चाउरंगिणीए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ, सेणं जीवे अत्थकामए रज्जकामए भोगकामए, कामकामए अत्थकंखिए रज्जकंखिए भोगकंखिए कामकंखिए अत्थकंखिए अत्थपिवासिते, रज्जपिवासिते भोगपिवासिते कामपिवासिते तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पित्तकरणे तब्भावणाभाविते एतंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज नेरतिएसु उववज्जइ; से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए तो उवज्जेज्जा।

(भगवतीसूत्र - 1-7-19)

(7) जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे देवलोएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्ज अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जे णं जीवे गब्भगए समाणे सण्णी पंचिंदिए सव्वहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वेउव्वियलद्धीए वीरियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए तहारुवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म तओ से भवइ तिव्वसंवेगसंजायसड्ढे तिव्वधम्माणुरायरत्ते, से णं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए, धम्मकंखिए पुन्नकंखिए सग्गकंखिए, मोक्खकंखिए, धम्मपिवासिए पुन्नपिवासिए सग्गपिवासिए मोक्खपिवासिए, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिवज्झवसाणे तदप्पियकरणे तदट्ठोवउत्ते तब्भावणाभाविए, एयंसि णं अंतरंसि कालं करेज्जा देवलोएसु उववज्जेज्जा, से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-अत्थेगइए उववज्जेज्जा, से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

(तंदुलवैचारिकसूत्र-27)

(8) जीणे णं भंते ! गब्भगए समाणे उत्ताणए वा पासिल्लए वा अंबखुज्जए वा अच्छेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा निसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा आसएज्ज वा सएज्ज वा माउए सुयमाणीए सुयइ जागरमाणीए जगरइ सुहिआए सुहिओ भवइ दुहिआए दुहिओ भवइ ? हंता गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे उत्ताणए वा जाव दुक्खिआए दुक्खिओ भवइ।

(तंदुलवैचारिकसूत्र - 28)

(9) आउसो ! तओ नवमे मासे तीए वा पडुप्पन्ने वा अणागए वा चउण्हं माया अन्नयरं पयायइ। तं जहा-इत्थिं वा इत्थिरुवेणं 1 पुरिसं वा पुरिसरूवेणं 2 नपुंसगं वा नपुंसगरुवेणं 3 बिंबं वा बिंबरूवेणं 4।

(तंदुलवैचारिकसूत्र-34)

(10) अप्पं सुक्कं बहुं ओयं इत्थीया तत्थ जायई।
अप्पं ओयं बहुं सुक्कं पुरिसो तत्थ जायई।

(तंदुलवैचारिकगाथा-35)

(7) जीवे णं भंते ! गब्भगते समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अत्येगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

से केणट्ठेणं ? गोयमा ! से णं सन्नी पंचिदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म ततो भवति संवेगजातसड्ढे तिव्वधम्माणुरागरत्ते, से णं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए, धम्मकंखिए, पुण्णकंखिए सग्गकंखिए, मोक्खकंखिए धम्मपिवासिए पुण्ण-पिवासिए सग्गपिवासिए मोक्खपिवासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिते ततिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पित्तकरणे तब्भावणाभ्रविते एयंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज देवलोएसु उववज्जति; से तेणट्ठेणं गोयमा !

(भगवतीसूत्र - 1-7-20)

(8) जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे उत्ताणए वा पासिल्लए वा अंबखुज्जए वा अच्छेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा निसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा मातुए सुवमाणीए सुवति, जागरमाणीए जागरति सुहियाए सुहिते भवइ दुहिताए दुहिए भवति ?

हंता, गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे जाव दुहियाए भवति।

(भगवतीसूत्र - 1-7-21)

(9) चत्तारि मणुस्सीगब्भा पण्णत्ता, तंजहा - इत्थित्ताए, पुरिसत्ताए, णपुंसगत्ताते, बिंबत्ताए।

(स्थानांगसूत्र-4-4-642)

(10) अप्पं सुक्कं बहुं ओयं इत्थी तत्थ पजायति।

अप्पं ओयं बहुं सुक्कं पुरिसो तत्थ जायति॥

(स्थानांगसूत्र - 4-4-642) (संग्रहणी गाथा)

(11) दोण्हं पि रत्त-सुक्काणं तुल्लभावे नपुंसगो।
इत्थीओयसमाओगे बिंब तत्थ पजायइ॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा-36)

(12) आउसो ! एवं जायस्स जंतुस्स कमेण दस दसाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा-
बाला 1 किड्डा 2 मंदा 3 बला 4 य पन्ना 5 य हायणि 6 पवंचा 7।
पब्भारा 8 मुम्मुही 9 सायणी य 10 दसमा 10 य कालदसा॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा - 45)

(13) जायमित्तस्स जंतुस्स जा सा पढमिया दसा।
न तत्थ सुक्ख दुक्खं वा छुहं जाणंति बालया 1॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा-46)

(14) बीयं च दसं पत्तो नाणाकीडाहिं कीडई।
न य से कामभोगेसु तिव्वा उप्पज्जए मई 2॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा-44)

(15) तइयं च दसं पत्तो पंच कामगुणे नरो।
समत्थो भुंजिउं भोगे जइ से अत्थि घरे धुवा 3॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा-48)

(16) चउत्थी उ बला नाम जं नरो दसमस्सिओ।
समत्थो बलं दरिसेउं जइ सो भवे निरुवद्दवो 4॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा-49)

(17) पंचमी उ दसं पत्तो आणुपुव्वीइ जो नरो।
समत्थो अत्थं विचिंतेउं कुडुंबं चाभिगच्छई 5॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा-50)

(18) छट्ठी उ हायणी नाम जं नरो दसमस्सिओ।
विरज्जइ काम-भोगेसु, इंदिएसु य हायई 6॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा-51)

(11) दोण्हं पि रत्तसुक्काणं तुल्लभावे णपुंसगो।
इत्थी-ओय-समाओगे, बिंब तत्थ पजायइ॥
(स्थानांगसूत्र - 4-4-642) (संग्रहणी गाथा)

(12) वाससताउयस्स णं पुरिसस्स दस दसाओ पण्णत्ताओ, तंजहा-संग्रह श्लोक-
बाला किड्डा य मंदा य बला पण्णा य हायणी
पवंचा पब्भारा य मुम्मुही सायणी तधा॥
(स्थानांगसूत्र - 10-10-154)

(13) जा यमित्तस्स जंतुस्स जा सा पढमिया दसा।
ण तत्थ सुहदुक्खाइं बहु जाणंति बालया 1॥
(दशवैकालिक हारिभद्रीअ वृत्ति पत्र 8;9)

(14) बीयइं च दसं पत्तो णाणाकिड्डाहिं किड्डइ।
न तत्थ कामभोगेहिं तिव्वा उप्पज्जए मई ॥
(ठाणं -नथ. पृ. 1015)

(15) तइयं च दसं पत्तो पंच कामगुणे नरो।
समत्थो भुंजिउं भोए जइ से अत्थि धरे धुवा॥
(ठाणं - पृ. 1015)

(16) चउत्थी उ बला नाम जं नरो दसमस्सिओ।
समत्थो बलं दरिसेऊं जइ होइ निरूवद्दवो
(ठाणं - पृ. 1015)

(17) पंचमी तु दसं पत्तो आणुपुव्वीइ जो नरो।
इच्छियत्थं विचिंतेइ कुडुंबं वाऽभिकंखई॥
(ठाणं - पृ. 1015)

(18) छट्ठी उ हायणी नाम जं नरो दसमस्सिओ।
विरज्जइ य कामेसु इदिंएसु य हायई॥
(ठाण - पृ. 1015)

(19) सत्तमी य पवंचा उ जं नरो दसमस्सिओ।
निट्ठुभइ चिकणं खेलं खासई य खणे खणे 7॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा-52)

(20) संकुइयवलीचम्मो संपत्तो अट्ठमिं दसं।
नारीणं च अणिट्ठो उ जराए परिणामिओ 8॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा-53)

(21) नवमी मुम्मुही नामं जं नरो दसमस्सिओ।
जराधरे विणस्संते जीवो वसइ अकामओ 9॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा-54)

(22) हीण-भिन्नसरो दीणो विवरीओ विचित्तओ।
दुब्बलो दुक्खिओ सुयइ संपत्तो दसमिं दसं 10॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा-55)

(23) पुण्णाइं खलु आउसो ! किच्चाइं करणिज्जाइं पीइकराइं वन्नकराइं धणकराइं किंत्तिंकराइं। नो य खलु आउसो ! एवं चिंतेयव्वं - एसिंति खलु बहवे समया आवलिया खणा आणापाणू थोवा लवा मुहुत्ता दिवसा अहोरत्ता पक्खा मासा रिऊ अयणा संवच्छरा जुगा वाससया वाससहस्सा वाससयसहस्सा, वासकोडीओ .....

(तंदुलवैचारिक, सूत्र-64)

(24) ते णं मणुया अणतिवरसोम-चारुरूवा भोगत्तमा भोगलक्खणधरा सुजायसव्वंगसुंदरगां रत्तुप्पल-पउमकर-चरणकोमलंगुलितना नग-णगर-मगर-सागरचक्कंधरंकलक्खणंकियतला सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा अणु- पुव्विसुजाय-पीवरंगुलिया उन्नय-तणु-तंब-निद्धनहा संठिय-सुसिलिट्ठ-गूढ-गोप्फा एणी-कुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्विजंघा सामुग्गनिमग्गगूढजाणू गयससण सुजायसन्निभोरु वरवारणमत्ततुल्लविक्कम-विलासियगई सुजायवरतुरयगुज्झदेसा आइन्नहउ व्व निरुवलेवा पमुइयवरतुरग-सीहअइरेगवट्टियकडी साहयसोणंद-मुसलदप्पण-निगरियवरकणच्छतरुण-बोहिय' उक्कोसायंतपउमगंभीर -वियडनाभी उज्जुय-

19. सत्तमिं च दसं पत्तो आणुपुव्वीइ जो नरो।
निट्ठुहइ चिक्कणं खेलं खाइस य अभिक्खणं॥

-(ठाणं - पृ. 1015)

20. संकुचियवलीचम्मो संपत्तो अट्ठमिं दसं।
णारीणमणभिप्पेओ जराए परिणामिओ॥

(ठाणं-पृ. 1015)

21. णवमी मम्मुही नाम जं नरो दसमस्सिओ।
जराघरे विणस्संतो जीवो वसइ अकामओ॥

(ठाणं-पृ. 1015)

22. हीणभिन्नसरो दीणो विवरीओ विचित्तओ।
दुब्बलो दुक्खिओ सुवइ संपत्तो दसमिं दसं॥

(ठाणं-पृ. 1015)

(दशवै हारिभद्रीय वृत्ति 8,9)

23. असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमितिसमागमेणं सा एगा आवलि अतिवुच्चइ संखेज्जाओ आवलियाओ ऊसासो, संखिज्जाओ आवलियाओ नीसासो हट्ठस्स अणवगल्लस्स, निरुवक्किट्ठस्स जंतुणो। एगे ऊसासनीसासे एस पाणु त्तिं वुच्चइ। सत्तपाणूणि से थोवे ..... लवे ..... मुहुत्ते ..... अहोरत्तं ..... पक्खा ..... मासा ..... उऊ ..... अयणं ..... संवच्छरे ..... जुगे ..... वाससयं..... वाससहस्सं ..... वाससयसहस्सं .....।

(अनुयोगद्वार - भाग 2 घासी., पृ. 248)

अथवा

पुव्वाणुपुव्वी समए आवलिया आणापाणू थोवे लवे मुहुत्ते दिवसे अहोरत्ते पक्खे मासे उदू अयणे संवच्छरे जुगे वाससए वाससहस्से वाससतसहस्से।

(अनुयोगद्वार-मधु. पृ. 127)

24. णरगणा भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा ..... सुजायसव्वंगसुंदरंगा रत्तुप्पलपत्तकंतकर चरणकोमलतला सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा अणुपुव्व

सुसंहयंगुलीया उण्णयतणुतंबणिद्धणक्खा संठिय सुसिलिट्ठगूढगुफा एणीकुरुविदंवत्तवट्टाणुपुव्विजंघा समुग्गणिसग्गगूढजाणू वरवारणमत्त-तुल्लविक्कमविलासियगई वरतुरगसुजायगुज्झदेसा आइण्णहयव्वणिरुवलेवा पमुइयवर-समसहिय-सुजाव-जच्च - तणु-कसिणनिद्ध -आएज्ज- लडह-सुकुमाल-मउय रमणिज जरोमराई झस-विहगसुजाय-पीणकुच्छी झसोयरा पम्हवियडनाभा संगयपासा सन्नयपासा सुंदरपासा सुजायपासा मियमाइय-पीण-रइयपासा अकरंडुयकणगरुयग- निम्मल-सुजाय-निरुवहय-देहधारी पसत्थ-बत्तीसलक्खणधरा कणगसिलायलुज्जलपसत्थ समतल उवचिय वित्थिन्नपिहुलवच्छा सिरिवच्छंकियवच्छा पुरवरफलिहवट्टियभुया भुयगीसरविउलभोगआयाणफलिह - उच्छूढदीहबाहू जुगसन्निभपीण - रइय - पीवरपउट्ठसंठिय - उवचिय - घण - थिर - सुबद्ध - सुवट्ट - सुसिलिट्ठ लट्ठपव्वसंधी रत्ततलोवचिय-मयउ-मंसल-सुजाय- लक्खणपसत्थअच्छिद्द - जालपाणी पीवर-वट्टिय-सुजाय-कोमलवरंगुलिया तंब-तलिण- सुइरुइरनिद्धनक्खा चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा वरमहिसवराह-सीह-सद्दूल- उसभ नागवरविउल-पडिपुन्न-उन्नय - मउदक्खंधा चउरंगुलसुपमाण - कंबुवरसरिसगीवा अवट्ठिय - सुविभत्त - चित्तमंसू मंसल- संठिय - पसत्थ - सद्दूलविउलहणुआ ओयवियसिलप्पवाल - बिंबफलसन्निभाधरुट्ठा पंडुरससिसगलविमल - निम्मलसंख - गोखीरकुंद - दगरय - मुणालिया - धवलदंतसेढी अखंडदंता अफुडियदंता अविरलदंता सुनिद्धंता सुजायदंता एगदंतसेढी विव अणेगदंता हुयवहनिद्धंत - धोय - तत्ततवणि - ज्जरत्ततल तालुजीहा सारसनवथणियमहुरगंभीर - कुंचनिग्घोस - दुंदुहिसरा गरुलायय - उज्जु - तुंगनासा अवदारिअपुंडरीयवयणा कोकासियधवल-पुंडरीयपत्तलच्छा अनामियचावरुइल-किण्हचिहुरराइसुसंठिय - संगय - आयय - सुजायभुमया अल्लीण- पमाणजुत्तसवणा सुसवणापीणमंसलकवोलदेस-भागा अइरुग्गय- समग्ग- सुनिद्धचंदद्धसंठियनिडाला उडुवइपडिपुन्नसोमवयणा छत्तागारुत्तमंगदेसा घण-निचिय- सुबद्ध लक्खणुन्नय - कूडागार (निभ-) निरुपवपिंडियऽग्गसिरा हुयवहनिद्धंत-धोय- तत्ततवणिज्जकेसंतक्केसभूमी सामलीबोंडघण- निचियच्छोडिय - मिउ - विसय - सुहुम - लक्खणपसत्थ - सुगंधि - सुंदर - भुयमोयग - भिंग - नील - कज्जल - पहट्ठभमरगणनिद्ध- निउरंबनिचिय - कुंचिय - पयाहिणावत्तमुद्ध- सिरया लक्खण - वंजणगुणोववेया

माणुम्माणपमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंग - सुंदरंगा ससिसोमागारा कंता पियदंसणा सब्भावसिंगारचारुरूवा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा॥

तुरगसीहअइरेगवट्टियकड़ी गंगावत्तदाहिणावत्ततरंगभंगुर-रविकिरण-बोहियविकोसायंतपम्हगंभोर वियडनाभी .... उज्जुगससहिय जच्चतणुकसिणिद्ध-आइज्जलडहसूमालमउयरोमराइ झस-विहगसुजायपीणकुच्छी झसोयरा पम्हविगडनाभी संणयपासा संगयपासा संगयपासा सुंदरपासा सुजायपासा मियमाइय-पीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयगणिम्मलसुजायणिरुवहय-देहधारी कणगसिला-तलपसत्थ - समतल - उवइय-वित्थिण्णपिहुलवच्छा जुयसण्णिभपी- णरइयपीवरप-उट्ठसंठिय- सुसिलिट्ठविसिट्ठसुणिचियघणथिर-सुबद्धंधी पूरवरफलिहवट्टियभूया।

भुयईसरविउल - भोगआयाणफलिउच्छूढदीहबाहू रत्ततलोवतियमउय-मंसलसुजाय - लक्खणपसत्थ - अच्छिद्दजालपाणी पीवरसुजाय - कोमलवरंगुली तंब - तलिण - सुइरुइलणिद्धणक्खा णिद्धाणिलेहा चंदपाहिलेहा, सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा दिसासोवत्थियपाणिलेहा - रवि - ससि - संखवर - चक्कदिसासो - वत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा वरमहिसवराहसीहसद्दूल - रिसहणागवरपडिपुण्णविउलखंधा वरमहिसवराहसीहसद्दूल-अवट्टियसुविभत्तचित्तमंसू उवचियमंसल - पसत्थसद्दूलविउलहणुया ओयविय-सिलप्पवालबिंबफलसण्णिभाधरोट्ठा पंडुरससिसकलविमलसंखगोखीरफेण-कुंददगरयमुणालिया-धवलदंतसेढी अखंडदंता अप्फुडियदंता अविरलदंता सुणिद्धदंता सुजायदंता एगदंतसेढिव्व अणेगदंता हुयवहणिद्धं तधोयतत्ततवणिज्जरत्ततला तालुजीहा गरुलायतउज्जुतुंगणासा अवदालियपोंडरीयणयणा कोकासियधवलपत्तलच्छा आणामिय चावरुइलकिण्हब्भराजिसंठियसंगयायसुजाय-भुमगा अल्लीणपमा णजुत्तसवणा सुसवणा पीणमंसल- कवोलदेसभागा अचिरुग्गयबालचंदसंठियमहाणिलाडा उड्डवइरिवपडिपुण्ण- सोमवयणा छत्तागारुत्तमंगदेसा घणणिचियसु बद्धलक्खणुण्णयकूडागारणिसोमवयणा छत्तागारुत्तमंगदेसा घणणिचियसु बद्धलक्खणुण्णयकूडागारणि- भपिंडियग्गसिरा हुयवहणिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्त केसंतकेसभूमी सामलीपोंडवणणिचियछोडियमिउवि - सतपसत्थसुहुम - लक्खण - सुंगधिसुंदरभुय - मोयगभिंगणीलकज्जलापहट्ठभमरगणि- द्धणिगुरुंबणिचिय कुंचियपयाहिणावत्त- मुद्धसिरया ...

(25) ते णं मणुया ओहस्सरा मेहस्सरा हंसस्सरा कोंचस्सरा नंदिस्सरा नंदिघोसा सीहस्सरा सीहघोसा मंजुस्सरा मंजुघोसा सुस्सरा सुस्सरघोसा अणुलोमवाउवेगा कंकग्गहणी कवोयपरिणामा सउणिप्फोस-पिट्ठंतरोरुपरिणया पउमुप्पल गंधसरिसनीसासा सुरभिवयणा छवी निरायंका उत्तम - पसत्थाऽइससे - निरुवमत - जल्लमल - कलंक - सेय-रय - दोसवज्जियसरीरा निरुवलेवा छायाउज्जोवियंगमंगा वज्जरिसहनारायसंघयणा समचउरंससंठाणसंठिया...।

(तंदुलवैचारिक, सूत्र-67)

(26) आसी य समणाउसो! पुव्विं मणुयाणं छव्विहे संघयणे। तं जहा- वज्जरिसहनाराय-संघयणे 1 रिसहनारायसंघयणे 2 नारायसंघयणे 3 अद्धनारायसंघयणे 4 कीलियासंघयणे 5 छेवट्टसंघयणे 6। संपइ खलु आउसो! मणुयाणं छेवट्ठे संघयणे वट्टइ।

(तंदुलवैचारिक, सूत्र-69)

(27) आसी य आउसो ! पुव्वि मणुयाणं छव्विहे संठाणे। तं जहा-सम-चउरंसे 1 नग्गोहपरिमंडले 2 सादि 3 खुज्जे 4 वामणे 5 हुंडे 6। संपइ खलु आउसो ! मणुयाणं हुंडे संठाणे वट्टइ।

(तंदुलवैचारिक, सूत्र-70)

(28) आउसो ! से जहानामए केइ पुरिसे ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउय मंगल - पायच्छित्ते सिरंसिण्हाए कंठेमालकड़े, आविद्धमणि - सुवण्णे अहय - सुमहग्घवत्थपरिहिए चंदणोक्किण्णगायसरीरे सरससुरहिगंधगोसीसचंद-णाणुलित्तगत्ते सुइमालावन्नग - विलेवणे कप्पियहारऽद्धहार-तिसरय-पालंबपलं-बमाणकडिसुत्तयसुकयसोहे पिणद्धगेविज्जे अंगुलेज्जगललियंगयललियकयाभरणे नाणामणि-कणग-रयणकडग-तुडियथंभियभुए अहियरूवसस्सिरीए कुंडलुज्जोवियाणणे मउडदित्तसिरए हारुच्छयसुकय-रइयवच्छे पालंबपलंबमाण - सुकयपड उत्तरिज्जे मुद्दियापिंगलंगुलिए नाणामणिकणग - रयणविमलमहरिह - निउणोविय - मिसिमिसिंत - विरइय - सुसिलिट्ठ - विसिट्ठ - लट्ठआविद्धवीरवलए। किं बहुणा ? कप्परुक्खए चेव अलंकिय - विभूसिए सुइपए भवत्ता...

(तंदुलवैचारिक, सूत्र-76)

(25) अरहा जिणे केवली, सत्तहत्थुस्सेहे समचउरसंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे अणुलोमवाउवेगे कंकगहणी कवोयपरिणामे सउणिपोसपिट्ठंतरोरूपरिणए पउमुप्पलगंध- सरिसनिस्सासससुरभिवयणे छवी, निरायंक - उत्तम - पसत्थ - अइसेयनिरुवमपले, जल्ल-मल्ल-कंलक-सेय-रय-दोसवज्जिय-सरीसनिरूवलेवे छायाउज्जोइयंगमंगे....।

(औपपातिक सूत्र - मधु. पृ. 16)

(26) छव्विहे संघयणे पण्णत्ते तंजहा - वइरोसभ - णाराय - संघयणे, उसभणाराय-संघयणे, णारायसंघयणे, अद्धाणारायसंघयणे, खीलिया - संघयणे, छेवट्टसंघयणे।

(स्थानांग - मधु, पृ. 541-30)

(27) छव्विहे संठाणे पण्णत्ते, तंजहा - समचउरंसे, णग्गोहपरिमंडले, साई, खुज्जे, वामणे, हुंडे।

(स्थानांग - मधु, पृ. 541-31)

(28) तत्थ कोउसयएहिं बहुविहेहिं कल्लाणग-पवर-मज्जणा-वसाणे पम्हल-सुकुमाल-गंध-कासाइय-लूहियंगे सरस-सुरहि-गोसीस-चंदणा-णुलित्त-गत्ते अहय - सुमहग्घ - दूस - रयण - सुसंवुए सुइमाला - वण्णग - विलेवणे आविद्ध - मर्णिसुवण्णे कप्पिय-हार-द्धहार - तिसरय - पालंब - पलंबमाण - कडिसुत्त - सुकय - सोभे पिणद्ध-गेविज्ज-अंगुलिज्जग-ललियंगयललिय-कया-भरणे वर-कडग-तुडिय- थंभिय- भूए अहिय - रूब - सस्सिरीए मुद्दिया - पिंगलं - गुलिए कुंडल - उज्जोविया- णणे मउडदित्त - सिरए हारोत्थय - सुकय - रइय - वच्छे पालंब - पलंबमाण - पड - सुकय - उत्तरिज्जे णाणा - मणि - कणग - रयण -विमल - महरिह - णिउणो - विय- मिसिमिसंत - विरइय - सुसिलिट्ठ - सुसिलिट्ठ - विसिट्ठ - लट्ठ - संठिय - पसत्थ - आविद्ध-वीर-वलए।

किं बहुणा! कप्परुक्खए चेव अलंकिय - विभूसिए णरवई.....

(औपपातिक - घासी., पृ. 394-सूत्र 99)

(29) कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समयं तु।
समया व असंखेज्जा हवंति उस्सास - निस्सासे॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा - 82)

(30) हट्ठस्स अणवगल्लस्स निरुवकिट्ठस जंतुणो।
एगे ऊसास - नीसासे एस पाणु त्ति वुच्चई॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा - 82)

(31) सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे।
लवाणं सत्तहत्तरिए एस मुहुत्ते वियाहिए॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा - 84)

एगमेगस्स णं भंते! मुहुत्तस्स केवइया ऊसासा वियाहिया? गोयमा!

(32) तिन्नि सहस्सा सत्त य सयाइं तेवत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो भणिओ सव्वेहिं अणंतनाणीहिं॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा - 84)

(33) दो नालिया मुहुत्तो, सट्ठि पुण नालिया आहोरत्तो।
पन्नरस अहोरत्ता पक्खो, पक्खा दुवे मासो॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा - 86)

(34) आउसो ! जं पि य इमं सरीरं इट्ठं पियं कंतं मणुण्णं मणामं मणाभिरामं थेज्जं वेसासियं सम्मयं बहुमयं अणुमयं भंडकरंडगसमाणं, रयणकरंडओ विवसुसंगोवियं, चेलपेडा विव सुसंपरिवुडं, तेल्लपेडा विव सुसंगोवियं 'मा णं उण्हं मा णं सीयं मा णं खुहा मा णं पिवासा मा णं चोरा मा णं वाला मा णं दंसा मा णं मसगा मा णं वाइय-पित्तिय-सिंभिय-सन्निवाइया विविहा रोगायंका फुसंतुत्ति कट्टु। एवं पि याइं अधुवं अनिययं असासयं चओ वचइयं विप्पणासधम्मं, पच्छा व पुरा व अवस्स विप्पचइयव्वं॥

(तंदुलवैचारिक, गाथा - 84)

(29) असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिति - समागमेणं सा एगा आवलि अत्तिवुच्चइ, संखेज्जाओ आवलियाओ ऊसासो, संखिज्जाओ आवलियाओ नीसासो।

(30) हट्ठस्स अणवगल्लस्स, निरुवकिट्ठस्स जंतुणो।
एगे ऊसास - नीसासे, एस पाणु त्ति वुच्चइ॥

(31) सत्त पाणुणि से थोवे सत्त थोवाणि से लवे।
लवाणं सत्तहत्तरिए एस मुहुत्ते वियाहिए॥

(अनुयोगद्वार-घासी., पृ. 248)

(32) तिण्णि सहस्सा सत्त य सयाइं तेहुत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो भणिओ, सव्वेहिं अणंतनाणीहिं॥

(अनुयोगद्वार-घासी., पृ. 248)

(33) एएणं मुहुत्त - पामाणेणं तीसं मुहुत्ता अहोरत्तं।
पण्णरस अहोरत्ता पक्खा, दो पक्खा मासा॥

(अनुयोगद्वार-घासी., II -248)

(34) जं पि य इमं सरीरं इट्ठं, कंतं, पियं मणुण्णं मणामं, पेज्जं, थेज्जं, वेसासियं संयमं बहुमयं अणुमयं भंडकरंडगसमाणं मा णं सीयं मा णं उण्हं मा णं खुहा मा णं पिवासा, मा णं वाला मा णं चोरा मा णं दंसा मा णं मसगा, मा णं वाइयपित्तियसंनिवाइय विविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु त्ति कट्टु .....

(औपपातिकसूत्र - मधु., पृ. 138)

तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक की विषय वस्तु को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :-

(1) मानवजीवन की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण

(2) मानव शरीर - रचना और

(3) स्त्रीचरित्र का विवेचन

उपरोक्त तथ्यों की तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विवेचना के संदर्भ में सर्वप्रथम तंदुलवैचारिक की मूलभूत दृष्टि को समझ लेना अति आवश्यक है। तंदुलवैचारिक मूलतः श्रमण परंपरा का अध्यात्म और वैराग्य प्रधान ग्रंथ है। यह सत्य है कि उसमें मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण एवं मानव शरीर-रचना का विवेचन है, किन्तु उस विवेचन का मूल उद्देश्य मानव-शरीरशास्त्र एवं मानव-जीवन के स्वरूप को समझा कर, व्यक्ति की वैराग्य की दिशा में प्रेरित करना है। हमें यह ध्यान में रखना होगा कि तंदुलवैचारिक का लेखक शरीर रचना विज्ञान का अध्यापक में होकर एक ऐसा भिक्षुक है जो जन-जन को त्याग और वैराग्य की दिशा में प्रेरित करना चाहता है। उसका उद्देश्य शरीर एवं मानव जीवन के घृणित और नश्वर स्वरूप को उभार कर श्रोता के मन में शरीर के प्रति निर्ममत्त्व जाग्रत करना है। इसलिए प्रत्येक चर्चा के पश्चात् वह यही कहता है कि इस नश्वर एवं घृणित शरीर के प्रति मोह नहीं करना चाहिए। वस्तुतः मानव जीवन में जितने भी पाप या दुराचरण होते हैं अथवा नैतिक मर्यादाओं का भंग होता है, उसके पीछे मनुष्य की देहासक्ति और इन्द्रियपोषण की प्रवृत्ति ही मुख्य है। तंदुलवैचारिक का रचनाकार साधक को देहासक्ति और इन्द्रियपोषण की इस प्रवृत्ति से विमुख करना चाहता है। यही कारण है कि उसने शरीर-रचना के उस पक्ष को अधिक उभारा है जिसे पढ़कर या सुनकर मनुष्यों में देह के प्रति आसक्ति समाप्त हो और विरक्ति जाग्रत हो।

मानव शरीर की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण भी मूलतः इसी उद्देश्य से किया गया है कि मनुष्य वैराग्य की दिशा में अग्रसर हो। मानव जीवन की दस दशाओं का विवेचन जैन परंपरा में सर्वप्रथम स्थानांग सूत्र में उपलब्ध होता है किन्तु उसके मूल पाठ में केवल दस दशाओं का नामोल्लेख मात्र है, प्रत्येक दशा का विशिष्ट विवरण उपलब्ध नहीं है। यदि हम तंदुलवैचारिक को निर्युक्ति के पूर्व की रचना मानते है तो

हमें यह मानना होगा कि इन दस दशाओं का विस्तृत विवरण सर्वप्रथम तंदुलवैचारिक में ही किया गया होगा। तंदुलवैचारिक के अतिरिक्त दशवैकालिक निर्युक्ति की दसवीं गाथा में इन दस दशाओं का नामोल्लेख है। सर्वप्रथम हरिभद्र ने दशवैकालिक की टीका में पूर्वमुनि-रचित इस गाथाओं को उद्धृत किया है। वे ही गाथाएँ अभयदेव ने अपनी स्थानांग वृत्ति में भी उद्धृत की है। हमें ऐसा लगता है कि आचार्य हरिभद्र और आचार्य अभयदेव दोनों ने ही ये गाथाएँ तंदुलवैचारिक से ही उद्धृत की होगी। दशवैकालिक की हरिभद्रीय टीका तथा स्थानांग की अभयदेववृत्ति में ये गाथाएँ शब्दशः समान पाई जाती हैं। हरिभद्र द्वारा इन्हें पूर्वाचार्य कृत कहने से स्पष्ट है कि उन्होंने इन्हें तंदुलवैचारिक से ही लिया होगा। कालिक दृष्टि से भी तंदुल-वैचारिक की उपस्थिति के संकेत तो पाँचवीं शती से मिलते हैं जबकि हरिभद्र आठवीं शती के हैं।

इन दस दशाओं की विवेचना पर यदि हम गंभीरता से विचार करें, तो यह पाते हैं कि इनमें से पाँच दशाएँ शरीर और चेनता के विकास को सूचित करती है और अंत की पाँच दशाएँ क्रमशः शरीर एवं चेतना के ह्रास को सूचित करती है। वस्तुतः यह मानव जीवन का यथार्थ है कि प्रथमतः मनुष्य के शरीर और बुद्धितत्त्व में क्रमशः विकास होता है और फिर उसमें क्रमशः ह्रास होता है। सामान्यतया तंदुलवैचारिक का रचनाकार तथा हरिभद्र एवं अभयदेव इन दस दशाओं के विवेचन के संदर्भ में समान दृष्टिकोण रखते हैं। फिर भी जहाँ हरिभद्र ने नवीं दशा को मृन्मुखी और दसवीं दशा को शायिनी बताया है वहाँ अभयदेव नवीं दशा को मुङ्मुखी और दसवीं दशा को शायनी कहते हैं। दशाओं का यह विवेचन अनुभव के स्तर पर भी खरा उतरता है। तंदुलवैचारिककार इन दशाओं के चित्रण के माध्यम से यही बताना चाहता है कि मनुष्य जिस देह के साथ अत्यंत आसक्ति रखता है, वह देह किस प्रकार विकसित होती है और कैसे ह्रास को प्राप्त होकर नष्ट हो जाती है।

तंदुलवैचारिक में इन दस दशाओं के विवेचन के पूर्व मनुष्य की गर्भावस्था और उसमें होने वाले विकास का चित्रण किया गया है। गर्भावस्था के इस चित्रण में ग्रंथाकार ने वही विवरण दिया है जो जैन और जैनेत्तर परंपराओं में सामान्यतया हमें उपलब्ध हो जाता है। इसमें गर्भाधान से लेकर जन्म तक की समस्त विकास प्रक्रिया को दिखाया गया है कि गर्भावस्था में मनुष्य की स्थिति कैसी -कैसी होती है एवं उसकी शरीर-रचना और उसके व्यक्तित्व के निर्माण में किसका क्या सहयोग होता है, यह भी

वहाँ चित्रित किया गया है। इस समग्र चिंतन को भी हमें उसी दृष्टि से देखना होगा कि मानव जीवन की इस नश्वरता, क्षणभंगुरता और अशुचित्ता से मनुष्य को कैसे मुक्त किया जा सके ?

गर्भावस्था का यह चित्रण समकालीन मानव शरीर-रचना-विज्ञान से अनेक बातों में संगति रखता है। विशेष रूप से स्त्री-पुरुष की गर्भाधान सामर्थ्य, प्रत्येक माह में होने वाला गर्भ का क्रमिक विकास आदि। यद्यपि इस संदर्भ में प्रस्तुत सभी तथ्य आज वैज्ञानिको से पूर्णतया समर्थित है, ऐसा हम नहीं कह सकते किन्तु इसका बहुत कुछ विवरण विज्ञान सम्मत भी है, इससे इंकार भी नहीं किया जा सकता।

शरीर की संरचना के संदर्भ में लेखक ने अनुभूत तथ्यों को ही अपना आधार बनाकर लिखा है किन्तु यह भी सत्य है कि उसमें जो हड्डियों, शिराओं आदि की संस्थाएँ बताई गई हैं वे आधुनिक मानव शरीर विज्ञान से मेल नहीं खाती है। जैसे तंदुलवैचारिक मानव शरीर में 300 हड्डियों की उपस्थिति मानता है जबकि आधुनिक मानव शरीर विज्ञान के अनुसार मनुष्य के शरीर में 252 अस्थियाँ ही पाई जाती है। यही स्थिति शिराओं आदि के संदर्भ में भी समझनी चाहिए। वस्तुतः उस युग में जिस स्तर पर अनुभूति संभव हो सकती थी, उसी स्तर पर रहकर प्रस्तुत ग्रंथ लिखा गया था। फिर भी उसका विवरण लगभग सत्य के निकट ही है। आज मानव शरीर विज्ञान और तंदुलवैचारिक के विवरणों की तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है।

जहाँ तक तंदुलवैचारिक में वर्णित नारी-स्वभाव के चित्रण का प्रश्न है, निश्चय ही स्त्री के चरित्र का इतना विस्तृत, मनोवैज्ञानिक और भाषा-शास्त्रीय विवेचन जैन आगमों में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि सूत्रकृतांग के स्त्री परिज्ञा नामक अध्ययन में हमें सर्वप्रथम नारी-चरित्र का उल्लेख मिलता है, जिसमें मुख्य रूप से यह बतलाया गया है कि स्त्री भिक्षु को अपने पाश में फँसाकर फिर उसके साथ कैसा दुर्व्यवहार करती है। यद्यपि नारी के चरित्र में तंदुलवैचारिक और सूत्रकृतांग दोनों का दृष्टिकोण समान ही है और कुछ स्थलों पर दोनों में शाब्दिक समानता भी पायी जाती है। दोनों ही यह मानते हैं कि नारी-चरित्र को समझ लेना विद्वानों के लिए भी दुष्कर है। फिर भी इतना तो अवश्य मानना ही होगा कि तंदुलवैचारिक का यह विवरण सूत्रकृतांग के स्त्री परिज्ञा के विवरण की अपेक्षा विकसित है और किसी सीमा तक परवर्ती भी।

तंदुलवैचारिक नारी-चरित्र का किस रूप में चित्रण करता है। इसकी चर्चा हम पूर्व में तंदुलवैचारिक की विषयवस्तु के विवरण के समय कर चुके हैं।

यह तो निश्चित ही सत्य है कि तंदुलवैचारिक नारी-चरित्र को एक तरह से निन्दनीय रूप से प्रस्तुत करता है। नारी निंदा की जो सामान्य प्रवृत्ति श्रमण परंपरा में पाई जाती है, तंदुलवैचारिक भी उससे मुक्त नहीं है। यह सत्य है कि तंदुलवैचारिक नारी जीवन के विकृत पक्ष को ही हमारे सामने प्रस्तुत करता है। नारी के पर्यायवाची विभिन्न शब्दों की निर्युक्तियाँ भी उसमें इसी दृष्टिकोण के आधार पर की गई है। किन्तु हमें इस संदर्भ में ग्रंथकार के दृष्टिकोण का सम्यक मूल्यांकन करने की आवश्यकता है।

वस्तुतः श्रमण परंपरा वैराग्य या निवृत्ति प्रधान है। उसका मूलभूत प्रयोजन व्यक्ति को सांसारिक जीवन से विमुख करके सन्यास की दिशा में प्रवृत्त करना है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि शरीर के पश्चात् मनुष्य की आसक्ति का मूलकेन्द्र स्त्री ही होती है। अतः जिस प्रकार ग्रंथ में शारीरिक विकृतियों को उभार कर प्रस्तुत किया गया है, उसी प्रकार इसमें नारी चरित्र की विकृतियों को भी उभार कर प्रस्तुत किया गया ताकि व्यक्ति का उनके प्रति जो रागभाव या आसक्ति है वह टूटे। नारी निंदा के पीछे मूलभूत दृष्टि मनुष्य की कामासक्ति को समाप्त करना है। वहाँ नारी-निन्दा, निन्दा के लिए नहीं है, अपितु पुरुष में वैराग्य के जागरण के लिए है। जैन लेखकों ने अनेक स्थलों पर इस तथ्य को स्वीकार किया है कि जिस प्रकार स्त्री पुरुष को अपने मोह पाश में फँसाकर उसकी दुर्गति करती है, उसी प्रकार पुरुष भी नारी को अपनी वासनापूर्ति का माध्यम बनाकर उसके साथ दुर्व्यवहार करता है। वस्तुतः श्रमण परंपरा में नारी -निंदा को उभर कर सामने आने का मुख्य कारण भारत की पुरुष प्रधान संस्कृति ही है। चूँकि पुरुष प्रधान संस्कृति में समस्त उपदेश पुरुष को ही सामने रखकर दिये जाते हैं, अतः यह स्वाभाविक था कि उसमें नारी-निन्दा को उभार कर सामने लाया गया। सूत्रकृतांग एवं तंदुल- वैचारिक के अतिरिक्त अन्य प्राचीन आगम ग्रंथों में भी हमें नारी - निन्दा के उल्लेख प्राप्त होते हैं, विशेष रूप से उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित में। ऋषिभाषित के गर्दभालीय अध्ययन में धर्म को पुरुष प्रधान कहा गया है। उसमें तो यहां तक कहा गया है कि वे ग्राम और नगर धिक्कार के योग्य हैं जहाँ नारी शासन करती है। वे पुरुष भी धिक्कार के पात्र हैं जो नारी से शासित होते है (22/1) किन्तु यह सब स्पष्ट रूप से

पुरुष प्रधान संस्कृति का ही परिणाम है। हमें ऐसा नहीं लगता कि तंदुलवैचारिक स्त्री को नीचा दिखाने के लिए ही नारी-निन्दा कर रहा है। वस्तुतः उसने तो मनुष्य को अध्यात्म और वैराग्य की दिशा में प्रेरित करने के लिए ही यह समग्र विवेचन किया है। यदि हम इसी दृष्टि से ग्रंथ व ग्रंथकार के संदर्भ में मूल्यांकन करेंगे तो ही सत्य के अधिक निकट होंगे। वैसे जैन परंपरा में नारी की क्या भूमिका है और उसका कितना महत्त्व है, इसकी चर्चा हमने अपने लेख 'जैन धर्म' में नारी की भूमिका' (श्रमण-अक्टूबर-दिसम्बर 1990) में की है। इस संदर्भ में पाठकों से उसे वहाँ देख लेने की अनुशंसा करते हैं। अतः तंदुलवैचारिक के कर्ता पर मानव जीवन, मानव शरीर और नारी जीवन के विकृत पक्ष को उभारने का आक्षेप लगाने के पूर्व हमें इस तथ्य को समझ लेना होगा कि ग्रंथकार का मूल प्रयोजन शरीर निन्दा या नारी-निन्दा नहीं है अपितु व्यक्ति की देहासक्ति और भोगासक्ति को समाप्त कर उसे आध्यात्मिक और नैतिक विकास की प्रेरणा देना है।

2 मार्च 1991

सागरमल जैन

सहयोग : सुभाष कोठारी

3. महाप्रत्याख्यान - प्रकीर्णक

महाप्रत्याख्यान - यह प्रकीर्णक (महापच्चक्खाण-पइण्णयं) प्राकृत भाषा की एक पद्यात्मक रचना है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में प्राप्त होता है। दोनों ही ग्रंथों में आवश्यक - व्यतिरिक्त उत्कालिक श्रुत के अंतर्गत 'महाप्रत्याख्यान' का उल्लेख मिलता है।

पाक्षिक सूत्र वृत्ति में महाप्रत्याख्यान का परिचय देते हुए कहा गया है- ''महाप्रत्याख्यानम् अत्रायं भावः स्थविरकल्पिका विहारेणैव संलीढ़ा प्रान्तेऽनशनोच्चारं कुर्वन्ति, एवमेतत्सर्वम् सविस्तरं वर्ण्यते यत्र तन्महाप्रत्याख्यानम्।'' अर्थात् जो स्थविरकल्पी जीवन की सन्ध्या वेला में विहार करने में असमर्थ होते हैं, उनके द्वारा जो अनशनव्रत (समाधिमरण) स्वीकार किया जाता है, उन सबका जिसमें विस्तार से वर्णन किया गया है, उसे महाप्रत्याख्यान कहते हैं [2] इस प्रकार पाक्षिक सूत्र वृत्ति में मात्र स्थविरकल्पिको के समाधिमरण का ही उल्लेख मिलता है। जिनकल्पी समाधिमरण कैसे स्वीकारते हैं, इस संबंध में पाक्षिक सूत्र वृत्ति में कोई विवेचन नहीं दिया गया है।

नन्दीसूत्र चूर्णि में महाप्रत्याख्यान का परिचय देते हुए कहा गया है - ''थेरकप्पेणं जिणकप्पेण वा विहरित्ता अंते थेरकप्पिया बारस वासे संलेहं करेत्ता, जिणकप्पिया पुण विहारेणेव संलीढा तहा वि जहाजुत्तं संलेहं करेत्ता निव्वाघातं सचेट्ठा चेव भवचरिमं पच्चक्खंति, एतं सवित्थरं जत्थऽझयणे वण्णिज्जंति तमज्झयणं महापच्चक्खाणं।'' अर्थात् स्थविरकल्प और जिनकल्प के द्वारा विचरण करने वालों में से स्थविरकल्पी अंतिम समय में (स्थिरवास करके) बारह वर्ष में संलेखना करते है जबकि जिनकल्पी विहार करते हुए ही संलेखना के योग्य अवसर आ जाने पर

.....

1. **(क) उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं तं जहा - (1) दसवेआलिय... महापच्चक्खाणं, (29) एवमाइ। - नन्दीसूत्र - मधुकर - मुनि - पृष्ठ 161-162, (ख) नमो तेसिं खमासमणाणं ..... अंगबाहिरं उक्कालियं भगवंतं। तं जहा - दसवेआलियं (1) ..... महापच्चक्खाणं (28)। (पाक्षिक सूत्र - देवचन्द्र लालभाई जैन, पुस्तकोद्धार, पृष्ठ 6)**

2. **पाक्षिक सूत्र, पृष्ठ 78।**

संलेखना स्वीकार करते हैं और निरपवाद प्रयत्नपूर्वक जीवन पर्यंत का (आहारादि का) प्रत्याख्यान करते हैं, इसका जिस अध्ययन में सविस्तार वर्णन किया गया है, वह अध्ययन महाप्रत्याख्यान है।[1]

महाप्रत्याख्यान के विषय में नन्दीचूर्णि की इस व्याख्या से ऐसा लगता है कि उस समय स्थविरकल्पिकों और जिनकल्पिकों को संलेखना विधि में अंतर था। स्थविरकल्पी वृद्धावस्था की स्थिति को जानकर अपनी विहारचर्या को स्थगित कर देते थे और एक स्थान पर स्थित होकर (स्थिरवास करके) क्रमिक रूप से आहारादि का त्याग करते हुए बारह वर्ष तक की दीर्घ अवधि की संलेखना करते थे। इसका एक तात्पर्य यह भी है कि वे आहारादि में धीरे-धीरे कमी करते हुए क्रमशः आहारादि के संपूर्ण त्याग की दिशा में आगे बढ़ते थे, जबकि जिनकल्पी सतत् रूप से विहार करते थे और जब उन्हें यह आभास हो जाता है कि अब विहारचर्या संभव नहीं है तो वे आहारादि का त्याग करके संलेखना स्वीकार कर लेते थे। इस तथ्य की पुष्टि वर्तमान में श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा की प्रचलित संलेखना विधि से हो जाती है। दिगम्बर परम्परानुसार जब मुनि विहार करने में असमर्थ हो जाते है, तो वह मुनि संलेखना स्वीकार कर लेता है क्योंकि इस परंपरा में दूसरों के द्वारा लाए गए आहार को ग्रहण करने की परंपरा नहीं है, जबकि श्वेताम्बर परम्परानुसार वृद्धावस्था में मुनि स्थिरवास हो जाते हैं और क्रमशः आहारादि कम करते हुए संलेखना स्वीकार करते हैं। यह अलग बात है कि स्थिरवास हो जाने के पश्चात् भी सभी मुनि आहारादि कम नहीं करते हैं।

नन्दीचूर्णि में स्थविरकल्पियों और जिनकल्पियों को जो भिन्न-भिन्न संलेखना विधि बतलाई गई है, वह इन दोनों कल्पों की चर्या की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है। आज भी दिगम्बर मुनि किसी न किसी रूप में जिनकल्प का पालन तो करते ही है और श्वेताम्बर मुनि स्थविरकल्प के निकट है। यह एक अलग बात है कि आज बारह वर्ष को संलेखना करने की विधि प्रचलन में नहीं रह गई है किन्तु बारह वर्ष की इस संलेखना विधि का उल्लेख दिगम्बर परंपरा के द्वारा मान्य यापनीय ग्रंथ भगवती आराधना में भी मिलता है।[2] यापनीय परंपरा तो आपवादिक स्थिति में दूसरों के द्वारा लाए गए आहार

.....

1. नन्दीसूत्र चूर्णि, पृष्ठ 50 (प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी)
2. भगवती आराधना, गाथा 254।

को ग्रहण करने की अनुमति भी देती है। भगवती आराधना में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि संलेखना करने वाले मुनि के लिए चार मुनि आहारादि लाए और चार मुनि उस आहारादि की रक्षा करे।[1] इस प्रकार यापनीय परंपरा में भी स्थविरकल्प और जिनकल्प दोनों का उल्लेख मिलता है।

नामकरण की सार्थकता-

प्रस्तुत कृति को महाप्रत्याख्यान कहा गया है । प्रकीर्णक ग्रंथों में महाप्रत्याख्यान और आतुरप्रत्याख्यान - ये दोनों ग्रंथ समाधिमरण की अवधारणा से संबंधित है। महाप्रत्याख्यान शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है- सबसे बड़ा प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का तात्पर्य त्याग से है । इस अनुसार सबसे बड़ा त्याग महाप्रत्याख्यान कहलाता है। व्यक्ति के जीवन में सबसे बड़ा त्याग यदि कोई है तो वह है- देह त्याग। प्रत्याख्यानपूर्वक देह त्याग करने को ही समाधिमरण कहा जाता है- समाधिमरण का विशेष उल्लेख होने से ही प्रस्तुत कृति को महाप्रत्याख्यान नाम दिया गया है । नन्दिचूर्णि और पाक्षिक सूत्र में महाप्रत्याख्यान का परिचय देते हुए जिस प्रकार समाधिमरण का उल्लेख हुआ है, उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि महाप्रत्याख्यान का संबंध समाधिमरण से है।

समाधिमरण से संबंधित विषयवस्तु वाले ग्रंथों में महाप्रत्याख्यान के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रंथ हैं जैसे- आतुरप्रत्याख्यान, मरणविभक्ति, मरणसमाधि, मरण विशुद्धि, संलेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा और आराधना आदि। समाधिमरण से संबंधित इन सभी ग्रंथों को एक ग्रंथ में समाहित करके उसे 'मरणविभक्ति 'नाम दिया गया है। उपलब्ध मरणविभक्ति में मरण विभक्ति, मरण समाधि, मरणविशुद्धि, संलेखनाश्रुत, भक्त परिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और आराधना - ये आठ ग्रंथ समाहित है। इन ग्रंथों में से मरण विभक्ति, मरणसमाधि, संलेखनाश्रुत, भक्ति परिज्ञा, आतुर प्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान- इन ग्रंथों के नाम हमें नन्दीसूत्र मूल और उसकी चूर्णी में मिलते हैं।[2]

.....

1. वहीं गाथा 661-663।
2. (क) नन्दीसूत्र 80 /

किन्तु शेष दो ग्रंथ मरणविशुद्धि और आराधना के नाम नन्दीसूत्र मूल और उसकी चूर्णी में उपलब्ध नहीं है।[1] महाप्रत्याख्यान का मरणविभक्ति में समाहित किया जाना इस बात का सूचक है कि वह समाधिमरण से संबंधित रचना है। ग्रंथ का महाप्रत्याख्यान नाम इसलिए भी सार्थक है कि इसमें प्राणी की रागात्मकता या आसक्ति के मूल केन्द्र शरीर के ही परित्याग पर बल दिया गया है, वस्तुतः इसी अर्थ में यह ग्रंथ महाप्रत्याख्यान कहा जाता है।

प्रकीर्णकों की मान्यता का प्रश्न-

श्वेताम्बरों में चाहे 84 आगम मनाने वाली परंपरा हो, चाहे 45 आगम मानने वाली परंपरा हो- दोनों ने प्रकीर्णक ग्रंथों को आगम रूप में स्वीकार किया है। किन्तु स्थानकवासी और तेरापंथी परंपरा जो 32 आगमों को ही मान्य कर रही हैं, उन्होंने दस प्रकीर्णक, जीतकल्प, ओघनिर्युक्ति तथा महानिशीथ - इस प्रकार कुल तेरह आगम ग्रंथों को अस्वीकार करके 45 आगमों में से 32 आगमों को ही स्वीकार किया है। प्रकीर्णक तथा तीन अन्य ग्रंथों को आगम रूप में अमान्य करने के जो कारण इन दोनों परंपराओं द्वारा बताए जाते हैं, वे यह है कि प्रकीर्णकों तथा इन तीन ग्रंथों में ऐसे कथन है जो मूल आगमों और इनकी परंपरागत मान्यताओं के विरुद्ध हैं।

मुनि किशनलालजी ने प्रकीर्णकों को अमान्य करने के लिए निम्नलिखित कारणों का उल्लेख किया है 1 -

1. "आउरपच्चक्खाण, गाथा 8 में पंडितमरण का अधिकार कहा गया है। गाथा 31 में सात स्थानों पर धन (परिग्रह) का उपयोग करने का आदेश है। गाथा 30 में गुरुपूजा, साधर्मिक भक्ति आदि सात बोलों का निर्देश है। आउरपच्चक्खाण की साक्षी है। किन्तु भक्त पइण्णा के नाम नहीं है। सावद्य (पाप सहित) भाषा का उपयोग सूत्र में नहीं हो सकता, इसलिए यह अमान्य है"

2. "गणिविज्जा **पइन्ने** में भी ज्योतिष की प्ररुपणा की है। उसके उदाहरण हैं- श्रवण, धनेष्टा, पुर्नवसु - तीन नक्षत्रों में दीक्षा नहीं लेनी चाहिए (गाथा 22)। लेकिन 20 तीर्थंकरों ने श्रवण नक्षत्र में दीक्षा ग्रहण की, ऐसा आगमों में उल्लेख है। आगम में जिस कार्य को मान्य किया हो, उसके विपरीत उसका निषेध करे, उस ग्रंथ को कैसे

.....

1. नन्दीसूत्र 80, चूर्णी पृष्ठ 58।

मान्य किया जाए ? उसका आधार क्या हो सकता है ? आगे वहीं आया है- किसी-किसी नक्षत्र में गुरु की सेवा नहीं करनी चाहिए, लुञ्चन नहीं करना चाहिए - ये सब बातें आगम में अनुमोदित नहीं है। इसलिए उनको मान्य नहीं किया गया है।''[1]

3. ''तन्दुलवेयालियं में संठाण के संबंध में जो चर्चा है, वह आगमों में सूचित निर्देशों से भिन्न है। परस्पर मेल नहीं खाती। वहाँ लिखा है- पाँचवें आरे के मनुष्य के अंतिम संहनन और संठाण होता है। दूसरे आगमों में छह ही संठाण संहनन मनुष्यों में पाए जाने की सूचना है। परस्पर विरोधाभास से तंदुलवेयालियं की बात कैसे मान्य की जा सकती है ? ऐसे अप्रमाणिक वचन 'चन्दगवेज्झय' (गाथा 98) में साधु के उत्कृष्ट तीन भवों का उल्लेख है जबकि अन्य आगमों की मान्यता में उत्कृष्ट पंद्रह भव में मोक्ष जाता है''

4. ''देविन्दस्तव में स्त्री के लिए अहो सुंदरी ! आमंत्रण है। आचारांग में स्त्री के लिए बहिन का सम्बोधन है। अतः सुंदरी का सम्बोधन समुचित नहीं है।''

5. ''महापच्चक्खाण गाथा 62 में देवेन्द्र तथा चक्रवर्तीत्व को समस्त जीव अनन्त बार उपलब्ध हुए हैं। प्रत्येक जीव चक्रवर्तीत्व अनन्त बार उपलब्ध नहीं हो सकते है। प्रत्येक जीव चक्रवर्तीत्व थी अनन्त बार उपलब्ध नहीं हो सकते, यह कथन आगम विरुद्ध है, इसको मान्य नहीं किया जा सकता।''

इस प्रकार यहाँ हम देख रहे हैं कि मुनिजी ने आतुरप्रत्याख्यान, गणिविद्या, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव और महाप्रत्याख्यान के कुछ कथन लेकर सभी प्रकीर्णकों को आगम विरुद्ध बतलाने का प्रयास किया है। मुनिजी ने चन्द्रवेध्यक और तन्दुलवैचारिक को अमान्य करने के लिए जो तर्क दिए हैं उनकी पुष्टि में उन्होंने आगम के कोई संदर्भ नहीं दिए हैं। संदर्भ के अभाव में उनके कथन की प्रामाणिकता कैसे स्वीकार की जा सकती है ?

देवेन्द्रस्तव के बारे में उनका जो आक्षेप है वह कोई विशेष महत्व नहीं रखता, क्योंकि वहाँ किसी मुनि ने नहीं वरन् किसी श्रावक ने अपनी पत्नी को सुंदर कहा है।

.....

1. **आगमों की प्रामाणिक संख्या : जयाचार्यकृत विवेचन-तुलसीप्रज्ञा-खंड 16, अंक 1 (जून-1990)**

पुनः सुंदरी शब्द का प्रयोग तो उपासकदशांग[1] और भगवतीसूत्र[2] आदि आगमों में भी मिलता है।[1]

आतुरप्रत्याख्यान के संबंध में मुनिजी का आक्षेप यह है कि उसमें सात स्थानों पर धन के उपयोग करने का आदेश है, यह कथन सावद्य होने के कारण अमान्य है। गुरुभक्ति, साधर्मिक भक्ति आदि में सम्पत्ति का उपयोग होना किस अर्थ में सावद्य है, यह हमें समझ में नहीं आ रहा है। मुनि के लिए औद्देशिक रूप से भोजनादि चाहे न बनाए जाएँ किन्तु उन्हें जो दान दिया जाता है उसमें सम्पत्ति का विनियोग तो होता ही है। बिना धन के भोजन, वस्त्र और मुनि जीवन के उपकरण आदि प्राप्त नहीं किये जा सकते। पुनः प्रवचन भक्ति और स्वधर्मी वात्सल्य का उल्लेख तो ज्ञाताधर्मकथा में तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन के संदर्भ में भी हुआ है।[3] अन्न, वस्त्रादि के दान को तो पुण्य रूप भी माना गया है। अपने इस कथन की पुष्टि में हम कहना चाहेंगे कि तीर्थंकरों के द्वारा भी दीक्षा लेने के पूर्व दान देने का उल्लेख आगम ग्रंथों में मिलता है। 2 हम मुनिजी से यह जानना चाहेंगे कि क्या तीर्थंकर द्वारा दिया गया दान धन के विनियोग के बिना होता है ? क्या वह सावद्य होता है? साधु सावद्य भाषा न बोले, यह बात तो समझ में आ सकती है किन्तु वह गृहस्थ को उसके दान आदि कर्तव्य का बोध भी न कराए, यह कैसे मान्य किया जा सकता है ? हमें समझ में नहीं आ रहा है कि साधर्मिक-भक्ति आदि का उल्लेख होने मात्र से आतुरप्रत्याख्यान जैसे चारित्रगुण और साधना प्रधान प्रकीर्णक को मुनिजी ने कैसे अमान्य बतलाने का प्रयास किया है ?

गणिविद्या को अस्वीकार करने का तर्क मुनिजी ने यह दिया है कि उसमें कुछ विशिष्ट नक्षत्रों में दीक्षा, केशलोच और गुरु सेवा आदि नहीं करने को कहा गया है। आगे मुनिजी ने यह भी लिखा है कि गणिविद्या श्रवण नक्षत्र में दीक्षा लेने का निषेध करती है जबकि मुनिजी का कहना है कि- "20 तीर्थंकरों ने श्रवण नक्षत्र में दीक्षा ग्रहण की, ऐसा आगमों में उल्लेख है। आगमों में जिस कार्य को मान्य किया जाए उसके विपरीत जो उसका निषेध करे, उसे कैसे मान्य किया जाए।" हम मुनिजी से पूछना चाहेंगे उनके द्वारा मान्य 32 आगमों में कौन-सा ऐसा आगम ग्रंथ है, जिसमें यह

.....

1. उपासकदशांग - 'सुंदरी णं देवाणुप्पिया', उद्धृ / पाइअसद्दमहण्णवो - पृष्ठ 911-912/
2. भगवती 9/33 ; उद्धृत-अर्द्धमागधी कोश, भाग 4, 776
3. ज्ञाताधर्मकथासूत्र 8 / 14 / वही, 8 / 154

उल्लेख मिलता है कि 20 तीर्थंकरों की दीक्षा श्रवण नक्षत्र में हुई। पता नहीं मुनिजी ने किस आधार पर यह कथन किया है। यदि वे आगमिक प्रमाण देते तो इस विषय में आगे विचार किया जा सकता था। दीक्षा के नक्षत्र आदि की चर्चा तो परवर्ती ग्रंथों में ही है, आगमों में नहीं है। कम से कम 32 आगमों में तो ऐसा कथन है ही नहीं। यहाँ हम एक बात और कहना चाहेंगे कि सैद्धांतिक रूप से भले ही दीक्षा, केशलोच आदि के लिए नक्षत्र आदि का उल्लेख नहीं मिलता हो, किन्तु जहाँ तक हमें ज्ञात है चाहे वह स्थानकवासी, तेरापंथी या अन्य कोई भी परंपरा हो, व्यवहार में तो सभी दीक्षा मुहूर्त आदि देखते ही हैं और उसका पालन भी करते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ महाप्रत्याख्यान को मुनिजी ने जयाचार्य द्वारा अस्वीकृत करने का कारण इस ग्रंथ की 62वीं गाथा बतलाया है। इस गाथा का मूल भाव यह है कि इस जीव ने देवेन्द्र, चक्रवर्तीत्व एवं राज्यों के उत्तम भोगों को अनंत बार भोगा है फिर भी इसे तृप्ति प्राप्त नहीं हुई है। इस संबंध में मुनिजी का कहना है- "इस गाथा में देवेन्द्र तथा चक्रवर्तीत्व समस्त जीव अनंतबार उपलब्ध हुए है, ऐसा कथन है। सभी जीव चक्रवर्तीत्व अनंत बार उपलब्ध नहीं हो सकते। यह कथन आगम विरुद्ध है, इसको मान्य नहीं किया जा सकता।" इस संबंध में हमारा निवेदन इस प्रकार है कि प्रथम तो यह कथन समस्त जीवों के लिए है ही नहीं, जैसा कि मुनि ने कहा है। मूल गाथा में यह कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है कि प्रत्येक जीव चक्रवर्तीत्व अनन्तबार उपलब्ध हो सकते हैं और दूसरे यह एक उपदेशात्मक गाथा है इसका उद्देश्य मात्र यह बतलाना है कि अनेक बार श्रेष्ठ भोगों को प्राप्त करके भी यह जीव तृप्त नहीं हुआ है। इस सामान्य कथन को इसकी भावना के विपरीत विशेष अर्थ में लेना समुचित नहीं है। भारतीय गरीब है- यह एक सामान्य कथन है, इसका यह अर्थ लेना उचित नहीं होगा कि कोई भी भारतीय धनवान नहीं है।

मुनिजी ने अपने कथन में एक बार 'समस्त जीव' और दूसरी बार 'प्रत्येक जीव' कहकर **प्रत्येक** शब्द पर विशेष बल देकर ही इस ग्रंथ को अमान्य बताया है। हमारे मतानुसार मुनिजी को यह भ्रांति इस गाथा में लिखे हुए 'पत्ता' शब्द का ठीक से अर्थ न कर पाने के कारण हुई है, संभवतया मुनिजी ने इसी 'पत्ता' शब्द का अर्थ 'प्रत्येक' कर दिया है। वस्तुतः 'पत्ता' शब्द का अर्थ प्रत्येक नहीं होकर 'प्राप्त किया' ऐसा अर्थ है। यदि यहाँ इस रूप में 'पत्ता' शब्द का अर्थ किया जाता तो मुनिजी को ऐसी भ्रांति नहीं होती।

यहाँ हम एक बात और स्पष्ट रूप से कहना चाहेंगे, वह यह कि आगम ग्रंथों में जो भी कथन हैं, वे सब सापेक्षिक है। कोई भी जिनवचन निरपेक्ष नहीं होते। यदि निरपेक्ष दृष्टि से आगमों का अर्थ किया जाएगा तो जिन बत्तीस आगमों को स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय प्रामाणिक मान रहे हैं, उनमें भी ऐसी अनेक विसंगतियाँ दिखाई जा सकती है जो इनकी परंपरा के विरुद्ध मानी जाएगी। वास्तविकता तो यह है कि प्रारंभ में लोकाशाह और स्थानकवासी परंपरा को बत्तीस आगम ही उपलब्ध हो सके इसीलिए उन्होंने बत्तीस आगमों को ही मान्य रखा और जब एक बार बत्तीस आगमों की परंपरा उनके द्वारा स्वीकार कर ली गई तो फिर उसे परिवर्तित करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। अतः बाद में प्रकीर्णकों के उपलब्ध होने पर भी उन्हें आगम रूप में मान्य नहीं किया गया।

प्रकीर्णकों में तित्थोगाली, गणिविद्या आदि एक-दो प्रकीर्णक ऐसे भी हैं जो इनकी परंपरा से कुछ भिन्न कथन करते हों, तो भी संपूर्ण प्रकीर्णक साहित्य को अस्वीकार कर देना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में तो हमें अनेक आगम ग्रंथों को भी अस्वीकार कर देना होगा, क्योंकि उनमें तो इन प्रकीर्णकों की अपेक्षा भी अधिक ऐसे कथन हैं जो इनकी मान्यताओं के विपरीत आते हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति में गणिविद्या की अपेक्षा भी अधिक सावद्य उपदेश है।[1] और जहाँ तक परंपराओं से भिन्न कथन का प्रश्न है तो आगमों में प्रकीर्णकों की अपेक्षा भी जिन प्रतिमा और जिन पूजा के ज्यादा उल्लेख मिलते हैं, क्या ऐसे उल्लेख करने वाले सूर्यप्रज्ञप्ति[1] स्थानांग[2], ज्ञाताधर्मकथा[3] और राजप्रश्नीय[4] आदि की हम आगम रूप में मानने से इंकार करना चाहेंगे? जो भूल दिगम्बरों ने श्वेताम्बर आगम साहित्य को अमान्य करने को की। संभवत वहीं भूल स्थानकवासी और तेरापंथी प्रकीर्णकों को अमान्य करके कर रहे हैं। इसका जो दुःखद परिणाम है वह यह कि स्थानकवासी और तेरापंथी समाज, विशुद्ध रूप से उपदेशात्मक, तप प्रधान एवं चारित्र प्रधान इस विपुल ज्ञान सम्पदा से वंचित रह गया है।

.....

1. सूर्यप्रज्ञप्ति, 10/17 (श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला)।
2. 'चत्तारि जिणपडिमाओ सव्वरयणामईयो' - स्थानांगसूत्र-मधुकर मुनि, 4/339।
3. 'पवरपरिहिया जिणपडिमाणं अच्चणं करेइ' - ज्ञाताधर्मकथा-मधुकर मुनि, 16/118।
4. 'तासि णं जिणपडिमाणं' - राजप्रश्नीयसूत्र - मधुकर मुनि, सूत्र - 177-179।

जबकि हमें देखना यह चाहिए कि ये ग्रंथ मनुष्य के आध्यात्मिक, साधनात्मक एवं चारित्रिक् मूल्यों के विकास में कितना योगदान करते हैं। यदि हमें इनके अध्ययन करने के पश्चात् ऐसा लगे कि इनमें उपयोगी सामग्री रही हुई है तो यत्किंचित मान्यता भेद के रहते हुए भी इन्हें आगम रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए और इनके अध्ययन-अध्यापन को भी विकसित करना चाहिए।

ग्रंथ में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियों का परिचय -

मुनि श्री पुण्यविजयजी ने इस ग्रंथ के पाठ निर्धारण में निम्न प्रतियों का उपयोग किया था-

1. सं. : संघवीपाड़ा जैन ज्ञान भंडार की ताड़पत्रीय प्रति।

2. पु. : मुनि श्री पुण्यविजयजी महाराज की हस्तलिखित प्रति।

3. सा. : आचार्य सागरानन्दसूरीश्वरजी द्वारा सम्पादित प्रति।

4. हं. : मुनि श्री हंसविजयजी महाराज की हस्तलिखित प्रति।

हमने क्रमांक 1 से 4 तक की इन पाण्डुलिपियों के पाठ भेद मुनि पुण्यविजयजी द्वारा संपादित पइण्णयसुत्ताइं नामक ग्रंथ से ही लिए हैं। इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से पइण्णयसुत्ताइं ग्रंथ की प्रस्तावना के पृष्ठ 23-27 देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

लेखक एवं रचनाकाल का विचार-

महाप्रत्याख्यान का उल्लेख यद्यपि नन्दीसूत्र, पाक्षिकसूत्र आदि अनेक ग्रंथों में मिलता है किन्तु इस ग्रंथ के लेखक के संबंध में कहीं पर भी कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता है जो संकेत हमें मिलते हैं उनके आधार पर मात्र यही कहा जा सकता है कि यह 5वीं शताब्दी या उसके पूर्व के किसी स्थविर आचार्य की कृति है। इसके लेखक के संदर्भ में किसी भी प्रकार का कोई संकेत सूत्र उपलब्ध न हो पाने के कारण इस संबंध में अधिक कुछ भी कहना कठिन है।

किन्तु जहाँ तक इस ग्रंथ के रचनाकाल का प्रश्न है, इतना तो सुनिश्चित रूप से कह सकते हैं कि यह ईस्वी सन् की 5वीं शताब्दी के पूर्व की रचना है क्योंकि महाप्रत्याख्यान का उल्लेख हमें नंदीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र के अतिरिक्त नन्दीचूर्णि आदि में भी मिलता है। पाक्षिक सूत्र की वृत्ति तथा नन्दीचूर्णि में इस ग्रंथ की विषयवस्तु का भी

संक्षिप्त उल्लेख है। चूर्णियों का काल लगभग 7वीं शताब्दी माना जाता है, अतः महाप्रत्याख्यान का रचनाकाल नन्दीचूर्णि से पूर्व ही होना चाहिए। पुनः महाप्रत्याख्यान का स्पष्ट निर्देश नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र मूल में भी है। नन्दीसूत्र के कर्ता देववाचक के समय के संदर्भ में मुनि श्री पुण्यविजयजी एवं पं. दलसुखभाई मालवणिया ने विशेष चर्चा की है। नन्दीचूर्णि में देववाचक को दूष्यगणी का शिष्य कहा गया है। कुछ विद्वानों ने नन्दीसूत्र के कर्ता देववाचक और आगमों को पुस्तकारूढ़ करने वाले देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को एक ही मानने की भ्रांति की हैं। इस भ्रांति के शिकार मुनिश्री कल्याणविजयजी भी हुए हैं, किन्तु उल्लेखों के आधार पर जहाँ देवर्द्धि के गुरु आर्य शांडिल्य हैं, वहीं देववाचक के गुरु दूष्यगणी है। अतः यह सुनिश्चित है कि देववाचक और देवर्द्धि एक ही व्यक्ति नहीं हैं। देववाचक ने नन्दीसूत्र स्थविरावली में स्पष्ट रूप से दूष्यगणी का उल्लेख किया है।

पं. दलसुखभाई मालवणिया ने देववाचक का काल वीर निर्वाण संवत् 1020 अथवा विक्रम संवत् 550 माना है, किन्तु यह अंतिम अवधि ही मानी जाती है। देववाचक उससे पूर्व ही हुए होंगे। आवश्यक निर्युक्ति में नंदी और अनुयोगद्वार सूत्रों का उल्लेख, और आवश्यक निर्युक्ति को आर्यभद्र या द्वितीय भद्रबाहु की रचना भी माना जाएं, तो उसका काल विक्रम की पाँचवी शताब्दी के पूर्व ही सिद्ध होता है। इन सब आधारों से यह सुनिश्चित है कि देववाचक और उसके द्वारा रचित नन्दीसूत्र ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है। इस संदर्भ में विशेष जानने के लिए हम मुनिश्री पुण्यविजयजी एवं पं. दलसुखभाई मालवाणिया के नन्दीसूत्र की भूमिका में देववाचक के समय संबंधी चर्चा को देखने का निर्देश करेंगे। चूँकि नन्दीसूत्र के महाप्रत्याख्यान का उल्लेख है, अतः इस प्रमाण के आधार पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह ग्रंथ ईसवी सन् की 5वीं शताब्दी के पूर्व निर्मित हो चुका था। किन्तु इसकी रचना की उत्तर सीमा क्या हो सकती है, यह कह पाना कठिन है। महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक की अनेक गाथाएँ उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन आगम में, आवश्यकनिर्युक्ति, उत्तराध्ययननिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति आदि निर्युक्तियों में तथा मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक, तित्थोगाली, संस्तारक, आराधनापताका तथा आराधनाप्रकरण आदि प्रकीर्णकों में साथ ही यापनीय एवं दिगम्बर परंपरा के मान्य ग्रंथों भगवती आराधना, मूलाचार, नियमसार, समयसार, भावपाहुड आदि में हैं। ये

सभी ग्रंथ ईसवी सन् को पाँचवीं - छठी शताब्दी के मध्य के हैं । यद्यपि यहाँ यह निर्धारित कर पाना कठिन है कि ये सभी गाथाएँ इन ग्रंथों में गई है, फिर भी जो ग्रंथ नन्दी से परवर्ती हैं उनमें ये गाथाएँ महाप्रत्याख्यान से ही गई होगी, यह माना जा सकता है। विशेष रूप से मूलाचार, भगवती आराधना आदि में उपलब्ध होने वाली समान गाथाएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में महाप्रत्याख्यान से ही गई होगी। पुनः इस ग्रंथ की उपलब्ध ताड़पत्रीय प्रतियाँ भी यही प्रमाणित करती है कि यह ग्रंथ पर्याप्त रूप से प्राचीन है।

महाप्रत्याख्यान के रचनाकाल के संदर्भ में विचार करने के लिए एक महत्वपूर्ण साक्ष्य हमारे समक्ष यह है कि इसमें द्वादश-विध श्रुतस्कन्ध का उल्लेख हुआ है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि जब कभी यह ग्रंथ अस्तित्व में आया होगा तब तक द्वादश-विध श्रुतस्कन्ध अस्तित्व में आ चुके थे। हमें यह स्मरण रखना चाहिए द्वादश अंगों की अवधारणा जैन परंपरा में पर्याप्त प्राचीन है । द्वादशअंगों का उल्लेख स्थानांग[2], समवायांग[3] आदि प्राचीन आगम ग्रंथों में भी मिलता है। यद्यपि इस कथन से इस ग्रंथ के रचनाकाल को निर्धारित कर पाने में कोई विशेष सहायता तो नहीं मिलती है किन्तु इस आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि जब द्वादश-विध श्रुतस्कन्ध अस्तित्व में आया होगा तब ही इस ग्रंथ की रचना हुई होगी। ग्रंथ में उल्लिखित द्वादश अंगों के कथन से यह अर्थ भी स्वतः ही फलीभूत होता है कि इस ग्रंथ की रचना द्वादशअंगों की रचना के बाद तथा पूर्व साहित्य के लुप्त होने के पूर्व हुई होगी। इस ग्रंथ में द्वादश अंगों का उल्लेख, किन्तु निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी के नामों का अभाव यही सूचित करता है कि इस ग्रंथ की रचना ईसा की द्वितीय शताब्दी के बाद तथा पाँचवीं शताब्दी के पूर्व कभी हुई होगी।

रचनाकाल के संबंद्ध में ही एक और बात ध्यान देने योग्य है कि इस ग्रंथ में समाधिमरण के प्रसंग में कहीं भी गुणस्थानों की चर्चा नहीं हुई है जबकि समाधिमरण की विषयवस्तु का प्रतिपादन करने वाले यापनीय परंपरा के मान्य ग्रंथ भगवती आराधना और मूलाचार में भी गुणस्थानों की चर्चा की गई है।

.....

1. गाथा, 102।
2. स्थानांग 10/103।
3. समवायांग 1/2।

हमने अपने एक स्वतंत्र निबंध में गुणस्थान की विकसित अवधारणा का काल तत्त्वार्थभाष्य के पश्चात् अर्थात् तीसरी शताब्दी के बाद और सर्वार्थसिद्धिटीका के पूर्व अर्थात् पाँचवीं-छठीं शताब्दी के पूर्व माना है।[1] इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि गुणस्थान की अवधारणा लगभग पाँचवीं शताब्दी के आसपास कभी पूर्णतः विकसित हुई है। इससे भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाप्रत्याख्यान चौथी शताब्दी के पूर्व की रचना है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि महाप्रत्याख्यान दूसरी से चौथी शताब्दी के मध्य कभी निर्मित हुआ है।

विषयवस्तु-

महाप्रत्याख्यान में कुल 142 गाथाएँ हैं, जिनमें निम्नलिखित विषय वस्तु का विवरण उपलब्ध होता है-

ग्रंथ का प्रारंभ मंगलाचरण से करते हुए सर्वप्रथम तीर्थंकरों, जिनदेवों, सिद्धों और संयमियों को प्रणाम किया गया है। तत्पश्चात् बाह्य एवं अभ्यन्तर समस्त प्रकार की उपधि का मन, वचन एवं काया-तीनों प्रकार के त्याग करने का कथन है (1-5)।

समस्त जीवों के प्रति समताभाव का कथन करते हुए कहा गया है कि सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ और समस्त जीव मुझे क्षमा करे। साथ ही निंदा करने योग्य कर्म की निंदा, गर्हा करने योग्य कर्म की गर्हा और आलोचना करने योग्य कर्म की आलोचना करने का भी कथन है (6-8)।

इसमें व्यक्ति को यह प्रेरणा दी गई है कि ममत्व के स्वरूप को जानकर निर्ममत्व में स्थिर रहे। आत्मा के विषय में कहा गया है कि आत्मा ही प्रत्याख्यान है तथा संयम व योग भी आत्मा ही है (9-11)। अग्रिम गाथा में मूलगुणों और उत्तरगुणों की सम्यक् परिपालन नहीं करने की निंदा की गई है। उपाचार्यश्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने अपने ग्रंथ 'जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा' में महाप्रत्याख्यान की विषयवस्तु का वर्णन करते हुए इस गाथा का अर्थ इस प्रकार है- "साधक को मूलगुण और उत्तरगुणों का प्रतिक्रमण करना चाहिए[2]।" मूल ग्रंथ को देखने से ज्ञात होता है कि वहाँ मूलगुणों और उत्तरगुणों का प्रतिक्रमण करने के लिए नहीं कहा गया है वरन् वहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि प्रमाद के द्वारा मूलगुणों और उत्तरगुणों में जिन (गुणों) की मैं जो आराधना नहीं कर

.....

1. श्रमण (जनवरी - मार्च 1992)
2. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ 390।

पाया हूँ, उस सबकी निन्दा करता हूँ (12)।

आत्म विषयक निरुपण करते हुए कहा गया है कि आत्मा ही व्यक्ति की स्व (अपनी) है, शेष समस्त पदार्थ उसके नहीं होकर पर (बाह्य) हैं। साथ ही दुःख परंपरा के कारण संयोग संबंधों को त्रिविध रूप से त्याग करने का उपदेश है (13-17)। निन्दा , गर्हा और आलोचना किसकी की जाए, इसके विषय में कहा गया है कि असंयम, अज्ञान और मिथ्यात्त्व आदि की निन्दा और गर्हा तथा ज्ञात-अज्ञात सभी प्रकार के अपराधों की आलोचना करनी चाहिए (18-20)। माया के विषय में कहा गया है कि वह अपनाने के लिए नहीं वरन् त्यागने के लिए होती है। साधु को अपने समस्त दोषों की आलोचना माया एवं मद त्याग कर करनी चाहिए। (21-23)।

कौन जीव सिद्ध होता है ? इस विषयक निरूपण करते हुए कहा गया है कि वही जीव सिद्ध होता है, जिसने माया आदि तीन शल्यों का मोचन कर दिया हो। मिथ्या, माया और निदान इन तीनों शल्यों को अनिष्टकारी बतलाते हुए कहा है कि समाधिकाल में यदि ये शल्य मन में उपस्थित रहते हैं तो बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है, परिणामस्वरूप जीव अनन्तसंसारी हो जाता है। इसलिए सजग साधक पुनर्जन्म से बचने के लिए इन शल्यों को हृदय से निकाल फेंकता है (24-29)।

इसमें शिष्य के लिए यह उपदेश है कि उसे अपने द्वारा किये गये सभी कार्य-अकार्य को गुरु के समक्ष यथारूप कह देना चाहिए और फिर गुरु जो प्रायश्चित दे, उसका अनुसरण करना चाहिए (30-32)।

सभी प्रकार की प्राण-हिंसा, असत्यवचन, अदत्तग्रहण, अब्रह्मचर्य और परिग्रह को मन, वचन व काया से त्यागने का भी निर्देश है। लोक में योनियों के चौरासी लाख मुख्य भेद बतलाते हुए कहा है कि जीव प्रत्येक योनि में अनंत बार उत्पन्न होता है (33-40)

पण्डितमरण को प्रशंसनीय बताते हुए कहा गया है कि माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री ये सभी न तो किसी के रक्षणकर्ता है और न ही त्राणदाता। जीव अकेला ही कर्म करता है और उसके फल को भी अकेला ही भोगता है। व्यक्ति को चाहिए कि वह नरक-लोक, तिर्यंच-लोक और मनुष्य-लोक में जो वेदनाएँ हैं उन्हें तथा देवलोक में जो मृत्यु है, उन सबका स्मरण करते हुए पण्डितमरण पूर्वक करे। क्योंकि एक पण्डितमरण सैकड़ों भव- परंपरा का अंत कर देता है (41-50)।

सचित्त आहार, विषयसुख एवं परिग्रह आदि की विशेष चर्चा करते हुए इन्हें

दुःखदायक बतलाया है तथा इनका त्याग करने की प्रेरणा दी गई है (51-60)। साथ ही क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष और तृष्णा को त्यागने तथा महाव्रतों का पालन करने का उपदेश है (61-70)।

आगे की गाथाओं में षट्लेश्याओं और ध्यान से संबंधित विवरण है, यहाँ कहा गया है कि कृष्ण, नील और कपोत लेश्या तथा आर्त और रौद्र ध्यान- ये सभी त्यागने योग्य हैं, किन्तु तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या तथा धर्म और शुक्ल ध्यान-ये अपनाने योग्य हैं। षट्लेश्याओं और ध्यान का विवरण स्थानांग[1], समवायांग[2], उत्तराध्ययन[3] आदि आगम ग्रंथों में भी मिलता है (71-72)।

त्रिगुप्ति, पंचसमिति और द्वादश भावना से उपसम्पन्न होकर संयती पाँच महाव्रतों की रक्षा करने का कथन किया गया है (73-76)। साथ ही गुप्तियों और समितियों को ही व्यक्ति का शरणदाता एवं त्राणदाता बतलाया है (77)।

आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने में सभी समर्थ नहीं हैं। आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने में कौन सक्षम है ? यह कथन करते हुए कहा है कि यदि सद्पुरुष अनाकांक्ष और आत्मज्ञ हैं तो वे पर्वत को गुफा, शिलातल या दुर्गम स्थानों पर भी अपनी आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध कर लेते हैं (80-84)।

अकृत-योग और कृत-योग के गुण-दोष की प्ररुपणा करते हुए कहा है कि कोई श्रुत सम्पन्न भले ही हों, किन्तु यदि वह बहिर्मुखी इन्द्रियों वाला, छिन्न चारित्र वाला, असंस्कारित तथा पूर्व में साधना नहीं किया हुआ है तो वह मृत्यु के समय में अवश्य अधीर हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु के अवसर पर परीषह सहन करने में असमर्थ होता है। किन्तु जो व्यक्ति विषयसुखों में आसक्त नहीं रहता, भावीफल की आकांक्षा नहीं रखता तथा जिसके कषाय नष्ट हो गए हों, वह मृत्यु को सामने देखकर भी विचलित नहीं होता, अपितु तत्परतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन कर लेता है (85-93)। वस्तुतः यही समाधिमरण की अवस्था है। प्रत्येक जैन मतावलम्बी अपने जीवन के अंतिम क्षण में समस्त प्रकार के क्लेषों से मुक्त हो, राग-द्वेष को त्याग करके इसी प्रकार मरने की अभिलाषा करता है। समाधिमरण का हेतु क्या है ? इस विषय में कहा गया है कि न तो

.....

1. स्थानांग 1/191, 3/1/58, 3/4/515, 4/1/60।
2. समवायांग 4/20, 6/31।
3. उत्तराध्ययन 30/35, 31/8।

तृणों की शय्या ही समाधिमरण का कारण है और न प्रासुक भूमि ही, अपितु जिसका मन विशुद्ध होता है, दूसरे शब्दों में कहें तो जिसने चतुर्विध कषायों पर विजय प्राप्त कर ली हो, वहीं आत्मा संस्तारक होती है (96)।

साधक जिस एक पद से धर्म मार्ग में प्रविष्ट होता है उस पद को सर्वाधिक महत्व दिया गया है और कहा है कि साधक को चाहिए कि वह जीवन के अंतिम समय तक भी उस पद का परित्याग नहीं करे (101-106)।

ग्रंथ में जिनेन्द्र देवों द्वारा प्ररुपित धर्म को कल्याणकारी बतलाया है तथा कहा है कि मन, वचन एवं काया से इस पर श्रद्धा रखनी चाहिए क्योंकि यही निर्वाण प्राप्ति का मार्ग है (107)। आगे की गाथाओं में विविध प्रकार के त्यागों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो मन से चिन्तन करने योग्य नहीं हैं, वचन से कहने योग्य नहीं है तथा शरीर से जो करने योग्य नहीं हैं, उन सभी निषिद्ध कर्मों का साधक त्रिविध रूप से त्याग करे (108-110)।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु - इन पांच पदों को पूजनीय माना गया है तथा कहा है कि इनका स्मरण करके व्यक्ति अपने पाप कर्मों का त्याग करे (114-120)। वेदना विषयक चर्चा करते हुए कहा है कि यदि मुनि आलम्बन करता है तो उसे दुःख प्राप्त होता है। समस्त प्राणियों को समभावपूर्वक वेदना सहन करने का उपदेश दिया गया है (121-122)।

ग्रंथ में जिनकल्पी मुनि के एकाकीविहार को जिनोपदिष्ट और विद्वत्जनों द्वारा प्रशंसनीय बतलाया है तथा जिनकल्पियों द्वारा सेवित अभ्युद्यत मरण को प्रशंसनीय कहा है (126-127)। साधक के लिए कहा है कि वह चार कषाय, तीन गारव, पाँचों इन्द्रियों के विषय में तथा परीषहों का विनाश करके आराधनारूपी पताका को फहराए (134)।

संसार समुद्र से पार होने और कर्मों को क्षय करने का उपदेश देते हुए कहा गया है कि हे साधक ! यदि तू संसाररूपी महासागर से पार होने की इच्छा करता है तो यह विचार मत कर कि "मैं चिरकाल तक जीवित रहूँ अथवा शीघ्र की मर जाऊँ।" अपितु यह विचार कर कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और जिनवचन के प्रति सजग रहने पर ही मुक्ति संभव है (135-136)।

उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने अपने ग्रंथ 'जैन आगम साहित्य मनन और

मीमांसा'' में महाप्रत्याख्यान की विषयवस्तु का वर्णन करते हुए लिखा है कि साधक जघन्य व मध्यम आराधना से सात-आठ भव में मोक्ष प्राप्त करता है।[1] मूल ग्रंथ को देखने पर ज्ञात होता है कि यद्यपि ग्रंथ की गाथा 137 में आराधना के चार स्कन्धों- ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का तथा उसके तीन प्रकारों- उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य का उल्लेख हुआ है, किन्तु आराधना फल को सूचित करने वाली गाथा 138 में यह कहा गया है कि जो विज्ञ साधक इन चार स्कन्धों की उत्कृष्ट साधना करता है, वह उसी भव में मुक्त हो जाता है। पुनः गाथा 139 में कहा गया है कि जो विज्ञ साधक चारों आराधना स्कन्धों की जघन्य साधना करता है वह शुद्ध परिणाम कर सात-आठ भव करके मुक्त हो जाता है। यहाँ ग्रंथ में मध्यम आराधना के फल का कही कोई उल्लेख नहीं हुआ है। हम मुनिजी से जानना चाहेंगे कि उन्होंने किस आधार पर यह कहा है कि मध्यम आराधना वाला सात-आठ भव करके मोक्ष प्राप्त करता है। किसी अन्य ग्रंथ के आधार पर उन्होंने यह कथन किया हो तो अलग बात है अन्यथा प्रस्तुत कृति में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिससे उनके निष्कर्ष की पुष्टि की जा सके। यदि हमें मध्यम आराधना के फल को निकालना है तो उत्कृष्ट आराधना और जघन्य आराधना से प्राप्त फल के मध्य ही निकालना होगा अर्थात् यह मानना होगा कि व्यक्ति मध्यम आराधना से परिणामों की विशुद्धि के आधार पर कम से कम दो भव और अधिक से अधिक छह भव में मुक्ति प्राप्त कर सकता है। भगवती आराधना में भी मध्यम आराधना का फल बताते हुए यही कहा है कि मध्यम आराधना करके धीर पुरुष तीसरे भव में मुक्ति प्राप्त करते हैं[2]। पुनः उत्कृष्ट और जघन्य आराधना के फल के विषय में भी भगवती आराधना का कथन महाप्रत्याख्यान के समान ही है।[3]

ग्रंथ का समापन यह कह कर किया गया है कि धैर्यवान् भी मृत्यु को प्राप्त होता है और कायर पुरुष भी, किन्तु मरना उसी का सार्थक है जो धीरतापूर्वक मरण को प्राप्त होता है। क्योंकि समाधिमरण ही उत्तम मरण है। अंतिम गाथा में कहा गया है कि जो संयमी साधक इस प्रत्याख्यान का सम्यक् प्रकार से पालन कर मृत्यु को प्राप्त होंगे, वे मर कर या तो वैमानिक देव होंगे या सिद्ध होंगे।

.....

1. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांस, पृ. 390-391।
2. भगवती आराधना, गाथा 2155।
3. भगवती आसधना, गाथा 2154, 2156।

महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक और श्वे. आगमग्रंथ
एक तुलनात्मक विवरण

विषयवस्तु की तुलना

'महाप्रत्याख्यान' की अनेक गाथाएँ 'मरण विभक्ति' में ज्यों की त्यों प्राप्त होती है। विस्तार भय के कारण यहाँ उन सभी गाथाओं को नहीं लिखकर मात्र उनके क्रमांक ही लिखे जा रहे हैं।

महाप्रत्याख्यान गाथा क्रमांक	मरण विभक्ति गाथा क्रमांक
1	210
3	211[1]
12	217
18	220
20	120, 222
21	223
22	101
26	226
27	110, 227
28	111, 228
29	112, 229
30	230
31	231
32	232[2]
33	233
34	234[3]

.....

1. यहाँ 'निरागार' के स्थान पर 'अणागार' प्रयुक्त हुआ है।

2-3 यहाँ चौथे चरण में मात्र शाब्दिक भिन्नता है, भावगत तो समानता ही है।

35	235
36	236
37	237
39	238
40	239
41	240
42	241
43	242
महाप्रत्याख्यान गाथा क्रमांक	मरण विभक्ति गाथा क्रमांक
44	243[1]
45	244
49	245
50	246
52	247
54	248[2]
55	249
60	251[3]
62	252
63	253
64	254
65	255

.....

1. यहाँ प्रथम चरण में 'एक्की करेइ कम्मं' के स्थान पर 'एक्को जायइ मरइ य'- इन शब्दों का प्रयोग हुआ है।
2. इस गाथा में शब्द रूप में आंशिक भिन्नता है, किन्तु भागगत समानता है।
3. यहाँ तीसरे चरण में 'उववाए' के स्थान पर 'परिभोगेण' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

66	256
67	257
68	258
69	259
70	262
71	260[4]
72	261[5]
73	264[6]
74	263

.....

4. यहाँ दूसरे चरण में 'अट्ट रोद्दाइ' के स्थान पर 'सुप्पसत्थाणि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
5. यहाँ दूसरे चरण में 'धम्म-सुक्काइं' के स्थान पर 'सुपस-त्थाणि' शब्द प्रयुक्त हुआ है, लेकिन भावगत समानता है।
6. यहाँ 'सच्चबिऊ' के स्थान पर 'अप्पमत्तो' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

महाप्रत्याख्यान गाथा क्रमांक	मरण विभक्ति गाथा क्रमांक
75	266[1]
76	265
77	267
78	268
79	269[2]
80	270[3]
81	271[4]
82	272[5]
83	273
84	274
85	275
86	276[6]
87	277
88	278[7]
89	279
90	280
91	281
92	282
93	284
95	285[8]
96	287[9]

.....

1. यहाँ प्रथम दो चरण में आंशिक रूप से शब्दिक भिन्नता है।
2. यहाँ 'खुहिउमारद्धं' के स्थान पर 'धणियमाइद्धं' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
3. यहाँ 'पब्भार-कंदरगया' के स्थान पर 'गिरिकुहर-कंदरगया' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

4-5. यहाँ शब्द रूप में आंशिक भिन्नता होते हुए भी भागवत समानता है।

6. यहाँ 'विसयसुहसमुइओ अप्पा' शब्दों के स्थान पर 'विसयसुहपराइओ जीवो' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु भावगत समानता है।
7. यहाँ 'मइपुव्वं' के स्थान पर 'सुहभावो' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
8. यहाँ 'आराहणा' के स्थान पर 'आलोयणा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
9. यहाँ 'मणो जस्स' के स्थान पर 'मरंतस्स' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

महाप्रत्याख्यान गाथा क्रमांक	मरण विभक्ति गाथा क्रमांक
97	288
98	289
99	290
100	291[1]
101	135
102	293
104	295
105	294
06	296
107	297
108	298
110	299[2]
111	300
112	301
114	302
120	303
121	304[3]
126	308
127	309
128	310[4]
129	311

.....

1-4. इन गाथाओं में आंशिक रूप से शाब्दिक भिन्नता एवं भावगत समानता है।

130	312[1]
132	313
133	314
134	315[2]
135	316
136	317
137	318
138	319
139	321
141	322[3]
142	323

.....

1-3. इन गाथाओं में आंशिक रूप से शाब्दिक भिन्नता एवं भावगत समानता है।

महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक गाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन

मरणविभक्ति के अतिरिक्त महाप्रत्याख्यान की गाथाएँ आगम साहित्य, प्रकीर्णक साहित्य, आगमिक व्याख्या साहित्य एवं दिगम्बर परंपरा में आगम रूप में मान्य ग्रंथों में कहाँ एवं किस रूप में उपलब्ध हैं, इसका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है-

प्रथम हमने महाप्रत्याख्यान की गाथाएँ दी है। फिर वे गाथाएं अन्यत्र दिगम्बर एवं श्वेताम्बर साहित्य में कहाँ मिलती है, इसका निर्देश किया है।

(1) एस करेमि पणामं तित्थयराणं अणुत्तरगईणं।
सव्वेसिं च जिणाणं सिद्धाणं संजयाणं च॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 1)

(2) सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहओ नमो।
सद्दहे जिणपन्नत्तं पच्चक्खामि य पावगं॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 2)

(3) जं किंचि वि दुच्चरियं तमहं निंदामि सव्वभावेणं।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं निरागारं॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 3)

(4) बाहिरऽब्भंतरं उवहिं सरीरादि सभोयणं।
मणसा वय काएणं सव्वं तिविहेण वोसिरे॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 4)

(5) रागं बंधं पओसं च हरिसं दीणभावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रइमरइं च वोसिरे॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 5)

(6) रोसेण पडिनिवेसेण अकयण्णुयया तहेव सढयाए।
जो मे किंचि वि भणिओ तमहं तिविहेण खामेमि॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 6)

(1) एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसिं॥
(मूलाचार, गाथा 108)[1]

(2) (i) सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहओ नमो।
सद्दहे जिणपन्नत्तं पच्चक्खामि य पावगं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 17)

(ii) सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहओ नमो।
सद्दहे जिणपन्नत्तं पच्चक्खामि य पावगं॥
(मूलाचार, गाथा 37)

(3) (i) जं किंचि में दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिंविहं करेमि सव्वं णिरायारं॥
(नियमसार, गाथा 103)

(ii) जं किंचि से दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे।
समाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं॥
(मूलाचार, गाथा 39)

(4) बज्झब्भंतरमुवहिं सरीराइं च सभोयणं।
मणसा वचि कायेण सव्वं तिविहेण वोसरे॥
(मूलाचार, गाथा 40)

(5) (i) रागं बंधं पओसं च हरिसं दीणभावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रइं अरइं च वोसिरे॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 23)

(ii) रायबंधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोग रदिमरदिं च वोसरे॥
(मूलाचार, गाथा 44)

(6) (i) रागेण व दोसेण व जं मे अकयन्नुयापमाएणं।
जो मे किंचि वि भणिओ तमहं तिविहेण खामेमि॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 35)

(ii) रागेण व दोसेण व जं मे अकदण्हुयं पमादेण।
जो मे किंचिवि भणिओ तमहं सव्वं खमावेमि॥
(मूलाचार, गाथा 58)

.....

1. छटी गाथा में शब्द रूप में समानता नहीं होते हुए भी भावगत समानता है।

(7) खामेमि सव्वजीवे सव्वे जीवा खमंतु में।
आसवे वोसिरित्ताणं समाहिं पडिसंधए॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 7)

(8) निंदामि निंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणिज्जं।
आलोएमि य सव्वं जिणेहिं जं जं च पडिकुट्ठं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 8)

(9) ममत्तं परिजाणामि निम्ममत्ते उवट्ठिओ।
आलंबणं च मे आया अवसेसं च वोसिरे॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 10)

(10) आया मज्झं नाणे आया मे दंसणे चरित्ते य।
आया पच्चक्खाणे आया मे संजमे जोगे॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 11)

(7) खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि॥
(मूलाचार, गाथा 43)[1]

(8) (i) निंदामि निंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणिज्जं।
आलोएमि य सव्वं सब्भिंतर बाहिरं उवहिं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 32)

(ii) णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं।
आलोचेमि य सव्वं सब्भंतरबाहिरं उवहिं॥
(मूलाचार, गाथा 55)

(9) (i) ममत्तं परिवज्जामि निम्ममत्तं उवट्ठिओ।
आलंबणं च मे आया, अवसेसं च वोसिरे॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 24)

(ii) ममतिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे॥
(नियमसार, गाथा 99)

(iii) ममतिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे॥
(मूलाचार, गाथा 45)

(10) (i) आया हु महं नाणे, आया मे दसंणे चरित्ते य।
आया पच्चक्खाणे, आया मे संजमे जोगे॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 25)

(ii) आदा 2 खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे॥
(नियमसार, गाथा 100)
(भावपाहुड, गाथा 58)
(मूलाचार, गाथा 46)

(iii) आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक खाणं आदा मे संवरो जोगो॥ (समयसार, गाथा 277)

.....

1. मात्र पहले दो चरण ही समान है।
2. मूलाचार मे 'खु' के स्थान पर 'हु' है।

(11) मूलगुणे उत्तरगुणे जे मे नाऽऽ पमाएणं।
ते सव्वे निंदामिं पडिक्कमे आगमिस्साणं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 12)

(12) एक्को हं नत्थि मे कोई, न चाहमवि कस्सई।
एवं आदीणमणसो अप्पाणमणुसासए॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 13)

(13) एक्को उप्पज्जए जीवो, एक्को चेव विवज्जई।
एक्कस्स होइ मरणं एक्को सिज्झइ नीरओ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 14)

(14) एक्को करेइ कम्मं, फलमवि तस्सेक्कओ समणुहवइ।
एक्को जायइ मरइ य, परलोयं एक्कओ जाइ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 15)

(15) एक्को मे सासओ अप्पा नाण - दंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 16)

(11) (i) मूलगुण उत्तरगुणे जे मे नाऽऽराहिया पमाएणं।
तमहं सव्वं निंदे पडिक्कमे आगमिस्साणं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 29)

(ii) मूलगुणउत्तरगुणे जो मे णाराहिओ पमाएण।
तमहं सव्वं णिंदे पडिक्कमे आगममिस्साणं॥
(मूलाचार, गाथा 50)

(12) (i) एक्को हं नत्थि मे कोई, नत्थि वा कस्सई अहं।
न तं पेक्खामि जस्साहं, न तं पेक्खामि जो महं॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा 161)

(ii) एगो हं नत्थि मे कोई, न याऽहमवि कस्सई।
वरं धम्मो जिणक्खाओ एत्थं मज्झ बिइज्जओ॥
(आराधनाप्रकरण, गाथा 64)

(13) (i) एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरइं एगो सिज्झदि णीरओ।
(नियमसार, गाथा 101)

(ii) एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ॥
(मूलाचार, गाथा 47)

(14) एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं॥
(मूलाचार, गाथा 701)

(15) (i) एगो में सासओ अप्पा नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा
(चन्द्रवेध्यक, गाथा 160)
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 27)
(आराधनाप्रकरण, गाथा 67)
(आतुरप्रत्याख्यान (1), गाथा 29)

(ii) एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा में बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
(नियमसार, गाथा 102)

(iii) एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा में बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
(मूलाचार, गाथा 48)

(16) संजोगमूला जीवेणं पत्ता दुक्खपरंपरा।
तम्हा संजोगसंबंध सव्वं तिविहेण वोसिरे॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 17)

(17) अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वओ वि य ममत्तं।
जीवेसु अजीवेसु य तं निंदे तं च गरिहामि॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 18)

(18) जे मे जाणंति जिणा अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु।
ते हं आलोएमी उवट्ठिओ सव्वभावेणं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 20)

(19) उप्पन्नाऽणुप्पन्ना माया अणुमग्गओ निहंतव्वा।
आलोयण-निंदण-गरिहणाहिं न पुण त्ति या बीयं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 21)

(20) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुं भणइ।
तं तह आलोइज्ज जा माया-मयविप्पमुक्को उ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 22)

(iv) एगो में सस्सदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा
(भावपाहुड, गाथा 59)

(16) संजोयमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं।
तम्हा संजोयसंबंध सव्वं तिविहेण वोसरे॥
(मूलाचार, गाथा 49)

(17) (i) अस्संजममन्नाणं मिच्छत्तं सव्वमेवय ममत्तं।
जीवेसु अजीवेसु य तं निंदे तं च गरिहामि॥
(आतुरप्रत्याख्यान , गाथा 31)

(ii) अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य ममत्तिं
जीवेसु अजीवेसु य तं णिंदे तं च गरिहामि॥
(मूलाचार, गाथा 51)

(18) (i) जे मे जाणंति जिणा अवराहे नाण - दंसण - चरित्ते।
ते सव्वे आलोए उवट्ठिओ सव्वभावेणं॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा 132)

(ii) जे मे जाणंति जिणा अवराहा[1] जेसु जेसु ठाणेसु।
ते हं[2] आलोएमी उवट्ठिओ सव्वभावेणं॥
(मरणविभक्ति, गाथा 120)
(आराधनापताका (1), गाथा 207)
(आतुरप्रत्याख्यान (2), गाथा 31)

(iii) जे मे जाणंति जिणा अवराहे जेसु जेसु ठाणेसु
ते सव्वे आलोए उवट्ठिओ सव्वभावेणं॥
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा 3873)

(19) उप्पण्णाणुप्पण्णा, माया अणुमग्गतो णिहंतव्वा।
आलोयण निंदण गरहणा ते ण पुणो वि बिइयंति॥
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा 3864)

(20) (i) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा मायामोसं पमोत्तूणं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 33)

.....

1. तेसु तेसु ठा. आतुरप्रत्याख्यान॥
2. लोएउं आराधनापताका॥

(21) सोही उज्जुयभूयस्य धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ घयसित्ते व पावए॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 23)

(22) न हु सिज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धुयरयाणं।
उद्धरियसव्वसल्लो सिज्झइ जीवो धुयकिलेसो॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 24)

(23) न वि त्तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो।
जंतं दुप्पउत्तं सप्पो व पमायओ कुद्धो॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 27)

(ii) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा माया-मयविप्पमुक्को य॥
(आराधनापताका, गाथा 172)
(आराधनाप्रकरण, गाथा 18)

(iiii) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा माया-मयविप्पमुक्को य॥
(ओघनिर्युक्ति, गाथा 801)
(पंचाशक, गाथा 741)

(iv) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणति।
तं तह आलोएज्जा, मायामदविप्पमुक्को य उ॥
(निशीथसूत्रभाष्य, गाथा 3863)

(v) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणदि।
तह आलोचेयव्वं माया मोसं च मोत्तूण॥
(मूलाचार, गाथा 56)

(vi) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ।
तह आलोचेदव्वं माय मोसं च मोत्तूण॥
(भगवती आराधना, गाथा 549)

(21) सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ घय-सित्त व्व पावए॥
(उत्तराध्ययन सूत्र, गाथा 3/12)

(22) न हु सुज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धुयरयाणं।
उद्धरिय सव्वसल्लो [1]सुज्झइ जीवो धुयकिलेसो॥
(आराधनापताका, गाथा 218)
(आराधनाप्रकरण, गाथा 8)
(ओघनिर्युक्ति, गाथा 798)

(23) न वि त्तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो।
जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व [2]पमाइओ कुद्धो॥
(आराधनापताका, गाथा 215)
(आराधनाप्रकरण, गाथा 5)
(ओघनिर्युक्ति, गाथा 803)
(पंचाशक, गाथा 731)

.....

1. आराधनाप्रकरण में 'सुज्झइ' के स्थान पर 'सिज्झइ'।
2. 'पमाइओ' के स्थान पर आराधनाप्रकरण में 'पमायओ' और ओघनिर्युक्ति में 'पमाइणो'।

(24) जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तिमट्ठकालम्मि।
दुल्लंभबोहियत्तं अणंतसंसारियत्तं च॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 28)

(25) तो उद्धंति गारवरहिया मूलं पुणब्भवलयाणं।
मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 29)

(26) कयपावो वि मणूसो आलोइय निंदिउं गुरुगासे।
होइ अइरेगलहुओ ओहरियभरु व्व भारवहो॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 30)

(27) सव्व पाणारंभं पच्चक्खामी य अलियवयणं च।
सवमदिन्नादाणं अब्बंभ परिग्गहं चेव॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 33)

(28) रागेण व दोसेण व परिणामेण व न दूसियं जं तु।
तं खलु पच्चक्खाणं भावविसुद्धं मुणेयव्वं॥36)
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 36)

(29) उड्ढमहे तिरियम्मि य मयाइं बहुयाइं बालमरणाइं।
तो ताइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 41)

(24) जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं[1] उत्तमट्ठकालम्मि।
दुल्लहबोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च॥
(आराधनापताका, गाथा 216)
(आराधनाप्रकरण, गाथा 6)
(ओघनिर्युक्ति, गाथा 804)
(पंचाशक, गाथा 732)

(25) तो उद्धरंति गारवरहिया[2] मूलं पुणब्भवलयाणं।
मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च॥
(आराधनापताका, गाथा 217)
(आराधनाप्रकरण, गाथा 7)
(ओघनिर्युक्ति, गाथा 805)

(26) कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिंदओ गुरुसयासे।
होदिं अचिरेण लहुओ उरूहिय भारोव्व भारवहो॥
(भगवती आराधना, गाथा 615)

(27) (i) सव्वं पाणारंभ पच्चक्खामि त्ति अलियवयणं च
[3] सव्वमदिन्नादाणं मेहुण्ण परिग्गहं चेव॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 13)
(आराधनापताका, गाथा 563)
(मूलाचार, गाथा 41)

(ii) सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाई मि अलियवयणं च।
सव्वमदत्तादाणं अब्बंभ परिग्गहं सव्वहा॥
(आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1284)

(28) रागेण व दोसे, मणपरिणामेण दूसिदं जं तु।
तं पुण पच्चक्खाणं भावविसुद्धं तु णाढव्वं॥
(मूलाचार, गाथा 645)

(29) (i) उड्ढमहे तिरियम्मि वि मयाणि जीवेण बालमरणाणि।
दंसण-नाणसहगओ पंडियमरणं अणुमरिस्सं।
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 47)

.....

1. आराधनाप्रकरण तथा पंचाशक में 'उत्तम'' के स्थान पर 'उत्तिम''।
2. ओघनिर्युक्ति में ''रहिया' के स्थान पर ''रहिता'।
3. आराधनापताका में ''दिन्नादाणं मेहुण्ण' के स्थान पर 'दित्तादाणं मेहुणय' तथा मूलाचार में 'दत्तादाणं मेहूणं'।

(30) माया-पिइ-बंधूहिं संसारत्थेहिं पूरिओ लोगो।
बहुजोणिवासिएणं न य ते ताणं च सरणं च॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 43)

(31) एक्को करेइ कम्मं एक्को अणुहवइ दुक्कयविवागं।
एक्को संसरइ जिओ जर-मरण - चउग्गईगुविलं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 44)

(32) उव्वेयणयं जम्मण-मरणं नरएसु वेयणाओ वा।
एयाइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 45)

(33) एक्कं पंडियमरणं छिंदइ जाईसयाइं बहुयाइं।
तं मरणं मरियव्वं जेण मओ सुम्मओ होइ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 49)

(34) भवसंसारे सव्वे चउव्विहा पोग्गला मए बद्धा।
परिणामपसंगेणं अट्ठविहे कम्मसंघाए॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 51)

(35) आहारनिमित्तागं मच्छा गच्छंति दारुणे नरए।
सच्चित्तो आहारो न खमो मणसा वि पत्थेउं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 54)

(36) तण-कट्ठेण व अग्गी लवणजलो वा नईसहस्सेहिं।
न इमो जीवो सक्को तिप्पेउं काम-भोगेहिं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 55)

(37) हंतूण मोहजालं छेत्तूण य अट्ठकम्मसंकलियं।
जम्मण-मरणरहट्टं भेत्तूण भवाओ मुच्चिहिसि॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 66)

(ii) उड्ढमधो तिरियह्मि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि।
दंसणनाणसहगदो पंडियमरणं अणुमरिस्से।
(मूलाचार, गाथा 75)

(30) माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा
नालं ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा॥
(उत्तराध्ययन सूत्र, गाथा 6/3)[1]

(31) एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं॥
(मूलाचार, गाथा 701)

(32) उव्वेयमरणं जादीमरणं णिरएसु वेदणाओ य।
एदाणि संभरंतो पंडियमरणं अणुमरिस्से॥
(मूलाचार, गाथा 76)

(33) एगं पंडियमरणं छिंदइ जाईसयाणि बहुगाणि।
तं मरणं मरिदव्वं जेण सदं सुम्मदं होदि॥
(मूलाचार, गाथा 117)

(34) संसारचक्कवालमिम्म मए सव्वेवि पुग्गला बहुसो।
आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा त्तित्ती॥
(मूलाचार, गाथा 79)[2]

(35) आहारणिमित्तं किर मच्छा गच्छंति सत्तमिं पुढविं।
सच्चित्तो आहारो ण कप्पदि मणसावि पत्थेदुं॥
(मूलाचार, गाथा 82)

(36) (i) तण-कट्ठ ठेहि व अग्गी लवणजलो वा नईसहस्सेहिं।
न इमो जीवो सक्को तिप्पेउं काम-भोगेहिं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 51)

(ii) तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं॥
(मूलाचार, गाथा 80)

(37) हंतूण रागदोसे छेत्तूण य अट्ठकम्मसंखलियं।
जम्मणमरणरहट्टं भेत्तूण भवाहि मुच्चिहसि॥
(मूलाचार, गाथा 90)

.....

1-2. यहाँ शब्द रूप में कुछ भिन्नता होते हुए भी भागवत समानता है।

(38) कोहं माणं मायं लोहं पिज्जं तहेय दोसं च।
चइऊण अप्पमत्तो रक्खामि महव्वए पंच॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 68)

(39) किण्हा नीला काऊ लेसा झाणाइं अट्ट-रोद्दाइं।
परिवज्जितो गुत्तो रक्खामि महव्वए पच॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 71)

(40) तेऊ पम्हा सुक्का लेसा झाणाइं 'धम्म-सुक्काइं'।
उवसंपन्नो जुत्तो रक्खामि महव्वए पंच॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 72)

(41) जइ ताव ते सुपुरिया गिरिकडग-विसम-दुग्गेसु।
धिइधणियबद्धकच्छा साहिंती अप्पणो अट्ठं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 81)

(42) किं पुण अणगारसहायगेण अण्णोण्णसंगहबलेणं।
परलोएणं सक्का साहेउं अप्पणो अट्ठं ?॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 82)

(43) जिणवयणमप्पमेयं महुरं कण्णाहुइं सुणंतेणं।
सक्का हु साहुमज्झे साहेउं अप्पणो अट्ठं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 83)

(38) कोहो माणो माया लोभे पिज्जे तहेव दोसे य।
मिच्छत्त वेअ अरइ रइ हास सोगे य दुग्गंछा॥
(उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 240)

(39) (i) किण्हा नीला काऊ तिन्नि वि एयाजो अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो दुग्गइं उववज्जई बहुसो॥
(उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा 34/56)

(ii) किण्हा नीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ।
पजहइ विरायकरणो संवेगंणुत्तरं पत्तो॥
(भगवती आराधना, गाथा 1902)

(40) (i) तेऊ पम्हा सुक्का तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिन्नि वि जीवो सुग्गइं उववज्जई बहुसो॥
(उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा 34/57)

(ii) तेओ पम्हा सुक्का लेस्साओ तिण्णि वि दु पसत्थाओ।
पडिवज्जेइ य कमसो संवेगंणुत्तरं पत्तो॥
(भगवती आराधना, गाथा 1903)

(41) (i) जइ ताव सावयाकुलगिरिकंदर-विसमकडग-दुग्गेसु।
साहिंति उत्तमट्ठं धिइधणियसहायगा धीरा॥
(आराधनापताका, गाथा 89)

(42) (i) कि पुण अणगारसहायगेण अन्नोन्नसंगहबलेण
परलोइए न सक्का साहेउं अप्पणो अट्ठं ?॥
(आराधनापताका, गाथा 90)

(ii) किं पुण अणगारसहायएण अण्णोण्णसंगहबलेण।
परलोइयं ण सक्कइ, साहेउं उत्तिमो अट्ठो॥
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा 3913)

(iii) किं पुण अणयारसहायगेण कीरयंत पडिकम्मो।
संघ ओलग्गंते आराधेदुं ण सक्केज्जा॥
(भगवती आराधना, गाथा 1554)

(43) (i) जिणवयणमप्पमेयं महुरं कन्नामयं सुर्णितेणं।
सक्का हु साहुमज्झे संसारमहोयहिं तरिउं॥
(आराधनापताका, गाथा 91)

.....

1. यहाँ आंशिक रूप से शाब्दिक भिन्नता है।

(44) धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं।
धन्ना सिलायलागया साहिंती अप्पणो अट्ठं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 84)

(45) पुव्वमकारियजोगो समाहिकामो य मरणकालम्मि।
न भवइ परीसहसहो विसयसुहसमुइओ अप्पा॥
(महाप्रत्याख्यान गाथा 86)

(46) पुव्विं कारियजोगो सामाहिकामो य मरणकालम्मि।
स भवइ परीसहसहो विसयसुहनिवारिओ अप्पा॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 87)

(47) इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराइयपरज्झो।
अकयपरिकम्म कीवो मुज्झइ आराहणा काले॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 93)

(ii) जिणवयणमप्पमेयं महुरं कण्णाहूति सुणेंतेणं।
सक्का हु साहुमज्झे संसारमहोयहिं तरिउं॥
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा 3914)

(iii) जिणवयणममिदभूदं महुरं कण्णाहुदिं सुणंतेण।
सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं॥
(भगवती आराधना, गाथा 1555)

(44) (i) धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं।
धन्ना सिलायलगया साहंती उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक, गाथा 92)

(ii) धीरपुरिसपन्नत्ते सप्पुरिसनिसेविए अणसणम्मि।
धन्ना सिलायलगया निरावयक्खा निवज्जं ति॥
(आराधनापताका, गाथा 88)

(iiii) धीरपुरिसपण्णत्ते, सप्पुरिसणिसेविते परमरम्मे।
धण्णा सिलातलगता णिरावयक्खा णिवज्जंति॥
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा 3911)

(iv) धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसणिसेवियं उवणमित्ता।
धण्णा णिरावयक्खा संथारगया णिसज्जंति॥
(भगवती आराधना, गाथा1671)

(45) (i) एवमकारिजोगो पुरिसो मरणे उवट्ठिए संते।
न भवइ परीसहसहो अंगेसु परीसहनिवाए
(चन्द्रवेध्यक, गाथा 119)

(ii) पुव्वमकारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले।
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहे मुच्छिदो जीवो॥
(भगवती आराधना, गाथा 193)

(46) (i) पुव्वि कारियजोगो समाहिकामो य मरणकालम्मि।
भवइ य परीसहसहो विसयसुहनिवारिओ अप्पा॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा 120)

(ii) पुव्वं कारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले।
होदि परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो॥
(भगवती आराधना, गाथा 195)

(47) इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराजियपरस्सो
अकदपरियम्म कीवो मुज्झदि आराहणाकाले॥
(भगवती आराधना, गाथा 191)

(48) लज्जाइ गारवेण य बहुस्सुयमएण वा वि दुच्चरियं।
जे न कहिंति गुरुणं न हु ते आराहगा होंति॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 94)

(49) न वि कारणं तणमओ संथारो, न वि य फासुया भूमी।
अप्पा खलु संथारो होइ विसुद्धो मणो जस्स॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 96)

(50) जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 101)

(51) न हु मरणम्मि उवग्गे सक्का बारसविहो सुयक्खंधो।
सव्वो अणुचिंतेउं धंतं पि समत्थचित्तेणं॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 102)

(52) एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए।
तं तस्सं होइ नाणं जेण विरागत्तणमुवेइ॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 103)

(48) लज्जाइ गारवेण य बहुस्सुयमएण वाऽवि दुच्चरियं।
जे न कहंति गुरुणं न हु ते आराहगा हुंति॥
(उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 217)

(49) (i) न वि कारणं तणमओ संथारो न वि य फासुया भूमी।
अप्पा खलु संथारो हवइ विसुद्धे चरित्तम्मि॥
(संस्तारक, गाथा 53)

(ii) ण वि कारणं तणादोसंथारो ण वि य संघसमवाओ।
साधुस्स संकिलेसंतस्स य मरणावसाणम्मि॥
(भगवती आराधना, गाथा 1667)[1]

(50) (i) जं अन्नाणी कम्मं खवेइ[2] बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं णाणी[3] तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेणं॥
(संस्तारक, गाथा 114)
(तित्थोगाली, गाथा 1223)
(पंचवस्तु, गाथा 564)

(ii) जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय सहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेणं॥
(प्रवचनसार, गाथा 3/38)

(51) (i) न हु मरणम्मि उवग्गे सक्का बारसविहो सुयक्खंधो
सव्वो अणुचिंतेउं धणियं पि समत्थचित्तेणं॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा 96)

(ii) न हु तम्मि देसकाले सक्को बारसविहो सुयक्खंधे।
सव्वो अणुचिंतेउं धणियं पि समत्थचित्तेणं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 59)

(52) (i) एक्कम्मि वि जम्मि पते संवेगं कुणति वीयरागमते।
तं तस्स होति णाणं जेण विरागत्तणमुवेति॥
(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3577)

(ii) एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं वच्चए नरोऽभिक्खं।
तं तस्स होइ नाणं जेण विरागत्तणमुवेइ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा 93)

.....

1. मात्र एक चरण समान है।
2. तित्थोगाली मे 'बहुयाहिं' के स्थान पर 'बहुयाहि'।
3. तित्थोगाली में 'तिहिं' के स्थान पर 'तिहि'।

(53) एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए।
सो तेण मोहजालं छिंदइ अज्झप्पयोगेणं॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 104)

(54) एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए।
वच्चइ नरो अभिक्खं तं मरणं तेण मरियव्वं॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 105)

(55) समणो मि त्ति य पढमं, बीयं सव्वत्थ संजओ मि त्ति।
सव्वं च वोसिरामि जिणेहिं जं जं च पडिकुट्ठं॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 108)

(56) अरहंता मंगलं मज्झ, अरहंता मज्झ देवया।
अरहंते कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 115)

(57) सिद्धा य मंगलं मज्झ, सिद्धा य मज्झ देवया।
सिद्धे य कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 116)

(58) आयरिया मंगलं मज्झ, आयरिया मज्झ देवया।
आयरिए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं॥

(महाप्रत्याख्यान, गाथा 117)

(53) (i) एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणति वीतरागमते।
सो तेण मोहजालं छिन्दति अज्झप्पजोगेणं॥
(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3578)

(ii) एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए।
सो तेण मोहजालं खवेइ अज्झप्पजोगेणं॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा 95)

(54) (i) एक्कम्मि वि जमि पए संवेगं वीयरागमग्गम्मि।
वच्चइ नरो अभिक्खं तं मरणंते न मोत्तव्वं॥
म(चन्द्रवेध्यक गाथा 94)

(ii) एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं वीयरायमग्गम्मि।
गच्छइ नरो अभिक्खं तं मरणं तेण मरियव्वं
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 60)

(iii) एक कम्मि वि जम्मि पए संवेगं वीयरायमग्गम्मि।
गच्छदि णरो अभिंक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं
(भगवती आराधना, गाथा 774)

(iv) एक्कह्मि बिदियह्मि पदे संवेगो वीयरायमग्गम्मि।
वच्चदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं॥
(मूलाचार, गाथा 93)

(55) (i) समणो त्ति अहं पढमं, बोयं सव्वत्थ संजओ मि त्ति।
सव्वं च वोसिरामी, एयं भणियं समासेणं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 63)

(ii) समणो मेत्ति य पढमं बिदियं सव्वत्थ संजदो मेत्ति।
सव्वं च वोस्सरामि य एदं भणिदं समासेण
(मूलाचार, गाथा 98)

(56) अरहंता मंगलं मज्झ, अरहंता मज्झ देवया।
अरहंते कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं॥
(आतुरप्रत्याख्यान (1), गाथा 1)

(57) सिद्धा य मंगलं मज्झ, सिद्धा य मज्झ देवया।
सिद्धे य कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं॥
(आतुरप्रत्याख्यान (1), गाथा 2)

(58) आयरिया मंगलं मज्झ, आयरिया मज्झ देवया।
आयरिए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं॥
(आतुरप्रत्याख्यान (1), गाथा 2)

(59) उज्झाया मंगलं मज्झ, उज्झाया मज्झ देवया।
उज्झाए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 118)

(60) साहु य मंगलं मज्झ, साहू य मज्झ देवया।
साहू य कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 119)

(61) आराहणोवउत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं।
उक्कोसं तिन्नि भवे गंतूण लभेज्ज नेवाणं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 131)

(62) सम्मं मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ व केणइ।
खामेमि सव्वजीवे, खमामऽहं सव्वजीवाणं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 140)

(63) धीरेण वि मरियव्वं काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं।
दोण्हं पि य मरणाणं वरं खु धीरत्तणे मरिउं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 141)

(64) एयं पच्चक्खाणं अणुपालेऊण सुविहिओ सम्मं।
वेमाणिओ व देवो हविज्ज अहवा वि सिज्झेज्जा॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा 142)

(59) उज्झाया मंगलं मज्झ, उज्झाया मज्झ देवया।
उज्झाए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं॥
(आतुरप्रत्याख्यान (1), गाथा 4)

(60) साहवो मंगलं मज्झ, साहवो मज्झ देवया।
साहवो कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं॥
(आतुरप्रत्याख्यान (1), गाथा 5)

(61) (i) आराहणाइ जुत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं।
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं॥
(ओघनिर्युक्ति, गाथा 808)

(ii) आराहणोवउत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं।
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा 98)

(iii) आराहण उवजुत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं।
उक्कस्सं तिण्णि भवे गंतूण य लहइ निव्वाणं॥
(मूलाचार, गाथा 97)

(62) (i) सम्मं मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई।
आसाओ वोसिरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 22)

(ii) सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।
आसा वोसिरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए॥
(मूलाचार, गाथा 42)

(iii) सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ताणं समाहि पडिवज्जए॥
(नियमसार, गाथा104)

(63) (i) धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं।
दोण्हं पि हु मरियव्वे वरं खु धीरत्तणे मरिउं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा 65)

(ii) धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं॥
(मूलाचार, गाथा 100)

(64) एदं पच्चक्खाणं जो काहदि मरणदेसयालम्मि।
धीरो अमूढसण्णो सो गच्छइ उत्तमं ठाणं॥
(मूलाचार, गाथा 105)1

.....

1. यहाँ शब्द रूप में भिन्नता होते हुए भी भावगत समानता है।

इस तुलनात्मक अध्ययन में हम यह पाते हैं कि महाप्रत्याख्यान की 142 गाथाओं में से 4 गाथाएँ आगम साहित्य में, 8 गाथाएँ निर्युक्तियों में, 8 गाथाएँ भाष्य साहित्य में तथा मरणविभक्ति के अतिरिक्त 60 गाथाएँ अन्य प्रकीर्णकों में भी उपलब्ध होती हैं। जहाँ तक शौरसेनी यापनीय आगम तुल्य साहित्य का प्रश्न है, महाप्रत्याख्यान की लगभग 45 गाथाएँ मूलाचार और भगवती आराधना में भी उपलब्ध होती है। यापनीय साहित्य के प्रमुख ग्रंथ मूलाचार और भगवती आराधना में हम देखते हैं कि इनमें महाप्रत्याख्यान ही नहीं अपितु अनेकानेक प्रकीर्णकों की गाथाएँ शौरसेणी और अर्द्धमागधी भाषायी रूपान्तरण को छोड़कर यथावत् रूप से आत्मसात कर ली गई हैं। मूलाचार में आवश्यक निर्युक्ति की अधिकांश गाथाएँ तथा समग्र आतुर प्रत्याख्यान को समाहित कर लिया जाना, यही सूचित करता है कि प्रारंभ में यापनीय परंपरा को प्रकीर्णक साहित्य मान्य था, किन्तु परवर्ती काल में जब प्रकीर्णक साहित्य एवं निर्युक्ति साहित्य की गाथाओं के आधार पर मूलाचार और भगवती आराधना जैसे ग्रंथों की रचना हो गई तो उस परंपरा में प्रकीर्णकों और निर्युक्तियों के अध्ययन की परंपरा भी विलुप्त हो गई। दिगम्बर साहित्य में ही हमें एक ऐसी भी गाथा उपलब्ध होती है जिसमें कहा गया है कि आचारांग आदि अंग ग्रंथ एवं पूर्व प्रकीर्णक जिनेन्द्र देवों द्वारा प्ररुपित हैं।[1]

चाहे प्रत्यक्ष रूप में हो अथवा यापनीय साहित्य मूलाचार और भगवती आराधना के माध्यम से हो, प्रकीर्णक साहित्य की अनेक गाथाएँ कुन्दकुन्द के साहित्य में भी उपलब्ध होती है। अकेले महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक की 9 गाथाएँ कुन्दकुन्द के विभिन्न ग्रंथों में उपलब्ध हो जाती हैं। भगवती आराधना और मूलाचार में इन गाथाओं की उपस्थिति में ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के ग्रंथों में ये गाथाएँ भगवती आराधना और मूलाचार से ही अनुस्यूत हुई है। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह संभव नहीं है कि कुन्दकुन्द साहित्य से ही ये गाथाएँ प्रकीर्णकों में गई हो ? इस प्रश्न का सीधा और स्पष्ट उत्तर यही है कि अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि कुन्दकुन्द छठीं शताब्दी से पूर्व में आचार्य नहीं हैं।

.....

1. "आयारादी अंगा पुव्व पइण्णा जिणेहि पण्णत्ता।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा में दुक्कडं हुज्जं॥"
- सिद्धान्तसारादिसंग्रह - कल्लाणालोयणा, गाथा 28
(माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई)

कुन्दकुन्द को पर्याप्त रूप से प्राचीन बताने वाला 'मर्करा अभिलेख' इतिहास के विद्वानों द्वारा जाली प्रमाणित किया जा चुका है।[1] मर्करा अभिलेख को जाली प्रमाणित करने के पश्चात् नवीं शताब्दी से पूर्व का ऐसा कोई अन्य अभिलेख उपलब्ध नहीं हैं जिसमें कुन्दकुन्द या उनकी अन्वय का उल्लेख हुआ हो। पुनः टीकाओं और व्याख्याओं के युग में हुए कुन्दकुन्द के ग्रंथों पर अमृतचन्द्र (दसवी शताब्दी)[2] के पूर्व किसी अन्य आचार्य के द्वारा टीका का न लिखा जाना भी यह सिद्ध करता है कि कुन्दकुन्द पर्याप्त रूप से परवर्ती है। कुन्दकुन्द के साहित्य में गुणस्थान और सप्तभंगों की स्पष्ट अवधारणा मिलती है कि उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द पाँचवीं शताब्दी के बाद के आचार्य हैं, क्योंकि गुणस्थान और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा चौथी-पाँचवीं शताब्दी से निर्मित हुई है यह उल्लेख हमने भूमिका के पूर्व पृष्ठों में भी किया है। इस प्रकार कुन्दकुन्द को ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में ले जाने का प्रयत्न न तो किसी अभिलेखीय साक्ष्य से सिद्ध होता है और न कोई ऐसा साहित्य साक्ष्य ही इस संबंध में उपलब्ध होता है, जो कुन्दकुन्द को प्रथम शताब्दी का प्रमाणित कर सके। कुन्दकुन्द के काल निर्धारण में हम प्रो. मधुसुदन ढाकी से सहमत हैं उनके अनुसार कुन्दकुन्द लगभग छठी शताब्दी के बाद के आचार्य हैं।[1] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाप्रत्याख्यान की गाथाएँ भगवती आराधना और मूलाचार से कुन्दकुन्द साहित्य में भी ली गई हैं।

इस तुलनात्मक अध्ययन में यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि महाप्रत्याख्यान में उपलब्ध होने वाली समान गाथाएँ आगम एवं निर्युक्तियों से इस ग्रंथ में आई है अथवा इस ग्रंथ से ये गाथाएँ आगम एवं निर्युक्तियों में गई हैं ? जहाँ तक आगम साहित्य का प्रश्न है तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि महाप्रत्याख्यान में उपलब्ध होने वाली चारों समान गाथाएँ इसमें आगम साहित्य से ही ली गई हैं, क्योंकि ये चारों गाथाएँ उत्तराध्ययन सूत्र की हैं और वहाँ वे अपने समुचित स्थान एवं क्रम में हैं। साथ ही उत्तराध्ययन महाप्रत्याख्यान की अपेक्षा प्राचीन भी है, अतः यह निश्चित है कि ये चारों गाथाएँ उत्तराध्ययन से ही महाप्रत्याख्यान में गई हैं। पुनः इस ग्रंथ में द्वादश-

.....

1. Prof. M.A., Dhaky-
Aspects of Jaino, Vol. 3,
Dalsukh Bhai Malvania felicitation, Vol. 1, Page 196.

विध श्रुतस्कन्ध का उल्लेख हुआ है।[1] उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि महाप्रत्याख्यान से पूर्व अंग आगम साहित्य की रचना हो चुकी थी।

जहाँ तक निर्युक्ति साहित्य का प्रश्न है, उसमें महाप्रत्याख्यान की 8 गाथाएँ पाई जाती है, इन आठ गाथाओं में से भी अधिकांश गाथाएँ मात्र ओघनिर्युक्ति में पाई जाती है। हमें ऐसा लगता है कि ये गाथाएँ महाप्रत्याख्यान से ही ओघनिर्युक्ति में गई है, क्योंकि ओघनिर्युक्ति का उल्लेख नन्दीसूत्र में नहीं है, जबकि महाप्रत्याख्यान का उल्लेख नन्दीसूत्र में हैं। अतः यह मानना होगा कि ओघनिर्युक्ति की रचना महाप्रत्याख्यान के बाद ही हुई है, इस आधार पर यह कहना अधिक युक्तिसंगत लगता है कि ये गाथाएँ महाप्रत्याख्यान से ही ओघनिर्युक्ति में गई होगी।

चूर्णि साहित्य के विषय में तो हम यही कहना चाहेंगे कि चूर्णियों की रचना प्रकीर्णक साहित्य के बाद ही हुई है, क्योंकि नन्दीचूर्णी में तो महाप्रत्याख्यान का स्पष्ट नामोल्लेख भी उपलब्ध होता है।[2] पुनः चूर्णियाँ तो मूलतः गद्य में ही लिखी गई हैं अतः उनमें महाप्रत्याख्यान की कोई गाथा उद्धृत भी हो तो यही मानना होगा कि उनमें ये गाथाएँ महाप्रत्याख्यान से ही गई हैं, क्योंकि कालक्रम की दृष्टि से जहाँ चूर्णियाँ सातवीं शताब्दी की है वहीं महाप्रत्याख्यान पाँचवीं शताब्दी के पूर्व की रचना है।

अपनी विषय वस्तु की दृष्टि से महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक एक साधना प्रधान ग्रंथ है। इसमें मुख्य रुप से समाधिमरण तथा उसकी पूर्व प्रक्रिया का निर्देश उपलब्ध होता है। समाधिमरण जैन साधना का एक महत्वपूर्ण अंग माना जा सकता है। जैन परंपरा में साधक चाहे मुनि हो अथवा गृहस्थ, उसे समाधिमरण ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है। महाप्रत्याख्यान की कुछ गाथाएँ ऐसी हैं, जो साधक को समाधिमरण ग्रहण करने की प्रेरणा देती हैं, कुछ अन्य गाथाएँ ऐसी भी हैं जो आलोचना आदि का निर्देश करती है, वस्तुतः वे समाधिमरण की पूर्व प्रक्रिया के रूप में ही है। शेष अन्य गाथाओं का प्रयोजन साधक को समाधिमरण की स्थिति में अपनी मनोवृत्तियों को किस प्रकार रखना चाहिए, इसका निर्देश करना है।

.....

1. महाप्रत्याख्यान, गाथा 102।
2. नन्दीचूर्णि, सूत्र 81।

समाधिमरण की अवधारणा जैन आगम साहित्य में आचारांग के काल से ही पाई जाती है। आचारांग की प्रथम श्रुत स्कन्ध न केवल समाधिमरण की प्रेरणा देता है, अपितु उसकी प्रक्रिया भी स्पष्ट करता है।[1] उत्तराध्ययन के पाँचवें अध्याय में बालमरण और पंडित मरण के स्वरूप को लेकर विस्तृत चर्चा है।[2] जैन साहित्य में वर्णित अनेक जीवन चरित्र भी साधना के अंत में समाधि मरण ग्रहण करते हुए चित्रित किये गये हैं। प्रस्तुत ग्रंथ महाप्रत्याख्यान जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह भी समाधिमरण का ही सूचक है या दूसरे शब्दों में कहे तो यह समाधिमरण से ही संबंधित ग्रंथ है।

समाधिमरण का तात्पर्य है कि जब मृत्यु जीवन के द्वार पर उपस्थित होकर अपने आगमन की सूचना दे रही हो तो साधक को चाहिए कि वह देह पोषण के प्रयत्नों का परित्याग कर दे तथा शरीर के प्रति निर्ममत्व भाव की साधना करे और द्वार पर उपस्थित मृत्यु से मुँह छिपाने की अपेक्षा उसके स्वागत हेतु स्वयं को तत्पर रखे। वस्तुतः समाधिमरण शांत भाव से मृत्यु का आलिङ्गन करने की प्रक्रिया है वह साधना की परीक्षा घड़ी है। इसे हम यों समझ सकते हैं कि यदि किसी साधक ने जीवन भर वीतरागता और समता की साधना की हो, किन्तु मृत्यु के समय पर यदि वह विचलित हो जाए तो उसकी संपूर्ण साधना एक प्रकार से वैसे ही निष्फल हो जाती है, जैसे कोई विद्यार्थी यदि परीक्षा में सफल नहीं होता तो उसका अध्ययन सार्थक नहीं माना जाता है। समाधिमरण हमारे जीवन की साधना की परीक्षा है और महाप्रत्याख्यान हमें उसी परीक्षा में खरा उतरने का निर्देश देता है।

समाधिमरण न तो जीवन से पलायन है और न ही आत्महत्या है, अपितु वह मृत्यु के आलिङ्गन की एक कला है और जिसने यह कला नहीं सीखी, उसका जीवन सार्थक नहीं बन पाता है। एक उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है-

जो देखी हिस्टी, इस बात पर कामिल यकी आया।
उसे जीना नहीं आया, जिसे मरना नहीं आया॥

.....

1. आचारांग, प्रथम श्रुत स्कन्ध, अध्ययन 8, उद्देश्यक 6-8।
2. उत्तराध्ययन 5/2-3।

वस्तुतः महाप्रत्याख्यान हमारे सामने एक ऐसी अनासक्त जीवन दृष्टि प्रस्तुत करता है जिससे हमारा जन्म और मरण दोनों ही सार्थक बन जाते हैं। महाप्रत्याख्यान की इस जीवन दृष्टि को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं-

लाई हयात आ गए, कजा ले चली चले चले।

न अपनी खुशी आए, न अपनी खुशी गए॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाप्रत्याख्यान एक ऐसा ग्रंथ है जो हमें जीवन जीने की नवीन दृष्टि प्रदान करता है। ऐसे उदात्त जीवन मूल्यों को प्रतिपादित करने वाले प्रकीर्णक साहित्य को आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर ने सानुवाद प्रकाशित करने का जो निर्णय किया है उसकी सार्थकता तभी है जब इन प्रकीर्णकों का अध्ययन करके हम इनमें प्रतिपादित जीवन मूल्यों को अपने जीवन में उतार सकें।

12 दिसंबर, 1991

सागरमल जैन

सहयोग : सुरेश सिसोदिया

4. द्वीपसागरपण्णत्ति पइण्णयं

विधि मार्गप्रपा में उल्लिखित प्रकीर्णकों के नामों में 'द्वीपसागर प्रज्ञप्ति' और 'संग्रहणी' को भिन्न-भिन्न प्रकीर्णक बतलाया गया है जबकि द्वीपसागर प्रज्ञप्ति का नामोल्लेख द्वीपसागर प्रज्ञप्ति संग्रहणी गाथा (दीव-सागरपण्णत्ति संगहणी गाहाओ) रूप में मिलता है। हमारी दृष्टि से विधि मार्गप्रपा में सम्पादक की असावधानी से यह गलती हुई है। वस्तुतः 'द्वीपसागरप्रज्ञप्ति' और 'संग्रहणी' दो भिन्न प्रकीर्णक नहीं होकर एक ही प्रकीर्णक है। विधि मार्गप्रपा में यह भी बतलाया गया है कि द्वीपसागर प्रज्ञप्ति का अध्ययन तीन कालों में तीन आयम्बिलों के द्वारा होता है।[1] पुनः इसी ग्रंथ में आगे चार कालिक प्रज्ञप्तियों का उल्लेख है, जिसमें द्वीपसागर प्रज्ञप्ति की समाहित है। टिप्पणी में इन चारों प्रज्ञप्तियों के नामों का उल्लेख है।[2]

यद्यपि आगमों की श्रृंखला में प्रकीर्णकों का स्थान द्वितीयक है, किन्तु यदि हम भाषागत प्राचीनता और विषयवस्तु की दृष्टि से विचार करें तो प्रकीर्णक, कुछ आगमों की अपेक्षा भी महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित आदि ऐसे प्रकीर्णक हैं, जो उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन हैं।[3]

ग्रंथ में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियों का परिचय

मुनिश्री पुण्यविजयजी ने इस ग्रंथ के पाठ निर्धारण में निम्न प्रतियों का प्रयोग किया है-

1. प्र. : प्रवर्तक श्री कांतिविजयजी महाराज की हस्तलिखित प्रति।
2. मु.: मुनि श्री चंदनसागरजी द्वारा संपादित एवं चंदनसागर ज्ञान भंडार, वेजलपुर से प्रकाशित प्रति।
3. हं : मुनि श्री हंसविजयजी महाराज की हस्तलिखित प्रति।

हमने क्रमां क 1 से 3 की इन पाण्डुलिपियों के पाठ भेद मुनि पुण्यविजय द्वारा संपादित पइण्णयसुत्ताइं नामक ग्रंथ के लिए हैं । इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से पइण्णय-सुत्ताइं ग्रंथ की प्रस्तावना के पृष्ठ 23-28 देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

.....

1. दीवसागरपण्णत्ती तिहिं कालेहिं तिहिं अंबिलेहिं जाइ।
2. विधिमार्गप्रथा, पृष्ठ 61, टिप्पणी 2
3. ऋषिभाषित आदि की प्रचीनता के संबंध में देखें-
   डॉ. सागरमल जैन - ऋषिभाषित एक अध्ययन (प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर)

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के कर्ता-

प्रस्तुत प्रकीर्णक में प्रारंभ से अंत तक किसी भी गाथा में ग्रन्थकर्ता ने अपना नामोल्लेख तक नहीं किया है। ग्रंथ में ग्रंथकर्ता के नामोल्लेख के अभाव का वास्तविक कारण क्या रहा है ? इस संदर्भ में निश्चय पूर्वक भले ही कुछ नहीं कहा जा सकता हो, किन्तु प्रबल संभावना यह है कि इस अज्ञात ग्रंथकर्ता के मन में यह भावना अवश्य रही होगी कि प्रस्तुत ग्रंथ की विषयवस्तु तो मुझे पूर्व आचार्यों या उनके ग्रंथों से प्राप्त हुई है, इस स्थिति में मैं इस ग्रंथ का कर्ता कैसे हो सकता हूँ ? वस्तुतः प्राचीन स्तर के आगम ग्रंथों के समान ही इस ग्रंथ के कर्ता ने भी अपना नामोल्लेख नहीं किया है। इससे जहाँ एक ओर उसकी विनम्रता प्रकट होती है वहीं दूसरी ओर यह भी सिद्ध होता है कि यह एक प्राचीन स्तर का ग्रंथ है। ग्रंथकर्ता के रूप में इतना तो निश्चित है कि यह ग्रंथ किसी श्रुत स्थविर द्वारा रचित है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति - प्रकीर्णक और उसका रचनाकल-

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति - प्रकीर्णक (दीवसागरपण्णत्ति - पइण्णयं) प्राकृत भाषा की एक पद्यात्मक रचना है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख स्थानांगसूत्र में मिलता है। स्थानांगसूत्र में निम्न चार अंगबाह्य - प्रज्ञप्तियों का उल्लेख हुआ है- (1) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (2) सूर्यप्रज्ञप्ति, (3) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और (4) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति।[1] स्थानांगसूत्र में द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के इस नामोल्लेख से यह तो स्पष्ट है कि स्थानांगसूत्र के अंतिम संकलन की अंतिम वाचना का समय पाँचवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। इस आधार पर यही सिद्ध होता है कि पाँचवीं शताब्दी के पूर्व द्वीपसागर प्रज्ञप्ति की रचना हो चुकी थी।

स्थानांगसूत्र के पश्चात् नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्र में द्वीपसागर प्रज्ञप्ति का उल्लेख प्राप्त होता है। इन दोनों ही ग्रंथों में आवश्यक व्यतिरिक्त कालिक श्रुत के अंतर्गत द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का उल्लेख मिलता है।[1] नन्दीसूत्र का रचनाकाल भी पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इस आधार पर यह मानना होगा कि उसके पूर्व द्वीपसागर प्रज्ञप्ति का निर्माण हो चुका था।

.....

1. **चत्तारि पण्णत्तीओ अंगबाहिरियाओ पण्णत्ताओ, तंजहा-चंदपण्णत्ती, सूरपण्णत्ती, जंबुद्दीवपण्णत्ती, दीवसागरपण्णत्ती।**
(स्थानांगसूत्र, मुनि मधुकर, सूत्र 4/1/189)

पाक्षिक सूत्र भी पर्याप्त रूप से प्राचीन हैं, अतः उसमें इस ग्रंथ का उल्लेख होना इसकी प्राचीनता का परिचायक है। इसके अतिरिक्त नन्दीसूत्र चूर्णी, आवश्यक सूत्र चूर्णी एवं पाक्षिक सूत्र की वृत्ति में भी द्वीपसागर प्रज्ञप्ति का नामोल्लेख उपलब्ध है[2]। पाक्षिक सूत्र वृत्ति के अनुसार यह ग्रंथ द्वीपों एवं सागरों का विवरण प्रस्तुत करता है। इन सभी ग्रंथों में द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का उल्लेख यह सूचित करता है कि जैनागमों की देवर्द्धिगणी की वाचना से पूर्व यह ग्रंथ अस्तित्व में आ चुका था।

जैन आगम - स्थानांग सूत्र, समवायांग सूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्ति, राजप्रश्नीय सूत्र, जीवाजीवाभिगमसूत्र तथा सूर्य प्रज्ञप्ति आदि में यत्र-तत्र द्वीप-समुद्रों से संबंधित विषयवस्तु उपलब्ध होती है, लेकिन यह विषय वस्तु वहाँ विकीर्ण रूप में ही उपलब्ध है क्योंकि इनमें से किसी भी ग्रंथ में द्वीप-समुद्रों का सांगोपांग एवं सुव्यवस्थित विवरण नहीं मिलता है, जबकि द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में मानुषोत्तर पर्वत के आगे स्थित द्वीप-समुद्रों का सांगोपांग एवं सुव्यवस्थित विवरण है। पुनः स्थानांगसूत्र एवं सूर्यप्रज्ञप्ति आदि आगम ग्रंथों में इसकी आंशिक विषय वस्तु गद्य रूप में मिलती है, जबकि यह ग्रंथ प्राकृत पद्यों में रचा गया है। आज यह कहना तो कठिन है कि यह विषय-सामग्री द्वीपसागरप्रज्ञप्ति से आगमों में गई है या आगमों की विषय-वस्तु से ही द्वीपसागरप्रज्ञप्ति की रचना हुई है, किन्तु इतना निश्चित है कि द्वीप-समुद्रों का पद्य रूप में विवरण प्रस्तुत करने वाला यह प्रथम एवं प्राचीन ग्रंथ है।

.....

1. (क) कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तंजहा-(1) उत्तराज्झयणाइं.....
   (9) दीवसागरपण्णत्ती... (31) वण्हीदसाओ।
   (नन्दीसूत्र-मुनि मधुकर, पृष्ठ 163)
   (ख) इमं वाइअं अंगबाहिरं कालिअं भगवंतं तंजहा-उत्तराज्झयणाइ
   (1)... दीवसागरपण्णत्ती (2).... तेअग्गिनिसग्गाणं (36)।
   (पाक्षिक सूत्र - देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, पृष्ठ 79)
2. (क) नन्दीसूत्र चूर्णी, पृष्ठ 59 (प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी)
   (ख) श्रीमद् आवश्यकसूत्रम्, पृष्ठ 6 (श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम)
   (ग) द्वीपसागराणं प्रज्ञापनं यस्यां सा द्वीपसागरज्ञप्ति।
   (पाक्षिक सूत्र, पृष्ठ 81)

'दीवसागरपण्णत्तिसंगहणीगाहाओ' नामक जो प्रकीर्णक मुनि पुण्य विजयजी द्वारा संपादित 'पइण्णसुत्ताइं' ग्रंथ में प्रकाशित हुआ है उसके संदर्भ में मुनिश्री पुण्यविजयजी ने अपनी प्रस्तावना में यह प्रश्न उठाया है कि प्रस्तुत प्रकीर्णक और नन्दीसूत्र तथा पाक्षिक सूत्र में उल्लिखित द्वीप सागरप्रज्ञप्ति एक ही है या भिन्न-भिन्न है, यह विचारणीय है।[1] पूज्य मुनिजी को इस प्रकीर्णक के संदर्भ में यह भ्रांति क्यों हुई ? यह हम नहीं जानते हैं। जहाँ तक 'द्वीपसागरप्रज्ञप्ति संग्रहणी गाथा' - नामक प्रस्तुत प्रकीर्णक का प्रश्न है, यह वहीं प्रकीर्णक है- जिसका उल्लेख नंदीसूत्र और पाक्षिक सूत्र में हैं। क्योंकि एक तो इसकी भाषा आगमों की भाषा से भिन्न या परवर्ती नहीं लगती, दूसरे विषय वस्तु की दृष्टि से भी ऐसा कोई परवर्ती उल्लेख इसमें नहीं पाया जाता है जिससे इस प्रकीर्णक को उससे भिन्न माना जाय। इसकी विषय वस्तु आगमिक उल्लेखों के अनुकूल ही है, इस दृष्टि से भी इसके भिन्न होने की कल्पना नहीं की जा सकती है।

यदि हम यह मानते हैं कि प्रस्तुत द्वीपसागरप्रज्ञप्ति संग्रहणीगाथा वह ग्रंथ नहीं है जिसका उल्लेख स्थानांगसूत्र, नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र आदि आगम ग्रंथों में हुआ है तो हमें यह कल्पना करनी होगी कि वह गद्य रूप में लिखित कोई विस्तृत ग्रंथ रहा होगा और उस ग्रंथ की संग्रहणी के रूप में प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हुई होगी। फिर भी इतना तो निश्चित सत्य है कि दोनों ग्रंथों में विषयवस्तु की दृष्टि से कोई अंतर नहीं रहा होगा। यदि हम इसे भिन्न ग्रंथ मानते हैं तो भी यह मानने में कोई बाधा नहीं आती कि इसका रचनाकाल ईस्वी सन् की 5वीं शताब्दी के लगभग हो, क्योंकि संग्रहणी देवर्द्धि की वाचना से पूर्व हो चुकी थी। आगमों में अनेक जगह कई उल्लेख 'गाहाओ' या 'संग्रहणी' के रूप में हुए हैं। अतः यह मानना उचित है कि 'दीवसागरपण्णत्तिसंगहणी गाहाओ' और स्थानांगसूत्र, नन्दीसूत्र तथा पाक्षिक सूत्र आदि ग्रंथों में उल्लिखित 'दीवसागरपण्णत्ती' भिन्न-भिन्न नहीं होकर एक ही ग्रंथ है।

दिगम्बर परंपरा में द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का उल्लेख षट्खण्डागम की

.....

1. मुनि पुण्यविजय - पइण्णसुत्ताइं - प्रस्तावना, पृष्ठ 53।

धवला टीका में हुआ है।[1] उसमें दृष्टिवाद के पाँच अधिकार बतलाए गए हैं- (1) परिकर्म, (2) सूत्र, (3) प्रथमानुयोग, (4) पूर्वगत और (5) चूलिका। पुनः परिकर्म के पाँच भेद किये हैं- (1) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (2) सूर्यप्रज्ञप्ति, (3) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (4) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति तथा (5) व्याख्याप्रज्ञप्ति। दिगम्बर परंपरा के ही मान्य ग्रंथ अंगपण्णत्ति में भी परिकर्म के पाँच भेद इसी रूप में उल्लिखित हैं।[2] दृष्टिवाद के पाँच विभागों या अधिकारों की चर्चा तो श्वेताम्बर मान्य आगम समवायांग और नंदीसूत्र में भी है, परंतु दिगंबर परंपरा में मान्य परिकर्म के ये पाँच भेद श्वेताम्बर परंपरा मान्य आगमों में नहीं मिलते है।

श्वेताम्बर परंपरा में समवायांगसूत्र एवं नन्दीसूत्र में धवला टीका के अनुरूप ही दृष्टिवाद के निम्न पाँच अधिकार उल्लिखित हैं[3] -

(1) परिकर्म, (2) सूत्र, (3) पूर्वगत, (4) अनुयोग और (5) चूलिका। वहाँ परिकर्म के पाँच भेद नहीं करके निम्न सात भेद किये गये हैं[4]- (1) सिद्धश्रेणिका-परिकर्म, (2) मनुष्य श्रेणिका - परिकर्म, (3) पृष्ट श्रेणिका - परिकर्म, (4) अवगाहन श्रेणिका - परिकर्म (5) उपसंपद्य श्रेणिका - परिकर्म, (6) विप्रजहतश्रेणिका - परिकर्म और (7) च्युताच्युतश्रेणिका - परिकर्म। इस प्रकार स्पष्ट है कि दिगम्बर परंपरा ने दृष्टिवाद के अंतर्गत परिकर्म के पाँच भेदों में द्वीपसागर प्रज्ञप्ति की गणना की है किन्तु श्वेताम्बर परंपरा ने द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का उल्लेख दृष्टिवाद के एक विभाग परिकर्म में नहीं करके चार प्रज्ञप्तियों में किया है। ज्ञातव्य है कि दिगम्बर परंपरा में परिकर्म के अंतर्गत जो पाँच ग्रंथ समाहित किये गये हैं- उन्हें ही श्वेताम्बर परंपरा पाँच प्रज्ञप्तियाँ कहती है।

.....

1. तस्स पंच अत्थाहियारा हवंति, परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-पुव्वगयं-चुलिका- चेदी। जं तं परियम्मं तं पंचविहं । तं जहा-चंदपण्णत्ती, सूरपण्णत्तो जंबूदीवपण्णत्ती, दीवसायरपण्णत्ती, वियाहपण्णत्ती चेदि। (षट्खण्डागम, 1/1/2 पृष्ठ 109)
2. अंगपण्णत्ती, गाथा 1-11।
3. (क) दिट्ठिवाए णं सव्वभावपरूवणया आघविज्जति। से समससओ पंचविहे पण्णत्ते। तंजहा - परिकम्मं सुत्ताइं पुव्वगयं अणुओगो चूलिया।
   (ख) नन्दीसूत्र, सूत्र 96 (समवायांग, सूत्र 557)
4. (क) परिकम्मे सत्तविहे पण्णत्ते । तं जहा - सिद्धसेणियापरिकम्मे उपसंपज्ज-सेणियापरिकम्मे विप्पजहसेणियापरिकम्मे चुआसुअसेणियापरिकम्मे।
   (ख) नन्दीसूत्र, सूत्र 97 (समवायांग सूत्र 558)

षट्खण्डागम को धवला टीका में कहा गया है कि द्वीपसागरप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म बावन लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा उद्धारपल्य से द्वीप और समुद्रों के प्रमाण तथा द्वीप-सागर के अंतर्भूत नाना प्रकार के दूसरे पदार्थों का वर्णन करता है।[1]

षट्खण्डागम की धवला टीका का समय ई. सन् की नवी शती का पूर्वार्ध माना जाता है। इससे यह प्रतिफलित होता है कि धवला के लेखक को इस ग्रंथ की सूचना अवश्य थी। यद्यपि यह कहना कठिन है कि उनके सामने यह ग्रंथ उपस्थित था अथवा नहीं । वस्तुतः परिकर्म में जिन पाँच ग्रंथों का उल्लेख दिगम्बर परंपरा मान्य ग्रंथों में मिलता है वे पाँचों ग्रंथ श्वेताम्बर परंपरा में आज भी मान्य एवं उपलब्ध हैं। उनमें से व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) को पाँचवें अंग आगम के रूप में तथा सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति को उपांग के रूप में और द्वीपसागर प्रज्ञप्ति को प्रकीर्णक ग्रंथ के रूप में मान्य किया गया है। संभवतः धवलाटीकाकार ने भी इन ग्रंथों का उल्लेख अनुश्रुति के आधार पर ही किया है। उसकी इस अनुश्रुति का आधार भी वस्तुतः यापनीय परंपरा रही है, क्योंकि वह परंपरा इन ग्रंथों को मान्य करती थीं।

दृष्टिवाद के पाँच अधिकार और उसमें भी परिकर्म अधिकार के पाँच भेदों की जो चर्चा यहाँ की गई है उसकी विशेषता यह है कि उसमें जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि के साथ-साथ व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) को भी परिकर्म का विभाग माना गया है। यद्यपि श्वेताम्बर परंपरा में व्याख्याप्रज्ञप्ति को पाँचवा अंग आगम माना जाता है, किन्तु जब भी पंचप्रज्ञप्ति नामक ग्रंथों की चर्चा का प्रसंग आया तब व्याख्याप्रज्ञप्ति को उसमें समाहित किया गया। ईस्वी सन् 1306 में निर्मित विधिमार्गप्रपा नामक ग्रंथ में आचार्य जिनप्रभ ने एक मतान्तर का उल्लेख करते हुए लिखा है "अण्णे पुण चंदपण्णत्तिं सूरपण्णत्तिं च भगवई उवंगे भणंति। तेसिं मएण उवासगद साईण पंचण्ह-मंगाणपुवंगं निरयावलियासुयक्खंधो।" अर्थात् कुछ आचार्यों के अनुसार चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति दोनों ही भगवती के उपांग कहे गए हैं। उनके मत में उपासकदशांग आदि शेष पाँचों अंगों के उपांग निरयावलिया श्रुतस्कन्ध है। यहाँ विशेष रूप से दृष्टव्य यही है

.....

1. दीवसायरपण्णत्ती बावण्ण-लक्ख-छत्तीस-पद-सहस्सेहि उद्धारपल्ल पमाणेण दीव-सायर-पमाणं अण्णं पि दीव-सायरंतब्भूदत्थं बहुभेयं वण्णेदि।
   (षट्खण्डागम, 1/1/2 पृष्ठ 109)
2. विधिमार्गप्रभा, पृ. 57।

कि सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति को व्याख्याप्रज्ञप्ति के साथ जोड़ा गया है। इससे यह अनुमान होता है कि एक समय श्वेताम्बर और यापनीय परंपराओं में पाँचों प्रज्ञप्तियों को एक ही वर्ग के अंतर्गत रखा जाता था। दिगम्बर परंपरा द्वारा धवला टीका में परिकर्म के पाँच विभागों में इन पाँचों प्रज्ञप्तियों की गणना करने का भी यही प्रयोजन प्रतीत होता है। स्थानांगसूत्र में जो अंगबाह्य चार प्रज्ञप्तियों का उल्लेख हुआ है वहाँ परिकर्म में उल्लिखित पाँचों नामों में से व्याख्याप्रज्ञप्ति को छोड़कर शेष चार नामों को स्वीकृत किया गया है। संभवतः स्थानांगसूत्र के रचनाकार ने वहाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति को इसलिए स्वीकृत नहीं किया कि उस समय तक व्याख्याप्रज्ञप्ति को एक स्वतंत्र अंग आगम के रूप में मान्य कर लिया गया था। यद्यपि वह यह मानता है कि पाँचवीं प्रज्ञप्ति व्याख्याप्रज्ञप्ति है।

परिकर्म के इस समग्र वर्गीकरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि श्वेताम्बर परंपरा ने जो पाँच प्रज्ञप्तियाँ मानी थीं, दिगम्बर परंपरा ने उन्हें ही परिकर्म के पाँच विभाग माना है। दिगम्बर परंपरा में द्वीपसागरप्रज्ञप्ति नाम का आज कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता है। षट्खण्डागम की धवला का उल्लेख भी मात्र अनुश्रुति पर आधारित है। जिस प्रकार दिगम्बर परंपरा में विशेष रूप से तत्वार्थ की दिगम्बर टीकाओं में उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि को अंगबाह्य के रूप में अनुश्रुति के आधार ही मान्य किया जाता रहा है उसी प्रकार द्वीपसागरप्रज्ञप्ति को भी अनुश्रुति के आधार पर ही मान्य किया गया है।

निर्ग्रन्थ संघ की अचेलधारा की यापनीय एवं दिगम्बर परंपराओं में मध्यलोक का विवरण देने वाले जो ग्रंथ मान्य रहे हैं उनमें लोक विभाग (प्राकृत), तिलोयपण्णति, त्रिलोकसार एवं लोकविभाग (संस्कृत) प्रमुख हैं, इसमें भी प्राकृत भाषा में लिखित लोकविभाग नामक प्राचीन ग्रंथ, जिसके आधार पर संस्कृत भाषा में उपलब्ध लोकविभाग की रचना हुई है, वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। यद्यपि तिलोयपण्णत्ति में उस ग्रंथ का अनेक बार उल्लेख हुआ है। पुनः संस्कृत लोकविभागकार ने तो स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि मैंने लोकविभाग का भाषागत परिवर्तन करे यह ग्रंथ तैयार किया है।[1] इससे लगभग 13वीं शताब्दी में इस ग्रंथ के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। संभव है संस्कृत में लोकविभाग की रचना के पश्चात् अथवा यापनीय परंपरा के समाप्त हो जाने से यह विषयवस्तु दिगम्बर परंपरा

में तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार और लोकविभाग में उपलब्ध होती है, इन सभी ग्रंथों में तिलोयपण्णत्ति प्राचीन है। तिलोयपण्णत्ति का आधार संभवतः प्राचीन लोकविभाग (प्राकृत) रहा होगा, फिर भी आज स्पष्ट प्रमाण के अभाव में यह कहना कठिन है कि द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में तिलोयपण्णत्ति या प्राचीन लोकविभाग आदि ग्रंथ कितने प्रभावित हुए है।

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और त्रिलोकप्रज्ञप्ति (तिलोयपण्णत्ति) दोनों ही ग्रंथों की विषयवस्तु लगभग समान है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति में जम्बूद्वीप, मनुष्यक्षेत्र, देवलोक, नरक, तीर्थंकर, बलदेव तथा वासुदेव आदि का वर्णन है, जबकि द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में मात्र मनुष्य क्षेत्र के बाहर के ही द्वीप-समुद्रों का उल्लेख हुआ है। इस दृष्टि से त्रिलोकप्रज्ञप्ति का विषय क्षेत्र द्वीपसागरप्रज्ञप्ति से व्यापक है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति में द्वीपसागर प्रज्ञप्ति की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं सुव्यवस्थित वितरण उपलब्ध है। अतः त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रंथ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में की अपेक्षा निश्चय ही परवर्ती है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति की रचना द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के आधार पर हुई है, किन्तु इतना निश्चित है कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रंथ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के पश्चात् रचित है। क्योंकि स्थानांग सूत्र, आदि श्वेताम्बर आगमों और दिगम्बर परंपरा मान्य षट्खण्डागम की धवला टीका में जो प्रज्ञप्तियों का उल्लेख हुआ है उसमें कहीं भी त्रिलोकप्रज्ञप्ति का उल्लेख नहीं हुआ है जबकि द्वीपसागर प्रज्ञप्ति का उल्लेख हुआ है।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति का बहुत कुछ अंश दिगम्बर परंपरा के एक सम्प्रदाय के रूप में सुव्यवस्थित होने के पूर्व का है इसमें अनेक स्थलों पर आचार्यों की मान्यता भेद का भी उल्लेख हुआ है। इस संदर्भ में तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ की प्रो.ए.एन. उपाध्ये द्वारा लिखित भूमिका विशेष रूप से दृष्टव्य है। यद्यपि लगभग 5वीं शताब्दी तक श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इस रूप में जैन परंपरा में विभाजन नहीं हुआ था, किन्तु निर्ग्रंथ संघ के भिन्न-भिन्न आचार्य भिन्न-भिन्न मत रखते थे और अध्येताओं को उनका परिचय दे दिया जाता था। यहाँ अधिक विस्तृत चर्चा नहीं करके केवल एक-दो मान्यताओं की ही चर्चा की जा रही है- त्रिलोकप्रज्ञप्ति में देवलोकों की संख्या 12 और 16 मानने वाली

.....

1. लोकविभाग, श्लोक 11/51।

दोनों की मान्यताओं का उल्लेख हुआ। इसी प्रकार महावीर के निर्वाणकाल को लेकर भी जो विभिन्न मान्यताएँ थीं, उनका उल्लेख भी इस ग्रंथ में हुआ है। इससे यही फलित होता है कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति के रचनाकाल तक सम्प्रदायगत तात्त्विक मान्यताएँ सुनिश्चित और सुस्थापित नहीं हो पाती थी। यद्यपि त्रिलोकप्रज्ञप्ति में पर्याप्त प्रक्षिप्त अंश भी है फिर भी इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि वह मूल ग्रंथ प्राचीन है। सामान्यतः विद्वानों ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति का काल वीर निर्वाण के 1 000 हजार वर्ष पश्चात् ही निश्चित किया है क्योंकि उस अवधि के राजाओं के राज्यपाल का उल्लेख इस ग्रंथ में मिलता है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति का रचनाकाल 6ठीं शताब्दी से 11वीं शताब्दी के मध्य कहीं भी स्वीकार करें, किन्तु इतना निश्चित है कि इसकी अपेक्षा द्वीपसागर प्रज्ञप्ति प्राचीन है क्योंकि इसकी रचना पाँचवीं शताब्दी के पूर्व हो चुकी थी।

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के उल्लेख हमें स्थानांगसूत्र से लेकर षट्खण्डागम की धवला टीका तक में निरंतर रूप से मिलते हैं। स्थानांगसूत्र और नन्दीसूत्र में उसके उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि कम से कम वा.नि.सं. 980 में हुई इन आगम ग्रंथों की अंतिम वाचना के समय तक यह ग्रंथ अवश्य ही अस्तित्व में आ चुका था। अतः द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का रचनाकाल वी.नि.सं. 980 और महावीर निर्वाण ईस्वी पूर्व 527 मानने पर ईस्वी सन् 453 अर्थात् ईस्वी सन् की पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध मानना होगा। यह इस ग्रंथ के रचनाकाल की निम्नतम सीमा है, किन्तु इससे पूर्व भी इस ग्रंथ की रचना होना संभव है। क्योंकि स्थानांगसूत्र में हमें सबसे परवर्ती उल्लेख महावीर के संघ में हुए नौ गणों का मिलता है किन्तु ये सभी गण भी ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी तक अस्तित्व में आ चुके थे। पुनः स्थानांगसूत्र में जिन सात निह्नवों की चर्चा है, उनमें बोटिक निह्नव का उल्लेख नहीं है। अंतिम सातवाँ निह्नव वी.नि.सं. 584 में हुआ था जबकि बोटियों की उत्पत्ति वी.नि.सं. 609 अथवा उसके पश्चात् बतलाई गई है। बोटिक निह्नव का उल्लेख स्थानांगसूत्र में नहीं होने से यह मान सकते हैं कि स्थानांगसूत्र वी.नि.सं. 609 के पूर्व की रचना है और उस अवधि के पश्चात् उसके कोई प्रक्षेप नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का रचनाकाल ईस्वी सन् की प्रथम-द्वितीय शताब्दी भी माना जा सकता है। यह अवधि इस ग्रंथ के रचनाकाल की उच्चतम सीमा है। इस प्रकार द्वीप सागरप्रज्ञप्ति का रचनाकाल ई. सन् 2 शती से 5वीं शती के मध्य ही कहीं निर्धारित होता है।

जहाँ तक इस ग्रंथ की विषयवस्तु का प्रश्न है वह भी अधिकांश रूप से स्थानांगसूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति, जीवाजीवाभिगमसूत्र तथा राजप्रश्नीय सूत्र आदि आगम ग्रंथों में मिलती है। अतः यह ग्रंथ इन ग्रंथों का समकालीन या इनसे किंचित् परवर्ती होना चाहिए। उल्लेखनीय है कि गद्य आगमों की विषयवस्तु को सरलता पूर्वक याद करने की दृष्टि से पद्य रूप में संक्षिप्त संग्रहणी गाथाएँ बनाई गई थी। किन्तु संग्रहणी गाथाएँ भी लगभग ईस्वी. सन् की प्रथम शताब्दी में बनना प्रारंभ हो चुकी थीं। द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के नाम के साथ 'संग्रहणी गाथाएँ' शब्द जुड़ा हुआ है। इससे ऐसा लगता है कि आगमों में द्वीप-समुद्रों संबंधी जो विवरण थे, उनके आधार पर संग्रहणी गाथाएँ बनी और उन गाथाओं को संकलित कर इस ग्रंथ का निर्माण किया गया होगा। इस स्थिति में भी इस ग्रंथ का रचनाकाल ई. सन् प्रथम शताब्दी से पाँचवीं शती के मध्य ही निर्धारित होता है। ज्ञातव्य है कि वर्तमान श्वेताम्बर मान्य आगमों में उनके संपादन के समय अनेक संग्रहणी गाथाएँ डाल दी गई है।

पुनः प्रस्तुत ग्रंथ में जिन मंदिरों और जिनप्रतिमाओं का सुव्यवस्थित उल्लेख प्राप्त होता है। जिन प्रतिमाओं के निर्माण के प्राचीनतम उल्लेख हमें नन्दों के शासनकाल ई.पू. 4थी शती से ही मिलने लगते हैं। सम्राट खारवेल ने अपने **हत्थीगुम्फा** अभिलेख में यह सूचित किया है कि वह नन्दराजा द्वारा ले जाई गई कलिंगजिन की प्रतिमा को वापस लाया था।[1] मौर्यकाल (ई.पू. 3री शती) की तो जिनप्रतिमाएँ भी आज मिलती हैं। ईस्वी सन् प्रथम-द्वितीय शताब्दी से तो मथुरा में निर्मित जिन मंदिरों और उनमें स्थापित जिनप्रतिमाओं के पुरातात्विक अवशेष मिलने लगते हैं। अतः जिनमंदिरों और जिनप्रतिमाओं के उल्लेखों के आधार पर भी यह ग्रंथ ईस्वी सन् की प्रथम-द्वितीय शताब्दी के आसपास का प्रतीत होता है। इन उपलब्ध सभी प्रमाणों के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का रचनाकाल ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी से पंचम शताब्दी के मध्य कहीं रहा है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति की विषयवस्तु-

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में कुल 225 गाथाएँ हैं। ये सभी गाथाएँ मध्यलोक में मनुष्य क्षेत्र अर्थात् ढाई-द्वीप के आगे के द्वीप एवं सागरों की संरचना को प्रकट करती हैं।

.....

1. तिवारी, मारुतिनन्दनप्रसाद - जैन प्रतिमाविज्ञान, पृष्ठ 17।

ग्रंथ में निम्न विवरण उपलब्ध होता है-

ग्रंथ के प्रारंभ में किसी प्रकार का मंगल अभिधेय अथवा किसी की स्तुति आदि नहीं करके ग्रंथकर्त्ता ने सीधे विषयवस्तु का ही स्पर्श किया है। इस ग्रंथ की अपनी विशेषता है। ग्रंथ का प्रारंभ मानुषोत्तर पर्वत के विवरण से किया गया है। मानुषोत्तर पर्वत के रूप को बतलाते हुए इसकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, जमीन में गहराई तथा इसके ऊपर विभिन्न दिशा-विदिशाओं में स्थित शिखरों के नाम एवं विस्तार परिमाण का विवेचन किया गया है। (1-18)।

ग्रंथ का प्रारंभ मानुषोत्तर पर्वत से होने से ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं इस ग्रंथ का पूर्व अंश विलुप्त तो नहीं हो गया है ? क्योंकि यदि ग्रंथकार को मध्यलोक का संपूर्ण विवरण प्रस्तुत करना इष्ट होता तो उसे सर्वप्रथम जम्बूद्वीप फिर लवण समुद्र तत्पश्चात् धातकीखण्ड फिर कालोदधि समुद्र और उसके बाद पुष्करवर द्वीप का उल्लेख करने के पश्चात् ही मानुषोत्तर पर्वत की चर्चा करनी चाहिए थी। किन्तु ऐसा नहीं करके लेखक ने मानुषोत्तर पर्वत की चर्चा से ही अपने ग्रंथ को प्रारंभ किया है। संभवतः इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जम्बूद्वीप और मनुष्य क्षेत्र का विवरण स्थानांगसूत्र, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति तथा जीवाजीवाभिगम आदि अन्य आगम ग्रंथों में होने से ग्रंथकार ने मानुषोत्तर पर्वत से ही अपने ग्रंथ का प्रारंभ किया है। ज्ञातव्य है कि मानुषोत्तर पर्वत के आगे के द्वीप-सागरों का विवरण स्थानांगसूत्र एवं जीवाजीवाभिगम आदि में भी उपलब्ध होता है।

ग्रंथ में नलिनोदक सागर, सुरारस सागर, क्षीरजलसागर, घृतसागर तथा **क्षोदरसागर** में गोतार्थ से रहित विशेष क्षेत्रों का तथा नन्दीश्वर द्वीप का विस्तार परिमाण निरुपित है (19-25)।

अंजन पर्वत और उसके ऊपर स्थित जिन मंदिरों का वर्णन करते हुए अंजन पर्वतों की ऊँचाई, जमीन में गहराई, अधोभाग, मध्यभाग तथा शिखर-तल पर उसकी परिधि और विस्तार बतलाया गया है साथ ही यह भी कहा गया है कि सुंदर भौरों, काजल और अंजन धातु के समान कृष्णवर्ण वाले वे अंजन पर्वत गगनतल को छूते हुए शोभायमान है (26-37)।

प्रत्येक अंजन पर्वत के शिखर-तल पर गगनचुम्बी जिन मंदिर कहे गये हैं, उन जिनमन्दिरों की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई का परिमाण बतलाने के साथ यह भी

कहा गया है कि वहाँ नाना मणिरत्नों से रचित मनुष्यों, मगरों, विहंगो और व्यालों की आकृतियाँ शोभायमान हैं, जो सर्वरत्नमय, आश्चर्य उत्पन्न करने वाली तथा अवर्णनीय हैं। (38-40)।

ग्रंथ में है उल्लेख कि अंजन पर्वतों के एक लाख योजन अपान्तराल को छोड़ने के बाद चार पुष्करिणियाँ हैं, जो एक लाख योजन विस्तीर्ण तथा एक हजार योजन गहरी हैं। ये पुष्करिणियाँ स्वच्छ जल से भरी हुई हैं (41-43)। इन पुष्करिणियों की चारों दिशाओं में चैत्यवृक्षों से युक्त चार वनखण्ड बतलाए गए हैं (44-47)।

पुष्करिणियों के मध्य में रत्नमय दधिमुख पर्वत कहे गए हैं। दधिमुख पर्वतों की ऊँचाई एवं परिधि की चर्चा करते हुए उन पर्वतों को शंख समूह की तरह विशुद्ध, अच्छे जमे हुए दही के समान निर्मल, गाय के दूध की तरह उज्ज्वल एवं माला के समान क्रमबद्ध बतलाया हैं। इन पर्वतों के ऊपर भी गगनचुम्बी जिनमंदिर अवस्थित हैं, ऐसा उल्लेख हुआ है (48-51)।

ग्रंथ के अंजन पर्वतों की पुष्करिणियों का उल्लेख करते हुए दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा वाले अंजन पर्वतों की चारों दिशाओं में स्थित चार-चार पुष्करिणियों के नाम बतलाए गए हैं (52-57)। यहाँ पूर्व दिशा के अंजन पर्वत और उसकी चारों दिशाओं में पुष्करिणियाँ हैं अथवा नहीं, इसकी कोई चर्चा नहीं की गई है।

प्रस्तुत ग्रंथ के अनुसार नन्दीश्वर द्वीप में इक्यासी करोड़ इक्कानवें लाख पिच्चानवें हजार योजन अवगाहना करने पर रतिकर पर्वत हैं। ग्रंथ में इन रतिकर पर्वतों की ऊँचाई, विस्तार, परिधि आदि का परिमाण बतलाते हुए पूर्व-दक्षिण, पश्चिम-दक्षिण, पश्चिम-उत्तर तथा पूर्व-उत्तर दिशा में स्थित रतिकर पर्वतों की चारों दिशाओं में एक लाख योजन विस्तीर्ण तथा तीन लाख योजन परिधि वाली चार-चार राजधानियों को पूर्वादि दिशाओं के अनुक्रम से चारों दिशाओं में स्थित माना है (58-70)।

कुण्डल द्वीप का विस्तार दो हजार छः सौ इक्कीस करोड़ चौंवालीस लाख योजन बतलाया गया है। ग्रंथ में कुण्डल द्वीप के मध्य में स्थित प्राकार के समान आकार वाले कुण्डल पर्वत की ऊँचाई, जमीन में गहराई तथा अधो भाग, मध्य भाग और शिखर-तल के विस्तार का भी विवेचन किया गया है (71-75)।

कुण्डल पर्वत के ऊपर पूर्वादि दिशाओं के अनुक्रम से चारों दिशाओं में चार-चार- इस प्रकार कुल सोलह शिखर कहे गये हैं। साथ ही इन शिखरों के अधोभाग,

मध्यभाग और शिखर तल की परिधि और विस्तार का परिमाण भी बतलाया गया है (76-83)। इन शिखरों पर पल्योपम काय-स्थिति वाले सोलह नागकुमार देव कहे गए हैं। (84-86)।

कुण्डल पर्वत के भीतर उत्तर दिशा में ईशान लोकपालों की तथा दक्षिण दिशा में शक्र लोकपालों की तथा दक्षिण दिशा में शक्र लोकपालों की सोलह-सोलह राजधानियाँ कही गई हैं। कुण्डल पर्वत के मध्य भाग में रतिकर पर्वत के समान परिमाण वाला वैश्रमणप्रभपर्वत स्थित माना है। उस पर्वत की चारों दिशाओं में जम्बू द्वीप के समान लम्बाई-चौड़ाई वाली चार राजधानियाँ है। इसी प्रकार वरुणप्रभ पर्वत, सोमप्रभ पर्वत तथा यमवृत्तिप्रभ पर्वत की चारों दिशाओं में भी चार-चार राजधानियाँ मानी गई है (87-97)।

कुण्डल पर्वत की भीतरी राजधानियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि दक्षिण दिशा में शक्र देवराज की आठ अग्रमहिषियाँ और उनके नाम वाली आठ राजधानियाँ तथा उत्तर दिशा में ईशान देवराज की आठ अग्रमहिषियाँ और उन्हीं के नाम वाली आठ राजधानियाँ हैं (98-101)।

कुण्डल पर्वत के बाहर तैंतीस रमणीय रतिकर पर्वत माने गये हैं। इन पर्वतों को शक्र देवराज के जो तैंतीस देव हैं, उनके उत्पाद पर्वत बताया गया है। आगे की गाथाओं में शक्र देवराज और ईशान देवराज की अग्रमहिषियों के नाम वाली आठ-आठ राजधानियों का उल्लेख हुआ है (102-109)।

ग्रंथ में कुण्डल समुद्र और रुचक द्वीप के विस्तार परिमाण की संक्षिप्त चर्चा के पश्चात् रुचक द्वीप के मध्य में स्थित रुचक पर्वत की ऊँचाई, जमीन में गहराई, अधोभाग, मध्यभाग तथा शिखर-तल का उसका विस्तार परिमाण आदि बतलाया गया है (110-116)।

रुचक पर्वत के शिखर-तल पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर-चारों दिशाओं में नानारत्नों से विचित्र प्रकाश करने वाले आठ-आठ शिखर माने गये हैं (117-126)। इन शिखरों पर पूर्वादि दिशाओं के अनुक्रम से चारों दिशाओं में एक पल्योपम काय-स्थिति वाली आठ-आठ दिशाकुमारियाँ कही गई हैं (127-135)। रुचक पर्वत पर पूर्वादि दिशाओं के अनुक्रम से द्वीपाधिपति देवों के चार आवास बतलाये गये हैं। पुनः यह कहा गया है कि इन्हीं नाम वाले आवास दिशाकुमारियों के भी हैं (136-

138)। आगे पूर्वादि दिशाओं के अनुक्रम से चार-चार शिखरों का उल्लेख करते हुए कहा है कि इन शिखरों पर डेढ़ पल्योपम काय स्थिति वाली दिशाकुमारियाँ रहती है (139-142)।

ग्रंथ में पूर्वादि दिशाओं के अनुक्रम से चारों दिशाओं में चार दिग्हस्ति शिखर तथा उन पर डेढ़ पल्योपम काय - स्थिति वाले दिग्हस्ति देव कहे गये हैं (143-144)। आगे की गाथाओं में पूर्वादि दिशाओं के अनुक्रम से चारों दिशाओं में चार शिखर कहे गये हैं, उन शिखरों को सविशेष पल्योपम काय-स्थिति वाली विद्युतकुमारी देवियोंकेमानेहैं(145-148)।

ग्रंथ में उल्लेख है कि रुचक पर्वत के बाहर आठ लाख चौरासी हजार योजन चलने पर रतिकर पर्वत आते हैं। इन रतिकर पर्वतों को शक्र, ईशान और सामानिक देवों के उत्पाद पर्वत माना गया है। उत्पाद पर्वत की चारों दिशाओं में जम्बूद्वीप के समान लम्बाई-चौड़ाई वाली चार राजधानियाँ कही गई हैं (149-155)।

ग्रंथ में जम्बूद्वीप आदि द्वीप-समुद्रों तथा मानुषोत्तर पर्वत पर दो-दो, एवं रुचक पर्वत पर तीन अधिपति देव माने हैं। इनके पश्चात् स्थित अन्य द्वीप-समुद्रों में उनके स मान नाम वाले अधिपति देव माने गये हैं। पुनः यह भी कहा गया है कि एक समान नाम वाले असंख्य देव होते हैं (156-163)। वासों, द्रहों, वर्षधर पर्वतों, महानदियों, द्वीपों और समुद्रों के अधिपति देव एक पल्योपम कायस्थिति वाले कहे गए हैं। आगे यह भी उल्लिखित है कि द्वीपाधिपति देवों को उत्पत्ति द्वीप के मध्य में तथा समुद्राधिपति देवों की उत्पत्ति विशेष क्रीड़ा-द्वीपों में होती है (164-165)।

रुचक समुद्र में असंख्यात् द्वीप-समुद्र हैं। रुचक समुद्र में पहले अरुण-द्वीप और उसके बाद अरुण समुद्र आता है। अरुण समुद्र में दक्षिण दिशा की ओर तिगिच्छि पर्वत माना गया है। तिगिच्छि पर्वत का विस्तार एवं परिधि अधोभाग तथा शिखर-तल पर अधिक किन्तु मध्यभाग में कम बतलाई गई है। यद्यपि पर्वत के संदर्भ में ऐसी कल्पना करना उचित नहीं है कि उसकी अधोभाग तथा शिखर-तल की परिधि एवं विस्तार अधिक हो तथा उसकी मध्यवर्ती परिधि एवं विस्तार कम हो, किन्तु ग्रंथ में आगे यह भी कहा गया है कि तिगिच्छि पर्वत का मध्यवर्ती भाग उत्तम वज्र जैसा है (166-171)। इस आधार पर तिगिच्छि पर्वत का यही आकार बनता है। तिगिच्छि पर्वत को रत्नमय, पद्मवेदिकाओं, वनखण्डों तथा अशोक वृक्षों से घिरा हुआ कहा है (172-173)।

तिगिच्छि पर्वत की दक्षिण दिशा की ओर चमरचंचा राजधानी कही गई है। इस राजधानी का विस्तार एक लाख योजन तथा परिधि तीन लाख योजन मानी गई है। साथ ही यह भी माना गया है कि यह राजधानी भीतर से चौरस और बाहर से वर्तुलाकार है। आगे की गाथाओं में चमरचंचा राजधानी के स्वर्णमय प्राकारों दरवाजों, राजधानी के प्रवेश मार्गों तथा देव विमानों का विस्तार परिमाण उल्लिखित है (174-186)।

ग्रंथ में चमरचंचा राजधानी के प्रसाद की पूर्व-उत्तर दिशा में सुधर्मासभा मानी गई है। उसके बाद चैत्यगृह, उपपातसभा, ह्रद, अभिषेक सभा, अलंकार सभा और व्यवसाय सभा का वर्णन किया गया है (187-188)। सुधर्मा सभा की तीन दिशाओं में में आठ योजन ऊँचे तथा चार योजन चौड़े तीन द्वार माने गये हैं। उन द्वारों के आगे मुखमण्डप, उनमें प्रेक्षागृह और प्रेक्षागृहों में अक्षवाटक आसन होना माना गया है। प्रेक्षागृहों के आगे स्तूप तथा उन स्तूपों की चारों दिशाओं में एक-एक पीठिका है। प्रत्येक पीठिका पर एक-एक जिनप्रतिमा मानी गई है। स्तूपों के आगे की पीठिकाओं पर चैत्य वृक्ष, चैत्य वृक्षों के आगे मणिमय पीठिकाएँ, उन पीठिकाओं के ऊपर महेन्द्र ध्वज तथा उनके आगे नंदा पुष्करिणियाँ मानी गई हैं। तथा यह कहा गया है कि यही वर्णन जिन मंदिरों तथा शेष बची हुई सभाओं का भी है (189-195)। किन्तु जो कुछ भिन्नता है उसकी आगे की गाथाओं में कहा गया है।

बहुमध्य भाग में चबूतरा, चबूतरे पर मानवक चैत्य स्तम्भ, चैत्य स्तम्भ पर फलकें, फलकों पर खूटियाँ, खूटियों पर लटके हुए वज्रमय गीकें, सीकों में डिब्बे तथा उन डिब्बों में जिनभगवान् की अस्थियाँ मानी गई हैं (196-197)।

मानवक चैत्य स्तंभ की पूर्व दिशा में असन, पश्चिम दिशा में शय्या, शय्या की उत्तर दिशा में इन्द्रध्वज तथा इन्द्रध्वज की पश्चिम दिशा में चौप्पाल नामक शस्त्र भंडार माना गया है और कहा है कि वहाँ स्फटिक मणियों एवं शस्त्रों का खजाना रखा हुआ है (198-199)।

ग्रंथ में जिनमंदिर और जिनप्रतिमाओं का विशेष विवरण उपलब्ध है। जिनमंदिर में जिनदेव की एक सौ आठ प्रतिमाओं, प्रत्येक प्रतिमा के आगे एक-एक घण्टा तथा प्रत्येक प्रतिमा के दोनों पार्श्व में दो-दो चँवरधारी प्रतिमाएँ मानी गई हैं। शेष सभाओं में भी पीठिका, आसन, शय्या, मुखमण्डप, प्रेक्षागृह, ह्रद, स्तूप, चैत्य स्तंभ ध्वज एवं चैत्य वृक्षों आदि का यही वर्णन निरुपित किया गया है (200-206)।

ग्रंथ के अनुसार चमरचंचा राजधानी की उत्तर दिशा में अरुणोदक समुद्र में पाँच आवास हैं। आगे सोमनसा, सुसीमा तथा सोम-यमा नामक तीन राजधानियाँ और उनका परिमाण बतलाया गया है। यह भी कहा गया है कि वहाँ वरुणदेव के चौदह हजार तथा नलदेव के सोलह हजार आवास हैं । इन राजधानियों के बाहरी वर्तुल पर सैनिकों और अंगरक्षकों के आवास माने गये हैं। पुनः अरुण समुद्र में उत्तर दिशा की ओर भी सोमनसा, सुसीमा और सोम-यमा-ये तीनों राजधानियाँ मानी गई हैं, अंतर यह है कि यहाँ स्थित इन राजधानियों का विस्तार परिमाण उन राजधनियों से दो हजार योजन अधिक माना गया है। यहाँ वरुणदेव और नलदेव के आवासों की चर्चा करते हुए उनके भी दो-दो हजार आवास अधिक माने गए हैं, जो विचारणीय हैं (207-218)।

जम्बूद्वीप में दो, मानुषोत्तर पर्वत में चार तथा अरुण समुद्र में देवों के छः आवास माने गये हैं तथा कहा गया है कि उन आवासों में ही उन देवों की उत्पत्ति होती है। असुरकुमारों, नागकुमारों एवं उदधिकुमारों के आवास अरुण समुद्र में माने गये हैं और उन्हीं में उनकी उत्पत्ति होना माना गया है। इसी प्रकार द्वीपकुमारों, दिशाकुमारों, अग्निकुमारों तथा स्तनितकुमारों के आवास अरुण द्वीप में माने गए हैं और यह कहा गया है कि उन्हीं में उनकी उत्पत्ति होती है (221-223)।

ग्रंथ की अंतिम दो गाथाओं में चन्द्र-सूर्यों की संख्या का निरुपण करते हुए कहा गया है कि पुष्करवर द्वीप के ऊपर एक सौ चौंवालीस चन्द्र और एक सौ चौंवालीस सूर्यों की पंक्तियाँ हैं। इसके आगे की द्वीप-समुद्रों में चन्द्र-सूर्यों की पंक्तियों में चार गुणा वृद्धि होती है। ग्रंथ का समापन यह कहकर किया गया है कि जो द्वीप और समुद्र जितने लाख योजन विस्तार वाला होता है वहीं उतनी ही चन्द्र और सूर्यों की पंक्तियाँ होती हैं। (224-225)।

द्वीपसागरपण्णत्ति पइण्णयं की गाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन

विषय वस्तु की तुलना-

द्वीप सागर प्रज्ञप्ति प्रकीर्णक की विषयवस्तु श्वेताम्बर परंपरा के मान्य आगम ग्रंथों में कहाँ एवं किस रूप मेंउपलब्ध है, इसका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है-

(1) पुक्खरवरदीवड्ढं परिक्खिवइ माणुसोत्तरो सेलो।
पायारसरिसरुवो विभयंतों माणुसं लोयं॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 1)

(2) सत्तरस एक्कवीसाइं जोयणसयाइं 1721 सो समुव्विद्धो।
चत्तारि य तीसाइं मूले कोसं 430 1/4 च ओगोढो॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 2)

(3) दस बावीसाइं अहे वित्थिण्णो होइ जोयणसयाइं 1022।
सत्त य तेवीसाइं 723 वित्थिण्णो होइ मज्झम्मि॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 3)

(4) तस्सुवरि माणुसनगस्स कूडा दिसिी विदिसि होंति सोलस उ।
तेसिं नामावलियं अहक्कम्मं कित्तइस्सामि॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 5)

(5) एगासि एगनउया पचाणउइं भवे सहस्साइं।
तिण्णेव जोयणसए 819195300 ओगाहित्ताण अंजणगा॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 26)

(6) चुलसीए सहस्साइं 84000 उव्विद्धा, ते गया सहस्समहे 1000।
धरणियले वित्थिण्णा अणूणगे ते दस सहस्से 10000॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 27)

(7) विक्खंभेणंजणगा सिहरतले होंति जोयणसहस्सं 1000।
तिन्नेव सहस्साइं बावट्ठसयं 3162 परिरएणं॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 35)

(8) अंजणगपव्वयाणं सिहरतलेसुं हवंति पत्तेयं।
अरहंतायणाइं सीहनिनाईणि तुंगाई॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 38)

(1) ता पुक्खवरस्स णं दीवस्स बहुमज्झदेसभाए माणुसुत्तरे णामं पव्वए पण्णत्ते, वट्टे वलयाकारसंठाणसंठिए जे णं पुक्खवरं दीवं दुहा विभयमाणे विभयमाणे चिट्ठइ, तं जहा-1. अब्भिंतर पुक्खरद्धं च, 2 बाहिरपुक्खरद्धं च।

(सूर्यप्रज्ञप्ति, पृष्ठ 187)

(2) माणुसुत्तरे णं पव्वए सत्तरसएक्कवीसे जोयणसए उड्ढं उच्चत्तेण पण्णत्ते।

(समवायांगसूत्र, 17/3)

(3) माणुसुत्तरे णं पव्वते मूले दस बावीसे जोयणसते विक्खंभेणं पण्णत्ते।

(स्थानांग सूत्र, 10/40)

(4) माणुसुत्तरस्स णं पव्वयस्स यउदिसिं चत्तारि कूडा पण्णत्ता, तं जहा-रयणे, रतणुच्चए, सव्वरयणे, रत संचए।

(स्थानांगसूत्र , 4/2/303)

(5) णंदीसरवरस्स णं दीवस्स चक्कवाल-विखंभस्स बहुमज्झदेसभागे चउद्दिसिं चत्तारि अंजणगपव्वता पण्णत्ता।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/338)

(6)(i) ते णं अंजणगपव्वता चउरासीति जायणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं, एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं, मूले दस जोयणसहस्सं उव्वेहेणं, मूले दसजोयणसहस्साइं विक्खंभेणं।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/338)

(ii) श्रव्वेसिं णं अंजणगपव्वया चउरासीइं जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।

(समवायांग सूत्र, 84/8)

(7) तदणंतरं च णं मायाए-मायाए परिहायमाणा-परिहायमाणा उवरिमेगं जोयणसहस्सं विक्खंभेणं पण्णत्ता। मूले इक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसते परिक्खेवेणं, उवरिं तिण्णि-तिण्णि जोयणसहस्साइं एगं च बावट्ठ जोयणसत्तं परिक्खेवेणं।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/338)

(8) तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि सिद्धायतणा पण्णत्ता।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/339)

(9) जोयणसयमायामा 100, पन्नासं 50 जोयणाइं वित्थिन्ना।
पनत्तरि 75 मुव्विद्धा अंजणगतले जिणाययणा॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 40)

(10) अंजणगपव्वयाण उ सयस्सहस्सं 100000 भवे अबाहाए।
पुव्वाइआणुपुव्वो पोक्खरणीओ उ चत्तारि॥
पुव्वेण होइ नंदा 1 नंदवई दक्खिणे दिसाभाए 2।
अवरेण य णंदुत्तर 3 नंदिसेणा उ उत्तरओ 4॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 41-42)

(11) एगं च सहसहस्सं 100000 वित्थिण्णाओ सहस्समोविद्धा 1000।
निम्मच्छ-कच्छभाओ जलभरियाओ अ सव्वाओ॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 43)

(12) पुक्खरणीण चउदिसिं पंचसए 500 जोयणाणऽबाहाए।
पुव्वाइआणुपुव्वी चउद्दिसिं होंति वणसंडा॥
पागारपरिक्खित्ता सोहंते ते वणा अहियरम्मा॥
पुव्वेण असोगवणं, दक्खिणओ होइ सत्तिवन्नवणं।
अवरेण चंपयवणं, चूयवणं उत्तरे पासे॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 44-46)

(13) रयणमुहा उ दहिमुहा पुक्खरणीणं हवंति मज्झम्मि।
दस चेंव सहस्सा 10000 वित्थरेण, चउसट्ठि 64 मुव्विद्धा॥
एकत्तीस सहस्सा छच्चेव सया हवंति तेवीसा 31623।
दहिमुहनगरपरिखेवो किंचिविसेसेण परिहीणो॥
संखदल-विमलनिम्मलदहिघण-गोखीर- हारसंकासा।
गगणतलमणुलिहिंता सोहंते दहिमुहा रम्मा॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 48-50)

(9) ते णं सिद्धायतणा एगं जोयणसयं आयामेणं, पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं, बावत्तरिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं

(स्थानांगसूत्र, 4/2/339)

(10) तत्थ णं जे से पुरत्थिमिल्ले अंजणगपव्वते, तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-णंदुत्तरा, णंदा, आणंदा, णंदिवद्धणा।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/340)

(11) ताओ णं णंदाओ पुक्खरिणीओ एगं जीयणसयसहस्सं आयामेणं पण्णासं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, दसजोयणसताइं उव्वेहेणं।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/340)

(12) (i)तासि णं पुक्खरिणोणं पत्तेयं-पत्तेयं चउद्दिसिं चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता, तं जहा-पुरतो दाहिणे णं, पच्चत्थिमे णं उत्तरे णं।
पुव्वेणं असोगवणं, दाहिणओ होइ सत्तवण्णवणं।
अवरे णं चंपगवणं, चूयवणं उत्तरे पासे॥

(स्थानांगसूत्र, 4/2/340)

(ii)विजयाए णं रायहाणीए चउद्दिसिं पंचपंचजोयणसयाइं अबाहाए, एत्थ णं चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता, तं जहा-असोगवणे, सत्तिवण्णवणे, चंपकवणे, चूयवणे । पुरत्थिमेणं असोगवणे, दाहिणेणं सत्तिवण्णवणे, पच्चत्थिमेणं चंपगवणे उत्तरेणं चूयवणे । ते णं वणसंडा साइरेगाइं दुवालस जोयणसहस्साइं आयामेणं पंचजोयणसयाइ विक्खंभेणं पण्णत्ता पत्तेयं पत्तेयं पागारपरिक्खित्ता किण्हा किण्होभासा वणसंडवण्णओ भणियव्वो जाव बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/136 (ळ))

(13) तासि णं पुक्खरिणीणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि दधिमुहगपव्वया पण्णत्ता। ते णं दधिमुहगपव्वया चउसट्ठिं जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं, एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं, सव्वत्थ समा पल्लगसंठाणसंठिता दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसते परिक्खेवेणं सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/340)

(14) जो दक्खिणअंजणगो तस्सेव चउद्दिसिं च बोद्धव्वा।
पुक्खरिणी चत्तारि वि इमेहिं नामेहि विन्नेया॥
पुव्वेण होइ भद्दा 1, होइ सुभद्दा उ दक्खिणे पासे 2।
अवरेण होइ कुमुया 3, उत्तरओ पुंडरिगिणी उ 4॥
(द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गाथा 52/53)

(15) अवरेण अंजणो जो उ होइ तस्सेव चउदिसिं होंति।
पुक्खरिणीओ, नामेहिं इमेहिं चत्तारि विन्नेया॥
पुववेण होइ विजया 1, दक्खिणओ होइ वेजयंती उ 2।
अवरेणं तु जयंती 3, अवराइय उत्तरे पासे 4॥
(द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गाथा 54/55)

(16) जो उत्तरअंजणगो तस्सेव चउद्दिसिं च बोद्धाव्वा।
पुक्खरिणीओ चत्तारि, इमेहिं नामेहिं विन्नेया॥
पुव्वेण नंदिसेणा 1, आमोहा पुण दक्खिणे दिसाभाए 2।
अवरेणं गोत्थूभा 3 सुदंसणा होइ उत्तरओ 4॥
(द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गाथा 56/57)

(17) एकासि एगनउया पंचाणउइं भवे सहस्साइं 819195000।
नंदीसरवरदीवे ओगाहित्ताण रइकरगा॥
उच्चत्तेण सहस्सं 1000, अड्ढाइज्जे सए य उव्विद्धा 250।
दस चेव सहस्साइं 10000 वित्थिण्णा होंति रइकरगा॥
(द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गाथा 58/59)

(18) एक्कत्तीस सहस्सा छ च्चेव सए हवंति तेवीसे 31623।
रइकरगपरिक्खेवो किंचिविसेसेण परिहीणो॥
(द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गाथा 60)

(19) जो पुव्वदक्खिणे रइकरगो तस्स उ चउद्दिसिं होंति।
सक्कऽगमहिस्सीणं एया खलु रायहाणीओ॥
देवकुरु 1, उत्तरकुरा 2, एया पुव्वेण दक्खिणेणं च।
अवरेण उत्तरेण य नंदुत्तर 3 नंदिसेणा 4 य॥
(द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गाथा 62-63)

(14) तत्थ णं से दाहिणिल्ले अंजणगपव्वते, तस्स णं चउदिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-भद्दा, विसाला, कुमुदा, पोंडरीगिणी।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/341)

(15) तत्थ णं जे से पच्चत्थिमिल्ले अंजणगपव्वते, तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-णंदिसेणा, अमोहा, गोथूमा, सुदंसणा।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/342)

(16) तत्थ णं जे से उत्तरिल्ले अंजणगपव्वते, तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-विजया, वेजयंती, जयंती, अपराजिता।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/346)

(17) णंदीसरवरस्स णं दीवस्स चक्कवाल-विक्खंभस्स बहुमज्झदेसभागे चउसु विदिसासु चत्तारि रतिकरगपव्वता पण्णत्ता, तं जहाउत्तरपुरत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वाए दाहिणपुरत्थिमिल्ले रतिकारगपव्व्ए । ते णं रतिकरगपव्त्ता दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चतेणं दस गाउयसताइं उव्वेहेणं, सव्वत्थ समा झल्लरि-संठाणसंठिता, दस जोयण-सहस्साइं विक्खंभेणं।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/344)

(18) एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसते परिक्खेवेणं; सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरुवा।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/344)

(19) तत्थ णं जे से दाहिणपुरत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वते, तस्स णं चउद्दिसिं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबुद्दीवपमाणाओ चत्तारि रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहासमणा, सोमणसा, अच्चिमाली, मणोरमा। पउमाए, सिवाए, सतीए, अंजूए।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/346)

(20) जो अवरदक्खिणे रइकरो उ तस्सेव चउदिसिं होंति।
सक्कऽग्गमहिस्सीणं एया खलु रायहाणीओ॥
भूया 1 भूयवडिंसा 2, एया पुव्वेण दक्खिणेण भवे।
अवरेण उत्तरेण य मणोरमा 3 अग्गिमालीया 4॥
(द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गाथा 65-66)

(21) अवरुत्तररइकरगे चउद्दिसिं होंति तस्स एयाओ।
ईसाणअग्गमहिसीण ताओ खलु रायहाणीओ॥
सोमणसा 1 य सुसीमा 2, एया पुव्वेण दक्खिणेण भवे।
अवरेण उत्तरेण य सुदंसणा 3 चेवऽमोहा 4 य॥
(द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गाथा 67-68)

(22) पुव्वुत्तररइकरगे तस्सेव चउद्दिसिं भवे एया।
ईसाणऽग्गमहिसीण सालपरिवेढियतणओ॥
रयणप्पहा 1 य रयणा 2, (एया) पुव्वेण दक्खिणेण भवे।
सव्वरयणा 3 रयणसंचया 4 य अवरुत्तरे पासे॥
(द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गाथा 69-70)

(23) कणगे 1 कंचणगे 2 तवण 3 दिसासोवत्थिए 4 अरिट्ठे 5 य।
चंदण 6 अंजणमूले 7 वइरे 8 पुण अट्ठमे भणिए॥
नाणारयणविचित्ता उज्जोवंता हुयासणसिहा व।
एए अट्ठ वि कूडा हवंति पुव्वेण रुयगस्स॥
(द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गाथा 119-120)

(24) फलिहे 1 रयणे 2 भवणे 3 पउमे 4 नलिणे 5 ससी 6 य नायव्वे।
वेसमणे 7 वेरुलिए 8 रुयगस्स हवंति दक्खिणओ॥
नाणारयणविचित्ता अणोवमा धंतरूवसंकाया।
एए अट्ठ वि कूडा रुयगस्स हवंति दक्खिणओ॥
(द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गाथा 121-122)

(20) तत्थ णं जे से दाहिणपच्चत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वते, तस्स णं चउद्दिसिं सक्क कस्स देविंदस्स देवरण्णो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबुद्दीवपमाणमेत्ताओ चतारि रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा- भूता, भूतवडेंसा, गोथूभा, सुदंसणा । अमलाए, अच्छराए णवमियाए रोहिणीए।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/347)

(21) तत्थ णं जे से उत्तरपच्चत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वते, तस्स णं चउद्दिसिमीसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबुद्दीवप्पमाणमेत्ताओ चत्तारि रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा- रयणा, रतणुच्चया, सव्वरतणा, रतणसंचया । वसूए, वसुगुत्ताए, वसुमित्ताए, वसुंधराए।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/348)

(22) तत्थ णं जे से उत्तरपुरत्थिमिल्ले रतिकरगपव्वते, तस्स णं चउद्दिसिं ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबुद्दीवपमाणाओ चत्तारि रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहाणंदुत्तरा, णंदा, उत्तरकुरा, देवकुरा। कण्हाए, कण्हराईए, रामाए, रामरक्खियाए।

(स्थानांगसूत्र, 4/2/345)

(23) जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे णं रुयगवरे पव्वते अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा-

रिट्ठे तवणिज्ज कंचण, रयत दिसासोत्थिते पलंबे य।
अंजणे अंजणपुलए, रुयगस्स पुरत्थिमे कूडा।।

(स्थानांगसूत्र, 8/95)

(24) जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणे णं रुयगवरे पव्वते अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा-

कणए कंचणे पउमे, णलिणे ससि दिवायरे चेव।
वेसमणे वेरुलिए, रुयगस्स उ दाहिणे कूडा।।

(स्थानांगसूत्र, 8/96)*

.....

* द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में इन शिखरों को रुचक पर्वत की चारों दिशाओं में स्थित माना है।

(25) अमोहे 1 सुप्पबुद्धे य 2 हिमवं 3 मंदिरे 4 इय।
रुपगे 5 रुयगुत्तरे 6 चंदे 7 अट्ठमे य सुदंसणे 8॥
नाणारयणविचित्ता अणोवमा धंतरुवसंकासा।
एए अट्ठ वि कूडा रुयगस्स वि होंति पच्छिमओ॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 123-124)

(26) विजए 1 य वेजयंते 2 जयंत 3 अपराइए 4 य बोद्धवे।
कुंडल 5 रुयगे 6 रयणुच्चए 7 य तह सव्वरयणे 8 य॥
नाणारयणविचित्ता उज्जोवेंता हुयासणसिहा व।
एए अट्ठ वि कूडा रुयगस्स हवंति उत्तरओ॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 125-126)

(27) नंदुत्तरा। य नंदा 2 आणंदा 3 तह य नंदीसेणा 4 य।
विजया 5 य वेजयंती 6 जयंति 7 अवराइया 8 चेव॥
एया पुरत्थिमेणं रुयगम्मि उ अट्ठ होंति देवीओ।
पुव्वेण जे उ कूडा अट्ठ वि रुयगे तहिं एया॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 128-129)

(28) लच्छिमई 1 सेसमई 2 चित्तगुत्ता 3 वसुंधरा 4।
समाहारा 5 सुप्पदिन्ना 6 सुप्पबुद्धा 7 जसोधरा 8॥
एयाओ दक्खिणेणं हवंति अट्ठ वि दिसाकुमारीओ।
जे दक्खिणेण कूडा अट्ठ वि रुयगे तहिं एया॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 130-131)

(25) जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमें णं रुयगवरे पव्वते
अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा-
सोत्थिते य अमोहे य, हिमवं मंदरे तहा।
रुअगे रुयगुत्तमे चंदे, अट्ठमे य सुदंसणे॥

(स्थानांग सूत्र, 8/97)*

(26) जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरे णं रुअगवरे पव्वते
अट्ठ कूडा पण्णत्ता, तं जहा-
रयण-रयणुच्चए य, सव्वरयण रयणसंचए चेव।
विजये य वेजयंते जयंते अपराजिते॥

(स्थानांग सूत्र, 8/98)*

(27) (i)तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ जाव
पलिओवमट्ठितीयाओ परिवसंति, तं जहा-
णंदुत्तरा य णंदा, आणंदा णंदिवद्धणा।
विजया य वेजयंती, जयंती अपराजिया॥

(स्थानांग सूत्र, 8/95)*

(ii) नंदुत्तरा 1 य नंदा 2 आणंदा 3 नंदिवद्धणा 4 चेव।
विजया 5 य वेजयंती 6 जयंति 7 अवराइअट्ठमिया 8॥
एयाओ रूयगनगे पुव्वे कूडे वसंति अमरीओ।
आदंसगहत्थाओ जणणीणं ठंति पुव्वेणं॥

(तित्थोगाली प्रकीर्णक, गाथा 153-154)

(28) (i)तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ जाव
पलिओवमट्ठितीयाओ परिवसंति, तं जहा-
समाहारा सुपतिण्णा, सुप्पबुद्धा जसोहरा।
लच्छिवंती सेसवती, चित्तगुत्ता वसुंधरा॥

(स्थानांग सूत्र, 8/96)*

(ii) रुयगे दाहिणकूडे अट्ठ समाहारा 1 सुप्पइण्णा 2 य।
तत्तो य सुप्पबुद्धा 3 जसोधरा 4 चेव लच्छिमई 5॥
सेसवति 6 चित्तगुत्ता 7 जसो (वसुंधरा) 8 चेव गहियभिंगारा॥
देवीण दाहिणेणं चिट्ठंति पगायमाणीओ॥

(तित्थोगाली प्रकीर्णक, गाथा 155-156)

.....

* द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में इन शिखरोंको रुचक पर्वत की चारों दिशाओं में स्थित माना हैं।

(29) इलादेवी 1 सुरादेवी 2 पहुई 3 पउमावई 4 य विन्नेया।
एगनासा 5 णवमिया 6 सीया 7 भद्दा 8 य अट्ठमिया॥
अवरेण जे उ कूडा अट्ठ वि रुयगे तहिं एया॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 132-133)

(30) अलंबुसा 1 मीसकेसी 2 पुंडरगिणी 3 वारुणी 4।
आसा 5 सग्गप्पभा 6 चेव सिरि 7 हिरी, 8 चेव उत्तरओ॥
एया दिसाकुमारी कहिया सव्वण्णु - सव्वदरिसीहिं।
जे उत्तरेण कूडा अट्ठ वि रुयगे तहिं एया॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 134-135)

(31) रुयगाओ समुद्दाओ दीव-समुद्दा भवे असंखेज्जा।
गंतूण होइ अरुणो दीवो, अरुणो तओ उदही॥
बायालीस सहस्सा 42000 अरुणं ओगाहिऊण दक्खिणओ।
वरवइरविग्गहीओ सिलनिचओ तत्थ तेगिच्छी॥
सत्तरस एक्कवीसाइं जोयणसयाइं 1721 सो समुव्विद्धो।
दस चेव जोयणसए बावीसे 424 वित्थडो उ मज्झम्मि।
सत्तेव य तेवीसे 723 सिहरतले वित्थडो होई॥
सत्तरसएक्कवीसाइं 1721 पएसाणं सयाइं गंतूणं।
एक्कारस छन्नउया 1196 वड्ढंते दोसु पासेसु॥
बत्तीस सया बत्तीसउत्तरा 3232 परिरओ विसेसूणो।
तेरस ईयालाइं 1341 बावीसं छलसिया 2286 परिही॥
रयणमओ पउमाए वणसंडेणं च संपरिक्खित्तो।
मज्झे असोउववेढी, अड्ढाइज्जाइं उव्विद्धो॥
वित्थिण्णो पणुवीसं तत्थ य सीहासणं सपरिवारं।
नाणामणि-रयणमयं उज्जोवत दस दिसाओ।

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 166-173)

(29) (i)तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ जाव
पलिओवमट्ठितीयाओ परिवसंति, तं जहा-
एलादेवी सुरादेवी, पुढवी पउमावती।
एगणासा णवमिया सीता भद्दा य अट्ठमा॥

(स्थानांग सूत्र, 8/97)

(ii) देवीओ चेव इला 1 सुरा 2 य पुहवी 3 य एगनासा 4 य।
पउमावई 5 य नवमी 6 भद्दा 7 सीया य अट्ठमिया 8॥
रुयगावरकूडनिवा सिणीओ पच्चत्थिमेण जणणीणं।
गायंतीओ चिट्ठंति तालिवेंटे गहेऊणं॥

(तित्थोगाली प्रकीर्णक, गाथा 157-158)

(30) (i)तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ जाव
पलिओवमट्ठितीयाओ परिवसंति, तं जहा-
अलंबुसा मिस्सकेसी, पोंडरिगी य वारुणी
आसा सव्वागा चेव, सिरी हिरी चेव उत्तरतो॥

(स्थानांग सूत्र, 8/98)

(ii) तत्तो अलंबुसा 1 मिसकेती (सी) 2 तह पुंडरि (री) गिणी 3 चेव।
वारुणि 4 आसा 5 सव्वा 6 सिरी 7 हिरी 8 चेव उत्तरओ॥

(तित्थोगाली प्रकीर्णक, गाथा -159)

(31) कहि णं भंते ! चमरस्स असुरण्णो सभा सुहम्म पण्णत्ता ? गोयमा जंबुद्दीवे दोवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तिरियम-संखेज्जे दीव-समुद्दे वीईवइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स बाहिरिल्लातो वेइयंतातो अरुणोदयं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चमरस्स असुररण्णो तिगिंदिंकूडे नाम उप्पायपव्वते पण्णत्ते, सत्तरसएक्कवीसे जोयणसते उड्ढं उच्चतेणं, चत्तारितीसे जोयणसते कोसं च उव्वेहेणं, ... मूले वित्थडे, मज्झे संखित्ते, उप्पि विसाले ..... तस णं तिगिंछिकूउस्स उप्पायपव्वयस्स उप्पि बहुसमरमणिज्जे .....एत्थ णं महं एगे पासातवडिंसए पण्णते अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पणवीसं जोयणसयं विक्खंभेणं। पासायवण्णाओ। उल्लोयभूमिवण्णओ। अट्ठं जोयणाइं मणिपेढिया। चमरस्स सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं।

(विवाहपण्णत्तिसुत्तं, शतक 2 उद्देशक 8)

(32) तेगिच्छि दाहिण्णओ, छक्कोडिसयाइं कोडिपणन्नं।
पणतीसं लक्खाइं पण्णसहस्से 6553550000 अइवइत्ता॥
ओगाहित्ताणमहे चत्तालीसं भवे सहस्साई 40000।
अब्भिंतरचउरंसा बाहिं वट्टा चमरचंचा॥
एगं च सयसहस्सं 100000 वित्थिण्णो होइ आणुपुव्वीए।
तं तिगुणं सविसेसं परीरएणं तु बोद्धव्वा॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 174-176)

(33) सयमेगं पणुवीसं 125, बासट्ठिं जोयणाइं अद्धं च 62 1/2।
एकत्तीस सकोसे 31 1/4 य ऊसिया, वित्थडा अद्धं॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 187)

(34) पासायस्स उ पुव्वुत्तरेण एत्थ उ सभा सुहम्मा उ।
तत्तो य चेइयघरं उववायसभा य हरओ य॥
अभिसेक्का-ऽलंकारिय त्रवसाया ऊसिया उ छत्तीसं 36।
पन्नासइ 50 आयामा, आयामऽद्धं 25 तु वित्थिण्णा॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 188-189)

(32) तस्स णं तिगिंछिकूडस्स दाहिणे छक्कोडिसए पणपन्नं च कीडीओ पणतीसं च सतसहस्साइं पण्णासं च सहस्साई अरुणोदए समुद्दे तिरियं वीइवइत्ता, अहे व रतणप्पभाए पुढवोए चत्तालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुर-रण्णो चमरचंचा नामं रायहाणी पण्णत्ता, एगं जोयणसतसहस्सं आयाम-विक्खंभेणं जंबुद्दीवपमाणा । ओवारियलेणं सोलस जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, पन्नासं जोयण सहस्साइं पंच य सत्ताणउए जोयणसए किं चिविसेसूणे परिक्खेवेणं, सव्वप्पमाणं वेमाणियप्पमाणस्स अद्धं नेयव्वं

(वियाहपण्णत्तिसुत्तं, शतक 2 उद्देशक 8)

(33) ते णं पासायवडेंसया पणवीसं जोयणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं वासट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च विक्खं भेणं अब्भुग्गयमूसिय वण्णओ।

(राजप्रश्नीयसूत्र, 162)

(34) (i) तस्स णं मूलपासायवडेंसयस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं सभा सुहम्मा पण्णत्ता, एगं जोयणसयं आयामेणं, पण्णासं जोयणाइं विक्खम्भेणं, बावत्तरिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अणेगखम्भ ..... जाव अच्छरगण..... पासादीया।

(राजप्रश्नीयसूत्र, 163)

(ii) तस्स णं मूलपासायवडेंसगस्स उत्तरपुरत्थिमेणं, एत्थ णं विजयस्स देवस्स सभा सुधम्मा पण्णत्ता, अद्धतेरस जोयणाइं आयामेणं छ सक्कोसाइं जोयणाइं विक्खं णव जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अणेगखंभसयसन्निविट्ठा।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 137 (1))

(35) तिदिसिं होंति सुहम्माए तिन्नि दारा उ अट्ठ 8 उव्विद्धा।
विक्खंभो य पवेसो य जोयणा तेसि चत्तारि 4॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 190)

(36) तेसिं पुरओ मुहमंडवा उ, पेच्छाघरा य तेसु भवे।
पेच्छाघराण मज्झे अक्खाडा आसणा रम्मा॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 191)

(37) पेच्छाघराण पुरओ थूभा, तेसिं चउद्दिसिं होंति।
पत्तेय पेढियाओ, जिणपडिमा एत्थ पत्तेयं

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 192)

(35) (i) सभाए णं सुहम्माए तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता तं जहापुरत्थिमेणं, दाहिणेणं, उत्तरेणं। ते णं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अट्ठ जोयणाइं विक्खम्भेण, तावतियं चेव पवेसेणं, सेया वरकणगथूभियागा जाव वणमालाओ।

(राजप्रश्नीयसूत्र, 164)

(ii) तीसे णं सुहम्माए सभाए तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता। ते णं दारा पत्तेयं पत्तेयं दो दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं जोयणं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेण सेया वरकणगथूभियागा जाव वणमालादार-वण्णओ।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/137 (ii))

(36) (i) तेसि णं दाराणं पुरओ पत्तेयं पत्तेयं मुहमण्डवे पण्णत्ते, ...। तेसि णं महुमंडवाणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं पेच्छाघरमंडवे पण्णत्ते, ...। तेसी णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं-पत्तेयं वइरामए अक्खाडए पण्णत्ते।

(राजप्रश्नीयसूत्र, 164-165)

(ii) तेसि णं दाराणं पुरओ मुहमंडवा पण्णत्ता। ..... तेसि णं मुहमंडवाणं पुरओ पत्तेयं-पत्तेयं पेच्छाघरमंडवा पण्णत्ता, ... तेसि णं बहुमज्झ देसभाए पत्तेयं - पत्तेयं वइरामयअक्खाडगा पण्णत्ता।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/137 (ळळ))

(37) (i) तेसिं णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ पत्तेय-पत्तेय मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ ..... तासि णं उवरिं पत्तेयं - पत्तेयं थूभे पण्णत्ते। ..... तेसिं णं थूभाणं पत्तेयं - पत्तेयं चउद्दिसिं मणि - पेढियातो पण्णत्ताओ ।.....तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि जिणपडिमातो जिणुस्सेहपमाणमेत्ताओ संपलियंकनिसन्नाओ, थूभाभिमुहीओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति।

(राजप्रश्नीयसूत्र, 166)

(ii) तेसिं णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ तिदिसिं तओ मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। .....तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं-पत्तेयं चेइयथूभा पण्णत्ता। ..... तेसिं णं चेइयथूभाणं चउद्दिसिं पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ।.....मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं-पत्तेयं चत्तारि जिणपडिमाओ जिणुस्सेह पमाणमेत्ताओ पलियंकणिसन्नाओ थूभाभिमुहीओ सन्निविट्ठाओचिट्ठं ति।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/137 (ii))

(38) थूभाण होंति पुरओ (य) पेढिया, तत्थ चेइयदुमा उ।
चेइयदुमाण पुरओ उ पेढियाओ मणिमईओ॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 193)

(39) तासुप्परिं महिंदज्झया य, तेसु पुरओ भवे नंदा।
दसजोयण 10 उव्वेहा, हरओ वि दसेव 10 वित्थिण्णो॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 194)

(40) बहुमज्झदेसे पेढिय, तत्थेव य माणवो भवे खंभो।
चउवीसकोडिमंसिय बारसमद्धं च हेट्ठुवरिं॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 196)

(38) (i) तेसि णं थूमाणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ ..... । तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं-पत्तेयं चेइयरुक्खे पण्णत्ते । ..... तेसि णं चेइयरूक्खाणं पुरतो पत्तेयं - पत्तेयं मणिपेढ़ियाओ पण्णत्ताओ।

(राजप्रश्नीयसूत्र, 167-168)

(ii) तेसि णं चेइयथूभाणं पुरओ तिंदिसिं पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। ..... तासिं णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चेइयरूक्खा पण्णत्ता । ..... तेसि णं चेइयरुक्खाणं पुरओ तिदिसिं तओ मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/137 (3)-137 (4))

(39) (i) तासि णं मणिपेढियाणं उवरि पत्तेयं-पत्तेयं महिंदज्झए पण्णत्ते। ..... तेसि णं महिंदज्झयाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलया झया छत्तातिछत्ता। तेसि णं महिंदज्झयाणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं नंदा पुक्खरिणीओ पण्णात्ताओ। ताओ णं पुक्खरिणीओ एगं जोयणसयं आयामेणं, पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेण, दस जोयणाइं उव्वेहेण, अच्छाओ जाव वण्णओ!

(राजप्रश्नीयसूत्र, 169-170)

(ii) तासिं ण मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं - पत्तेयं महिंदझये पण्णत्ते । ..... तेसिं णं महिंदज्झयाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ता-इछत्ता । तेसिं णं महिंदज्झयाणं पुरओ तिंदिसिं तओ णंदाओ पुक्खरणीओ पण्णत्ताओ सक्कोसाइं छजोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पुक्खरिणीवण्णओ।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/137 (4))

(40) (i) तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं माणवए चेइएखंभे पण्णत्ते, सट्ठिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, जोयणं उव्वेहेणं, जोयणं विक्खंभेणं, अडयालीसंसिए, अडयालीसइ कोडीए, अडयालीसइ विग्गहिए सेसं जहा महिंदज्झयस्स।

(राजप्रश्नीयसूत्र, 174)

(ii) तीसे णं मणिपीढियाए उप्पिं एत्थ णं माणवए णाम चेइयखंभे पण्णत्ते, अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं छकोडीए छलंसे छविग्गहिए वइरामयवट्टलट्ठसंठिए, एवं जहा महिंदज्झयस्स वण्णओ जाव पासाईए।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/138)

(41) फलया, तहियं नागदंतया य, सिक्का तहिं (च) वइरमया।
तत्थ उ होंति समुग्गा, जिणसकहा तत्थ पन्नत्ता॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 197)

(42) माणवगस्स य पुव्वेण आसणं, पच्छिमेण सयणिज्जं।
उत्तरओ सयणिज्जस्स होइ इंदज्झओ तुंगो॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 198)

(41) (i) माणवगस्स णं चेइयखंभस्स उवरिं बारस जोयणाइं ओगाहेत्ता, हेट्ठावि बारस जोयणाइं वज्जेत्ता, मज्झे छत्तीसाए जोयणेसु एत्थ णं बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पण्णत्ता। तेसु णं सुवण्णरुप्पाएसु फलएसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता। तेसु णं वइरामएसु नागदंतेसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता। तेसु णं वइरामएसु नागदंतेसु बहवे रययामया सिक्क गा पण्णत्ता। तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वइरामया गोलवट्टसमुग्गया पण्णत्ता। तेसु णं वयरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहवे जिणसकहातो संनिक्खित्ताओ चिट्ठंति

(राजप्रश्नीयसूत्र, 174)

(ii) तस्स णं माणवगस्स चेइयखंभस्सं उवरिं छक्कोसे ओगाहित्ता हेट्ठावि छक्कोसे वज्जित्ता मज्झे अद्धपंचमेसु जोयणेसु एत्थ णं बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पण्णत्ता। तेसु णं सुवण्णरूप्पमएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता। तेसु णं वइरामएसु णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कगा पण्णत्ता। तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वइरामया गोलवट्टसमुग्गाका पण्णत्ता। तेसु णं वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहवे जिणसकहाओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/148)

(42) (i) तस्स माणवगस्स चेइयखंभस्स पुरत्थिमेण एत्य णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता। ..... तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णओ सपरिवारो। तस्स णं माणवगस्स चेइयखंभस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता, ... तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे देवसयणिज्जे पण्णत्ते। ..... तस्स णं देवसयणिज्जस्स उत्तरपुरत्थिमेणं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता, ... तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते।.... तीसे णं मणिपीढियाए उप्पि एगं महं खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते॥

(राजप्रश्नीयसूत्र, 175-176)

(ii) तस्स णं माणवगस्स चेइयखंभस्स पुरच्छिमेणं एत्थणं एगा महामणिपेढिया पण्णत्ता ... तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते। ... तीसे णं मणिपीढियाए उप्पिं एगं महं खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते॥

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/138)

(43) पहरणकोसो इंदज्झयस्स अवरेण इत्थ चोप्पालो।
फलिहप्पामोक्खाणं निक्खेवनिही पहरणाणं॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 199)

(44) जिणदेवछंदओ जिणघरम्मि पडिमाण तत्थ अट्ठसयं 108।
दो दो चमरधरा खलु, पुरओ घंटाण अट्ठसयं 108।

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 200)

(43) (i) तस्स णं खुड्डगमहिंदज्झयस्य पच्चत्थिमेणं एत्थ णं सूरिया भस्स देवस्स चोप्पाले नाम पहरणकोसे पण्णत्ते। ... तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स फलिहरयण-खग्ग-गया-वणुप्पमुहा बहवे पहरणरयणा सनिक्खित्ता चिट्ठंति।

(राजप्रश्नीयसूत्र, 176)

(ii) तस्स णं खुड्डमहिंदज्झयस्य पच्चत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चुप्पालए नाम पहरणकोसे पण्णत्ते तत्थ णं विजयस्स देवस्स फलिहरयणपामोक्खा बहवे पहरणरयणा सन्निक्खित्ता चिट्ठंति।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/138)

(44) (i) सभाए णं सुहम्माए उत्तरपुरत्थिमेणं यत्थ णं महेगे सिद्धायतणे पण्णत्ते, ... तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता, ... तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे देवछंदए पण्णत्ते, ... एत्थ णं अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमित्ताणं संनिक्खित्तं संचिट्ठति ।..... तासि णं जिणपडिमाणं पुरतो अट्ठसयं घंटाणं। ..... सिद्धायतणस्स णं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा, झया छत्तातिछत्ता॥

(राजप्रश्नीयसूत्र 177-179)

(ii) सभाए णं सुहम्माए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं सिद्धाययणे पण्णत्ते। ..... तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता। ..... तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवच्छंदए पण्णत्ते। ..... तत्थ णं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमेत्ताणं सण्णिक्खित्तं चिट्ठइ। ..... तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ अट्ठसयं घंटाणं, अट्ठसयं चंदणकलसाणं एवं अट्ठसयं भिंगारगाणं। ..... तस्स णं सिद्धायतणस्स उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगाझया छात्ताइछत्ता उत्तिमागारा सोलसविदेहिं रयणेहि उवसोभिया तंजहा-रयणेहि जाव रिट्ठेहि॥

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/139)

(45) सेसभाण उ मज्झे हवंति मणिपेढिया परमरम्म।
तत्थाऽऽसणा महरिहा, उववायसभाए सयणिज्जं॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 201)

(46) मुहमंडव पेच्छाहर हरओ दारा य सह पमाणाइं।
थूभा उ अट्ठ उ भवे दारस्स उ मंडवाणं तु॥
उव्विद्धा वीसं, उग्गया य वित्थिण्ण जोयणऽद्धं तु।
माणवग महिंदझया हवंति इंदज्झया चेव॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 202-203)

(45) (i) तस्स णं सिद्धायतणस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं महेगा उववायसभा पण्णत्ता, जहा सभाए सुहम्माए तहेव जाव मणिमेढिया अट्ठ जोयणाइं, देवसयणिज्जं तहेव सयणिज्जवण्णओ, अट्ठ मंगलगा, झया, छात्तातिछत्ता।

(राजप्रश्नीयसूत्र, 180)

(ii) तस्स णं सिद्धायणस्स णं उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं उववायसभा पण्णत्ता। जहा सुधम्मा तहेव जाव गोमाणसीओ।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/140)

(46) (i) तस्स णमाणवं गस्स चेइयखंभस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता। .... तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे देवसयणिज्जस्स उत्तरपुरत्थिमेणं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता। ..... तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते, सट्ठिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जोयणं विक्खंभेणं।

(राजप्रश्नीयसूत्र, 175-176)

(ii) तस्स णं माणवगस्स चेइयखंभस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता, ... तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते । ..... तस्स णं देवसयणिज्जस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ महई एगा मणिपीढिया पण्णत्ता । तीसे णं मणिपीढियाए उप्पिं एगं महं खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते, अद्धट्ठमाइ जोयणाइ उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं।

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/138)

(47) जिणदुम-सुहम्म-चेइयधरेसु जा पेढिया य तत्थ भवे।
चउजोयण 4 बाहल्ला, अट्ठेव 8 उ वित्थडाऽऽयामा॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 204)

(47) (i) तेसि णं वयरामयाणं अक्खाडगाणं बहुमाज्झ-देसभागे पत्तेयं-पत्तेयं मणिपेढिया पण्णत्ता । ताओ णं मणिवेढियाओ अट्ठ जोयणाई आयाम-विक्खंभेणं, चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं, सव्वमणिमईओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ॥

(राजप्रश्नीयसूत्र, 165)

(ii) तेसि णं चेइयरूक्खाणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं मणिपेढियाओ अट्ठ जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाअ जाव पडिरुवाओ।

(राजप्रश्नीयसूत्र, 168)

(iii) तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता-सोलस जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं, अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं॥

(राजप्रश्नीयसूत्र, 178)

(iv) तेसिं णं वइरामयाणं अक्खाडगाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेसं मणिपीठिया पण्णत्ता। ताओ णं मणिपीढियाओ जोयणमेगं आयाम-विक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ जाव पडिरुवाओ॥

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/137 (2))

(v) तेसिं णं चेइयरुक्खाणं पुरओ तिदिसि तओ मणिपेढियाअ पण्णत्ताओ ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेण अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ जाव पडिरुवाओ॥

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/137 (4))

(vi) तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमयी अच्छाओ जाव पडिरुवाओ॥

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/139 (1))

(48) सेसा चउ 4 आयामा, बाहल्लं दोण्णि 2 जोयणा तेसिं।
सव्वे य चेइयदुमा अट्ठेव 8 य जोयणुव्विद्धा॥
छ 6 ज्जोयणाइं विडिमा उव्विद्धा, अट्ठ 8 होंति वित्थिण्णा।
खंधो वि उ जोयणिओ, विक्खंभोव्वेहओ कोसं॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 205-206)

(49) दो 2 चेव जंबुदीवे, चत्तारि 4 य माणुसुत्तरनगम्मि।
छ 6 च्याऽरुणे समुद्दे, अट्ठ 8 य अरुणम्मि दीवम्मि॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 221)

(50) असुराणं नागाणं उदहिकुमाराणा होंति आवासा।
अरुणोदय समुद्दे, तत्थेव य तेसि उप्पाया ॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 222)

(51) दीव-दिसा-अग्गीणं थणियकुमाराण होंति आवासा।
अरुणबरे दीविम्मि उ उत्थेव य तेसि उप्पाया॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 232)

(48) (i) तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं-पत्तेयं चेइयरूक्खे पण्णत्ते, ते णं चेइयरुक्खा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोयणं उव्वेहणं, दो जोयणाइं खंधा, अद्धजोयणं विक्खंभेणं, छ जोयणाइं विडिमा, बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं, साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ता ॥

(राजप्रश्नीयसूत्र, 168)

(ii) तासिं णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं-पत्तेयं चेइयरुक्खा पण्णत्ता। ते णं चेइयरूक्खा अट्ठ जायणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोयणं उव्वेहेणं दो जोयणाइं खंधो अद्धजोयणं विक्खंभेणं छज्जोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोयणाइं आयामविक्खं भेणं साइरेगाइं अट्ठजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ता॥

(जीवाजीवाभिगमसूत्र, 3/137 (3))

(49) दो चेव जंबुदीवे, चत्तारि य माणुसुत्तरे सेले।
छ च्चाऽरुणे समुद्दे, अट्ठ य अरुणम्मि दीवम्मि॥

(देवेन्द्रस्तव, गाथा 46)

(50) असुराणं नागाणं उदहिकुमाराण हुंति आवासा।
अरुणवरम्मि समुद्दे तत्थेव य तेसि उप्पाया॥

(देवेन्द्रस्तव, गाथा 48)

(51) दिव-दिसा-अग्गीणं थणियकुमाराण होंति आवासा।
अरुणवरे दीवम्मि य, तत्थेव य तेसि उप्पाया॥

(देवेन्द्रस्तव, गाथा 49)

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति प्रकीर्णक की विषयवस्तु दिगम्बर परंपरा के मान्य ग्रंथों में कहाँ एवं किस रूप में उपलब्ध है, इसका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है-

(1) पुक्खरवरदीवड्ढं परिक्खिवइ माणुसोत्तरो सेलो।
पायारसरिसरुवो विभयंतो माणुसं लोयं॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 1)

(2) सत्तरस एक्कवीसाइं जोयणसयाइं 1721 सो समुव्विद्धो।
चत्तारि य तीसाइं मूले कोसं 430 1/4 च ओगाढो॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 2)

(3) दस बाबीसाइं अहे वित्थिण्णो होइ जोयणसयाइं 1022।
सत्त य तेवीसाइं 723 वित्थिण्णो होइ मज्झम्मि॥
चत्तारि य चउवीसे 424 वित्थरो होइ उवरि सेलस्स।
अड्ढाइज्जे दीवे दो वि समुद्दे अणुपरीइ॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 3-4)

(1) (i) कालोदयजगदीदौ समंतदो अट्ठलक्खजोयणया।
गंतूणं तं परिदो परिवेढदि माणुसुत्तरो सेलो॥
(तिलोयपण्णत्ति, 4/2748)

(ii) मानुषक्षैत्रमर्यादा मानुषोत्तरभूभृता।
परिक्षिप्तस्तु तस्यार्द्धः पुष्करार्द्धस्ततो मतः॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/577)

(iii) पुष्करद्वीपमध्यस्थः प्राकारपडिमण्डलः।
मानुषोत्तरनामा तु सौवर्णः पर्वतोत्तमः॥
(लोकविभाग, श्लोक 3/66)

(2) (i) तग्गिरिणो उच्छेहो सत्तरससयाणि एक्कवीसं च।
तीसब्भहिया जोयणचउस्सया गाढमिगिकोसं॥
(तिलोयपण्णत्ति, 4/2749)

(ii) योजनानां सहस्रं तु सप्तशत्येकविंशतिः।
उच्छायः सच्छियस्तस्य मानुषोत्तरभूभृतः॥
सक्रोशोऽपि च सत्रिंशदवगाहश्चतुः शती।
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/591-592)

(iii) शतं सप्तदशाभ्यस्तमेकविंशमथोच्छितः।
अन्तश्छिन्नतटो बाह्यं पार्श्व तस्य क्रमोन्नतम्॥
(लोकविभाग, श्लोक 3/67)

(3) (i) जोयणसहस्समेक्क बावीसं सगसयाणि तेवीसं।
चउसयचउवीसाइं कमरुंदा मूलमज्झसिहरेसुं॥
(तिलोयपण्णत्ति, 4/2750)

(ii) द्वार्विंशत्या सहस्र तु मूलविस्तार इष्यते।
त्रयोर्विंशतियुक्तानि मध्ये सप्त शतानि तु।
विस्तारोऽस्योपरि प्रोक्तश्चतुर्विंशाश्चदुःशती॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/592-593

(iii) मूले सहस्रं द्वार्विंशं चतुर्विंशं चतुर्विंशं चतुःशतम।
अग्रे मध्ये च विस्तारस्त (दू) द्वयार्धमिति स्मृतः॥
(लोकविभाग, श्लोक 3/68)

(4) तस्सुवरि माणुसनगस्स कूड़ा दिसि विदिसि होंति सोलस उ।
तेसिं नामावलियं अहक्कम्मं कित्तइस्साभि॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 5)

(5) पुव्वेण तिण्णि कूडा, दक्खिणओ तिण्णि, तिण्णि अवरेणं।
उत्तरओ तिण्णि भवे चउद्दिसिं माणुसनगस्स॥
वेरुलिय 1 मसारे 2 खलु तहऽस्सगब्भे 3 य होंति अंजणगे 4।
अंकामए 5 अरिट्ठे 6 रयए 7 तह जायरूवे 8 य॥
नवमे य सिलप्पवहे 9 तत्तो फलिहे 10 य लोहियक्खे 11 य।
वइरामए य कूडे 12, परिमाणं तेसि वुच्छामि॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 6-8)

(6) एएसिं कूडाणं उस्सेहो पंच जोयणसाइं 500।
पंचेव जोयणसए 500 मूलम्मि उ होंति वित्थिन्ना॥
तिन्नेव जोयणसए पन्नत्तरि 375 जोयणाइं मज्झम्मि।
अड्ढाइज्जे य सए 250 सिहरतले वित्थडा कूडा॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 9-10)

(7) दक्खिणपुव्वेण रयणकूडा (? डं) गरुलस्स वेणुदेवस्स।
सव्वरयणं तु पुव्वुत्तरेण तं वेणुदालिस्स॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 16)

(4) (i) उवरिम्मि माणुसुत्तरगिंरिणो बावीस दिव्वकूडाणिं।
पुव्वादि चउदिसासुं पत्तेक्कं तिण्णि तिण्णि चेट्ठंति॥
(तिलोयपण्णत्ति, 4/2765)

(ii) तत्प्रदक्षिणवृत्तानि प्राच्यादिषु दिशासु च।
इष्टदेशनिविष्टानि कूटान्यष्टादशाचले॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/599)

(iii) त्रीणि त्रोणि तु कूटानि प्रत्येकं दिक्चतुष्टये।
पूर्वयोर्विदिशोश्चैव तान्याष्टादश पर्वते॥
(लोकविभाग, श्लोक 3/73)

(5) वेरुलिअसुमगब्भा सउगंधी तिण्णि पुव्वदिब्भाए।
रुजगो लोहियअंजणणामा दक्खिविभागम्मि॥
अंजणमूलं कणयं रजदं णामेहि पच्छिमदिसाए।
फडिहंकपवालाइं कूडाइं उत्तरदिसाए॥
तवणिज्जरयणणामा कूडाइं दोण्णि वि हुदासणदिसाए।
ईसाणदिसाभाए पहंजणो वज्जणामो त्ति॥
एक्को चिच्चय वेलंबो कूडो चेट्ठे दि मारुददिसाए।
णइरिदिदिसाविभागे णामेणं सव्वरयणो त्ति।
पुव्वादिचउदिसासुं वण्णिदकूडाण अग्गभूमीसुं।
एक्केक्कसिद्धकूडा होंति वि मणुसुत्तरे सेले॥
(तिलोयपण्णत्ति, 4/2766-2700)

(6) (i) गिरिउदयचउब्भागो उदयो कूडाण होदि पत्तेक्कं
तेत्तियमेत्तो रूंदो मूले सिहरे तदद्धं च॥
मूलसिहराण रुंदं मेलिय दलिदम्मि होदि जं लद्धं
पत्तेक्कं कूडाणं मज्झिमविक्खंभपरिमाणं॥
(तिलोयपण्णत्ति, 4/2772)

(ii) तानि पञ्चशतोत्सेधमूलविस्तारवन्ति तु।
शते चार्द्धतनीये द्वे विस्तृतान्यपि चोपरि॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/600)

(7) निषधस्पृष्टभागस्थे रत्नाख्ये पूर्वदक्षिणे।
वेणुदेव इति ख्यातः पन्नगेन्द्रो वसत्यसौ।
नीलाद्रिस्पृष्टभागस्थे पूर्वोत्तरदिगावृते।!
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/607-608)

(8) रयणस्स अवरपासे तिण्णि वि समइच्छिऊण कूडाइं।
कूडं वेलंबस्स उ विलंब सुहियं सया होइ॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 17)

(9) सव्वरयणस्स अवरेण तिण्णि समइच्छिऊण कूडाइं।
कूडं पभंजणस्सा पभंजणं आछियं होइ॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 18)

(10) तेवट्ठं कोडिसयं चउरासीइं च सयसहस्साइं 1638400000।
नंदीसरवरदीवे विक्खंभो चक्कवालेणं॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 25)

(11) एगासि एगनउया पंचाणउइं भवे सहस्साइं।
तिण्णेव जोयणसए 819195300 ओगाहित्ताण अंजणगा॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 26)

(12) चुलसीइ सहस्साइं 84000 उव्विद्धा, ते गया सहस्समहे 1000।
धरणियले वित्थिण्णा अणूणगे ते दस सहस्से 10000॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 27)

(13) अंजणगपव्वयाण उ सयस्सहस्सं 100000 भवे अबाहाए।
पुव्वाइआणुपुव्वो पोक्खरणीओ उ चत्तारि॥
पुव्वेण होइ नंदा 1 नंदवई दक्खिणे दिसाभाए 2।
अवरेण य णंदुत्तर 3 नंदिसेणा उ उत्तरओ 4॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 41-42)

(8) निषधस्पृष्टभागस्थ दक्षिणापरदिग्गतम्।
वेलम्बं चातिवेलम्बो वरुणोऽधिवसत्यसौ॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/609)

(9) नीलाद्रिस्पृष्टभागस्थमपरोत्तरदिग्गतम्।
प्रभञ्जनं तु तन्नामा वोतन्द्रोऽधिवसत्यसौ॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/610)

(10) (i) कोटीशतं त्रिषष्ट्यग्रमशीतिश्च तुरूत्तराः।
लक्षा नन्दीश्वरद्वीपो विस्तीर्णो वर्णितो जिनैः॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/647)

(ii) चतुरशीतिश्च लक्षाणि त्रिषष्टिशतकोटयः।
नन्दीश्वरवरद्वीपविस्तारस्य प्रमाणकम्॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/32)

(11) (i) मध्ये तस्य चतुर्दिक्ष चत्वारोऽञ्जनपर्वताः।
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/652)

(ii) तस्य मध्येञ्जनाः शैलाश्चत्वारो दिक्चतुष्टये।
(लोकविभाग, श्लोक 37)

(12) (i) तुङ्गाश्चतुरशीतिं ते व्यस्ताश्चाधः सहस्तगाः।
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/652)

(ii) सहस्राणामशीतिश्च चत्वारि च नगोच्छितिः।
उच्छ्येण समो व्यासो मूले मध्ये च मूर्धनि।
सहस्रमवगाढश्च वज्रमूला प्रकीर्तिताः
(लोकविभाग, श्लोक 4/37-38)

(13) (i) गत्वा योजनलक्षाः स्युर्महादिक्षु महीभृताम्।
चतस्रस्तु चतुष्कोणा वाप्यः प्रत्येकमक्षयाः॥
नन्दा नन्दवती चान्या वापी नन्दोत्तरा परा।
नन्दीघोषा च पूर्वोर्देर्दिक्षु प्राच्यादिषु स्थिताः॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/655, 658)

(ii) पूर्वाञ्जनगिरेर्दिक्षु नन्दा नन्दवतोति च।
नन्दोत्तरा नन्दिषेणा इति प्राच्यादिवापिकाः॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/39)

(14) एगं च सयसहस्सं 100000 वित्थिण्णाओ सहस्समोविद्धा 1000।
निम्मच्छ-कच्छभाओ जलभरियाओ अ सव्वाओ॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 43)

(15) पुक्खरणीण चउदिसिं पंचसए 500 जोयणाणऽबाहाए।
पुव्वाइआणुपुव्वी चउद्दिसिं होंति वणसंडा॥
पागारपरिक्खित्ता सोहंते ते वणा अहियरम्मा।
पंचसए 500 वित्थिन्ना, सयस्सहस्सं 100000 च आयामा॥
पुव्वेण असोगवणं, दक्खिणओ होइ सत्तिवन्नवणं।
अवरेण चंपयवणं, चूयवणं उत्तरे पासे॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 44-46)

(16) रयणमुहा उ दहिमुहा पुक्खरणीणं हवंति मज्झम्मि।
दस चेव सहस्सा 10000 वित्थरेण, चउसट्ठि 64 मुव्विद्धा
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 48)

(17) जो दक्खिणअंजणगो तस्सेव चउद्दिसिं च बोद्धव्वा।
पुक्खरिणी चत्तारि वि इमेहिं नामेहि विन्नेया॥
पुव्वेण होइ भद्दा 1, होइ सुभद्दा उ दक्खिणे पासे 2।
अवरेण होइ कुमुया 3, उत्तरओ पुंडरिगिणी उ 4॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 52-53)

(18) अवरेण अंजणो उ होइ तस्सेव चउदिसिं होंति।
पुक्खरिणीओ, नामेहिं इमेहिं चत्तारि विन्नेया॥
पुव्वेण होइ विजया 1, दक्खिणओ होइ वेजयंती उ 2।
अवरेणं तु जयंती 3, अवराइय उत्तरे पासे 4॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 54-55)

(14) (i) सहस्रपत्तसच्छन्नाः स्फटिकस्वच्छवारयः।
विचित्रमणिसोपान विनक्राधाः सवेदिकाः॥
अवगाहः पुनस्तासां योजनानां सहस्रकम्।
आयामोऽपि ज विष्कम्भो जम्बूद्वीपप्रमाणकः॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/656-657)

(ii) एकैकनियुतव्यासा मुखमध्यान्तमानतः।
नानारत्नजटा वाप्यो वज्रभूमिप्रतिष्ठिताः॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/40)

(15) (i) परितस्ताश्चतस्तोऽपि वापीर्वनचतुष्टयम्।
प्रत्येकं तत्समायामं तदर्द्धव्याससङ्गतम॥
प्रागशोकवनं तत्र सप्तपर्णवनं त्वपाक्।
स्माच्चम्पकवनं पत्यक् चूतवृक्षवनं ह्रदृदक्॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/671-672)

(ii) अशोकं सप्तवर्णं च चम्पकं चूतमेव च।
चतुर्दिशं तु वापीनां प्रतितीरं वनान्यपि।
व्यस्तानि नियुतार्धं च नियुतं चायतानि तु।
सर्वाण्येव वनान्याहुर्वेदिकान्तानि सर्वेतः॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/45-46)

(16) षोडशानां च वापीनां मध्ये दधिमुखादयः।
सहस्राणि दशोद्विद्धास्तावत्सर्वत्र विस्तृताः॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/47)

(17) (i) विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता।
दक्षिणाञ्जनशैलस्य दिक्षु पूर्वादिषु क्रमात्॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/660)

(ii) अरजा विरजा चान्या अशोका वीतशोकका।
दक्षिणस्याञ्जनस्याद्रेः पूर्वाद्याशातुष्टये॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/41)

(18) (i) पाश्चात्याञ्जनशैलस्य पूर्वादिदिगवस्थिता :।
अशोका सुप्रबुद्धा च कुमुदा पुण्डरीकिणी॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/662)

(ii) विजया वैजयन्ती च जयन्त्यन्यापराजिता।
अपरस्याञ्जनस्याद्रेः पूर्वाद्याशाचतुष्टये॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/42)

(19) जो उत्तरअंजणगो तस्सेव चउद्दिसिं च बोद्धव्वा।
पुक्खरिणीओ चत्तारि, इमेहिं नामेहिं विन्नेया॥
पुव्वेण नंदिसेणा 1, आमोहा पुण दक्खिणे दिसाभाए 2।
अवरेणं गोत्थूभा 3 सुदंसणा होइ उत्तरओ 4॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 56-57)

(20) एकासि एगन उया पंचाणउइं भवे सहस्साइं 819195000।
नंदीसरवरदीवे ओगाहित्ताण रइकरगा॥
उच्चत्तेण सहस्सं 1000, अड्ढाइज्जे सए य उव्विद्धा 250।
दस चेव सहस्साइं 10000 वित्थिण्णा होंति रइकरगा

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 58-59)

(21) कोंडलवरस्स मज्झे णगुत्तमो होइ कुंडलो सेलो।
पगारसरिसरूवो विभयंतो कोंडं दीवं॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 72)

(22) बायालीस सहस्से 42000 उव्विद्धो कुंडलो हवइ सेलो।
एगं चेव सहस्सं 1000 धरणियलमहे समोगोढो॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 73)

(23) दस चेव जोयणसए बावीसं 1022 वित्थडो य मूलम्मि।
सत्तेव जोयणसए तेवीसे 723 वित्थडो मज्झे॥
चत्तारि जोयणसए चउवीसे 424 वित्थडो उ सिहरतले।
एयस्सुवरिं कूडे अहक्कमं कित्तइस्सामि॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 74-75)

(19) (i) उदीच्याञ्जनशैलस्य प्राच्याद्या सुप्रभङ्करा।
सुमनाश्च दिशासु स्यादानन्दा च सुदर्शना॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/664)

(ii) रम्या च रमणीया च सुप्रभा चापरा भवेत्।
उत्तरा सर्वतोभद्रा इत्युत्तरगिरिश्रिताः॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/43)

(20) (i) वापीकोणसमीपस्था नगा रतिकराभिधाः।
स्युः प्रत्येकं तु चत्वारः सौवर्णाः पटहोपमाः॥
गाढाश्चार्द्धतृतीयं ते योजनानां शतद्वयम्।
सहस्रोत्सेधविस्तारव्यायामा व्यवर्जिताः॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/673-674)

(ii) वापीनां बाह्यकोणेषु दृष्टा रतिकराद्रयः
समा दधिमुखैर्हैमाः सर्वे द्वात्रिंशदेव ते॥
जोयणसहस्सवासा तेत्तियमेत्तोदया य पत्तेक्कं।
अड्ढाइज्जसयाइं अवगाढा रतिकरा गिरिणो॥
ते चउ-चउकोणेसु एक्केक्कदहस्स होंति चत्तारि।
लोयविणिच्छ (य) कत्ता एवं णियमा परुवेंति॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/49)

(21) (i) यत्कुण्डलवरो द्वीपस्तन्मध्ये कुण्डली गिरिः।
वलयाकृतिराभाति सम्पूर्णयवराशिवत्॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/686)

(ii) द्वीपस्य कुण्डलाख्यस्य कुण्डलाद्रिस्तु मध्यमः।
(लोकविभाग, श्लोक 4/60)

(22) (i) सहस्रंमवगाहोऽस्य द्विचत्वारिंशदुच्छितिः।
योजनानां सहस्राणि मणिप्रकरभासिनः॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/687)

(ii) पञ्चसप्ततिमुद्धिद्धः सहस्राणां महागिरिः।
(लोकविभाग, श्लोक 4/60)

(23) (i) सहस्र विस्तृतिस्त्रेधा दशसप्तचतुर्गुणम्।
द्वाविंशं च त्रयोविंशं चतुर्विंशं प्रभृत्यधः॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/688)

(ii) मानुषोत्तरविष्कम्भाद् व्यासो दसगुणस्य च।
(लोकविभाग, श्लोक 4/61)

(24) पुव्वेण होंति कूडा चत्तारि उ, दक्खिणे वि चत्तारि।
अवरेण वि चत्तारि उ, उत्तरआ होंति चत्तारि॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 76)

(25) वइरपभ 1 वइसारे 2 कणगे 3 कणगुत्तमे 4 इ य।
रत्तप्पभे 5 रत्तभाऊ 6 सुप्पभे 7 य महप्पमे 8॥
मणिप्पभे 9 य मणिहिये 10 रुयगे 11 एगवंडिसए 12।
फलिहे 13 य महाफलिहे 14 हिमवं 15 मंदिरे 16 इ य॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 77-78)

(26) एएसिं कूडाणं उस्सेही पंच जोयणसयाइं 500।
पंचेव जोयणसए 500 मूलम्मि उ वित्थडा कूडा॥
तिन्नेव जोयणसए पन्नत्तरि 375 जोयणाइं मज्झम्मि।
अड्ढाइज्जे य सए 250 सिहरतले वित्थडा कूडा॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 79-80)

(27) रुयगवरस्स य मज्झे णगुत्तमो होइ पव्वओ रुयगो।
पगारसरिसरूवो रूयगं दीवं विंभयमाणो॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 112)

(24) (i) प्रत्येकं तस्य चत्वारि पूर्वाद्याशासु मूर्धनि।
भान्ति षोडश कूटानि सेवितानि सुरैः सदा॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/689)

(ii) तस्य षोडशकूटानि चत्वारि प्रतिदिशं क्रमात्
(लोकविभाग, श्लोक 4/61)

(25) (i) पूर्वस्यां त्रिशिरा वज्रे दिशि पञ्चशिराः सुरः।
कूटे वज्रपमे ज्ञेयः कनके च महाशिराः॥
महाभुजोऽपि तस्यां स्यात् कूटे तु कनकप्रभे।
पद्मपद्मोत्तरोऽपाच्यां रजते रजतप्रभे॥
सुप्रभे तु महापद्मो वासुकिश्च महाप्रभे।
अपाच्यामेव वाच्यौ तौ प्रतीच्यां तु सुरा इमे॥
हृदयान्तस्थिरोऽप्यङ्क महानङ्कप्रभेऽप्यसौ।
श्री वृक्षो मणिकूटे तु स्वस्तिकश्च मणिप्रभे॥
सुन्दरश्च विशालक्षः स्फटिके स्फटिकप्रभे।
महेन्द्रे पाण्डुकस्तुर्यः पाण्डुरो हिमवत्युदक्॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/690-94)

(ii) वज्रं वज्रप्रभं चेव कनकं कनकप्रभम।
रजतं रजताभं च सुप्रभं च महाप्रभम्॥
अङ्कमङ्कप्रभं चेति मणिकूटं मणिप्रभं।
रुचकं रुचकाभं च हिमवन्मन्दराख्यकम्॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/62-63)

(26) नान्दनैः सममानेषु वेश्मान्यपि समानि तैः।
जम्बूनाम्नि च तेऽन्यस्मिन् विजयस्येव वर्णना॥
(लोकविभाग श्लोक, गाथा 4/64)

(27) (i) त्रयोदशस्तु यो द्वीपो रुचकादिवरोत्तरः।
तन्नामा तस्य मध्यस्थः पर्वतो वलयाकृतिः॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/699)

(ii) द्वीपस्त्रयोदशो नाम्ना रुचकस्तस्य मध्यमः।
अदिश्च वलयाकारो रुचकस्तापनीयकः
(लोकविभाग, श्लोक 4/68)

(28) रुयगस्स उ उस्सेहो चउरासीई भवे महस्साइं 84000।
एगं चेव सहस्सं 1000 धरणियलमहे समागाढो॥
दस चेव सहस्सा खलु बावीसं 10022 जोयणाइं बोद्धव्वा।
मूलम्मि उ विक्खंभो साहीओ रुयगसेलस्स॥
सत्तेव सहस्सा खलु बावीसं जोयणाइं बोद्धव्वा।
मज्झम्मि य विक्खंभो रुयगस्स उ पव्वयस्स भवे॥
चत्तारि सहस्साइं चउवीसं 4024 जोयणा य बोद्धव्वा।
सिहरतले विक्खंभो रुयगस्स उ पव्वयस्स भवे॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 113-116)

(29) सिहरतलम्मि उ रुयगस्स होंति कूडा चउद्दिसिं तत्थ।
पुव्वाइआणुपुव्वी तेसिं नामाइं कित्ते हं॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 117)

(30) कणगे 1 कंचणगे 2 तवण 3 दिसोसोवत्थिए 4 अरिट्ठे 5 य।
चंदण 6 अंजणमूले 7 वइरे 8 पुण भणिए॥
नाणारयणविचित्ता उज्जोवंता हुयासणसिहा व।
एए अट्ठ वि कूडा हवंति पुव्वेण रुयग॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 119-120)

(31) फलिहे 1 रयणे 2 भवणे 3 पउमे 4 नलिणे 5 ससो 6 य नायव्वे
वेसमणे 7 वेरुलिए 8 रुयगस्स हवंति दक्खिणओ॥
नाणारयणविचित्ता अणोवमा धंतरुवसंकासा।
एए अट्ठ वि कूडा रुयगस्स हवंति दक्खिणओ॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 121-122)

(32) अमोहे 1 सुप्पबुद्धे य 2 हिमवं 3 मंदिरे 4 इ य।
रुयगे 5 रुयगुत्तरे 6 चंदे 7 अट्ठमे य सुदंसणे 8॥
नाणारयणविचित्ता अणोवमा धतरूवसंकासा।
एए अट्ठ वि कूडा रुयगस्स वि होंति पच्छिमओ॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 123-124)

(33) विजए 1 य वेजयंते, 2 जयंत 3 अपराइ 4 य बोद्धवे।
कुंडल 5 रुयगे 6 रयणुच्चए 6 य तह सव्वरयण 8 य॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 125)

(28) (i) सहस्रमवगाहः स्वादशीतिश्चतुरुतरा।
सहस्राण्युच्छ्रितिर्व्यासो द्विचत्वारिंशदस्य तु॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/700)

(ii) महाञ्जयोजनव्यासं विष्कम्भेणोच्छयेण।
(लोकविभाग, श्लोक 4/69)

(29) (i) सहस्रयोजनव्यासं दिक्षु पञ्चशतोत्छि।
शिखरे तस्य शैलस्य भांति कूटचतुष्टयम्॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/701)

(ii) तस्य मूर्धनि पूर्वस्यां कूटाश्चाष्टाविति स्मृताः
(लोकविभाग, श्लोक 4/69)

(30) कनकं काञ्चनं तपनं स्वतिकं दिशः।
सुभद्रमञ्जनं मूलं चाञ्जनाद्यं च वज्रकम्॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/70)

(31) स्फटिकं रजतं चैव कुमुदं नलिनं पुनः।
पद्मं च शशिसंज्ञं च ततौ वेश्रवणाख्यकम्॥
वैडूर्यमष्टकं कूटं पूर्वकूटसमानि च।
दक्षिणस्यामथैतानि दिक्कुमार्यो ऽत्र च स्थिताः॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/73-74)

(32) (i) अमोधं स्वस्तिकं कूटं मन्दरं च तृतीयकम्॥
ततो हैमवतं कूटं राज्यं राज्योत्तमं ततः॥
चन्द्रं सुदर्शन चेति अपरस्यां तु लक्षयेत्।
रुचकस्य गिरीन्द्रस्य मध्ये कूटानि तेष्विमाः॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/76-77)

(33) विजयं वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम्।
कण्डलं रुचकं चैव रत्नवत्सर्वरत्नकम्॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/79)

(34) नंदुत्तरा 1 य नंदा 2 आणंदा 3 तह य नंदिसेणा 4 य।
विजया 5 य वेजयंती 6 जयंति 7 अबराइया 8 चेव॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 128)

(35) लच्छिमई 1 सेसमई 2 चित्तगुत्ता 3 वसुंधरा 4।
समाहारा 5 सुप्पदिन्ना 6 सुप्पबुद्धा 7 जसोधरा 8॥
एयाओ दक्खिणेणं हवंति अट्ठ वि दिसाकुमारीओ।
जे दक्खिणेण कूडा अट्ठ वि रुयगे तहिं एया॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 130-131)

(36) इलादेवी 1 सुरादेवी 2 पुहई 3 पउमावई 4 य विन्नेया।
एगनासा 5 णवमिया 6 सीया 7 भद्दा 8 य अट्ठमिया॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 132)

(37) अलंबुसा 1 मीसकैसी 2 पुंडरगिणी 3 वारुणी 4।
आसा 5 सग्गप्पभा 6 चेव सिरि 7 हिरी, 8 चेव उत्तरओ॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 134)

(38) पुव्वेण होइ बिमलं 1 संयपहं दक्खिणे दिसाभाए 2।
अवरे पुण पुच्छिमओ (?) 3 णिच्चुज्जोयं च उत्त 4॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 145)

(39) चित्ता 1 य चित्तकणगा 2 सतेरा 3 सोयामणी 4 य णायव्वा।
एया विज्जुकुमारो साहियपलिओवमट्ठितिया॥

(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 147)

(34) विजयाद्याश्चतस्त्रश्च नन्दा नन्दवतीति च।
नन्दोत्तरा नन्दिषेणा तेष्वष्टौ दिक्सुरस्त्रियः
(लोकविभाग, श्लोक 4/72)

(35) इच्छा नाम्ना समाहारा सुप्रतिज्ञा यशोधरा।
लक्ष्मी शेषवती चान्या चित्रगुप्ता वसुंधरा॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/75)

(36) इलादेवी सुरादेवी पृथिवी पद्मवत्यपि।
एकनासा नवमिका सीता भद्रेति चाष्टमी॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/78)

(37) अलंबूषा मिश्रदेशी तृतीया पुण्डरीकिणी।
वारुण्याशा च सत्या च ह्री श्रीश्चेतेषु देवताः
(लोकविभाग, श्लोक 4/80)

(38) पूर्वे तु विमलं कूटं नित्यालोकं स्वयंप्रभम्।
नित्योद्योतं तदन्तः स्युस्तुल्यानि गृहमानकैः॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/83)

(39) (i) दिक्षु चत्वारि कूटानि पुनरन्यानि दीप्तिभिः।
दीप्ताशान्तराणि स्युः पूर्वादिषु यथाक्रमम्॥
पूर्वस्यां विमले चित्रा दक्षिणस्यां तथा दिशि।
देवी कनकचित्राख्या नित्यालोकेऽवतिष्ठते॥
त्रिशिरा इति देवी स्यादपरस्यां स्वयम्प्रभे।
सूत्रामणिरुदीच्यां च नित्योद्योते वसत्यसौ॥
विद्युत्कुमायं एतास्तु जिनमातृसमीपगाः।
तिष्ठन्त्युद्योतकारिण्यो भानुदीधितयो तथा॥
(हरिवंशपुराण, श्लोक 5/718-721)

(ii) कनका विमले कूटे दक्षिणे च शतह्रदा।
ततः कनकचित्रा च सौदामिन्युत्तरे स्थिताः॥
(लोकविभाग, श्लोक 4/84)

(40) पियदंसणे 1 पभासे 2 काले देवे 1 तहा महाकाले 2।
पउमे 1 य महापउमे 2, सिरीधरे 1 महिधरे 2 चेव॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 157)

(41) पभे 1 य सुप्पभे 2 चेव, अग्गिदेवे 1 तहेव अग्गिजसे 2।
कणगे 1 कणगप्पभे 2 चेव, तत्तोकंते 1 य अइकंते 2॥
दामड्ढी 1 हरिवारण 2 ततो सुमणे 1 य सोमणंसे 2 य।
अविसोग 1 वियसोग 2 सुभद्दभद्दे 1 सुमणभद्दे 2॥
(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, गाथा 158-159)

(40) द्वीपस्स प्रथमस्यास्य व्यन्तरोऽनादरः प्रभु।
सुस्थिरो लवणस्यापि प्रभासप्रियदर्शनी॥
कालश्चैव महाकालः कालोदे दक्षिणोत्तरौ॥
पद्मश्च पुण्डरीकश्च पुष्कराधिपती सुरौ॥

(लोकविभाग, श्लोक 4/24-25)

(41) चक्षुष्मांश्च सुचक्षुश्च मानुषोत्तर पर्वते।
द्वौ द्वावेवं सुरौ वेद्यौ द्वीपे तत्सागरेऽपि च॥
श्रीप्रभ श्रीधरौ देवौ वरुणौ वरुणप्रभः।
मध्यश्च मध्यमश्चोभौ वारुणीवरसागरे॥
पाण्ड(ण्डु)रः पुष्पदन्तश्च विमलो विमलप्रभः।
सुप्रभस्य(श्च) घृताख्यस्य उत्तरश्च महाप्रभः॥
कनकः कनकाभश्च पूर्णः पूर्णप्रभस्तथा।
गन्धश्चान्यो महागन्धो नन्दी नन्दिप्रभस्तथा॥
भद्रश्चैव सुभद्रश्च अरुणश्चारुणप्रभः।
सुगन्धः सर्वगन्धश्च अरुणोदे तु सागरे॥
एवं द्वीपसमुद्राणां द्वौ द्वावधिपती स्मृतौ।
दक्षिणः प्रथमोक्तोऽत्र द्वितीयश्चोत्तरापतिः॥

(लोकविभाग, श्लोक 4/26-31)

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति की विषयवस्तु का आगम एवं आगम तुल्य मान्य अन्य ग्रन्थों के साथ किए गए इस तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट होता है कि मानुषोत्तर पर्वत का उल्लेख स्थानांगसूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति, तिलोयपण्णत्ति, हरिवंशपुराण एवं लोकविभाग आदि ग्रंथों में हुआ है। मानुषोत्तर पर्वत की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई तथा उसकी जमीन में गहराई आदि के विवेचन को लेकर इन ग्रन्थों में कोई भिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती है, किन्तु मानुषोत्तर पर्वत के ऊपर स्थित शिखरों की संख्या इन ग्रंथों में भिन्न-भिन्न बताई गई है।

प्रस्तुत ग्रंथ में मानुषोत्तर पर्वत के ऊपर सोलह शिखर होना माना गया है (5)। किन्तु तिलोयपण्णत्ति, लोकविभाग तथा हरिवंश पुराण में ऐसे शिखरों की संख्या भिन्न-भिन्न बतलाई गई है। तिलोयपण्णत्ति में इन शिखरों की संख्या बाईस तथा लोकविभाग व हरिवंशपुराण में इनकी संख्या अठारह मानी गई है। पूर्वादि चारों दिशाओं में अनुक्रम में चार-चार शिखर होना सभी ग्रंथों में समान रुप से स्वीकार किया गया है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में यद्यपि सोलह शिखरों का उल्लेख हुआ है, किन्तु नाम केवल बारह शिखरों के ही बतलाए गए हैं (6-7)। शेष चार शिखरों के नामों का उक्त ग्रंथ में कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया है। तिलोयपण्णत्ति में जो बाईस शिखरों का उल्लेख हुआ है उस अनुसार चारों दिशाओं में तीन-तीन, दो अग्निदिशा में, दो ईशान दिशा में, एक वायव्य दिशा में तथा एक शिखर नेतृत्व दिशा में है। शेष चार शिखरों के विषय में कहा है कि ये शिखर चारों दिशाओं में बतलाए गए शिखरों की अग्रभूमियों में एक-एक हैं। लोकविभाग तथा हरिवंशपुराण में इन शिखरों की संख्या यद्यपि अठारह मानी गई हैं किन्तु ये शिखर कहाँ स्थित है, इस विषयक दोनों ग्रंथों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। लोकविभाग के अनुसार चारों दिशाओं तथा ईशान और आग्नेय विदिशाओं में तीन-तीन शिखर स्थित हैं। हरिवंश पुराण के अनुसार चारों दिशाओं में तीन-तीन, ईशान और आग्नेय विदिशाओं में दो-दो तथा नैतृत्व और वायव्य विदिशाओं में एक-एक शिखर स्थित है।

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में चारों दिशाओं में तीन-तीन शिखर तथा शेष चार शिखर विदिशाओं में स्थित माने हैं, किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि कौनसी विदिशा में कितने शिखर हैं। संभव है द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के अनुसार प्रत्येक विदिशा में एक-एक शिखर होना चाहिए। हमें यह संभावना सत्य के इसलिए करीब लगती है क्योंकि स्थानांगसूत्र में भी चारों विदिशाओं में चार शिखरों का उल्लेख हुआ है।

नन्दीश्वर द्वीप का विस्तार द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, स्थानांगसूत्र, हरिवंश पुराण एवं लोकविभाग आदि ग्रंथों में 1638400000 योजन बतलाया गया है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति तथा स्थानांगसूत्र के अनुसार नन्दीश्वर द्वीप में 819195300 योजन जाने पर अंजन पर्वत आते हैं। हरिवंशपुराण तथा लोकविभाग के अनुसार अंजन पर्वत नन्दीश्वर द्वीप के मध्य में हैं।

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र एवं लोकविभाग आदि ग्रंथों में अंजन पर्वतों की ऊँचाई 84000 योजन मानी गई है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति तथा स्थानांगसूत्र के अनुसार इन पर्वतों की जमीन में गहराई 1000 योजन है तथा इनका विस्तार अधोभाग में 10,000 योजन एवं शिखर-तल पर 1000 योजन है। लोकविभाग में इन पर्वतों का विस्तार मूल, मध्य व शिखर - तल पर भी ऊँचाई के बराबर अर्थात् 84000 योजन ही माना गया है। पुनः इन पर्वतों की जमीन में गहराई लोकविभाग में 1000 योजन ही मानी गई है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति और स्थानांगसूत्र में प्रत्येक अंजन पर्वत के शिखर तल पर जिनमंदिर कहे गये हैं। दोनों ग्रंथों में जिनमंदिरों की लंबाई 100 योजन तथा चौड़ाई 50 योजन मानी गई है, किन्तु ऊँचाई के परिमाण को लेकर दोनों ग्रंथों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति के अनुसार इन मंदिरों की ऊँचाई 75 योजन है जबकि स्थानांगसूत्र में यह ऊँचाई 72 योजन मानी गई है।

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, स्थानांगसूत्र, जीवाजीवाभिगमसूत्र, हरिवंश पुराण तथा लोकविभाग के अनुसार अंजन पर्वत के 100000 योजन अपान्तराल के पश्चात् पूर्वादि अनुक्रम से चारों दिशाओं में 100000 योजन वाली चार-चार पुष्करिणियाँ हैं। यद्यपि इन सभी ग्रंथों में यह माना गया है कि इन पुष्करिणियों की चारों दिशाओं में क्रमशः चार-चार वनखण्ड हैं किन्तु वनखण्डों का परिमाण सभी ग्रंथों में भिन्न-भिन्न बतलाया गया है। द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में इन वनखण्डों की लंबाई100000 योजन तथा चौड़ाई मात्र 500 योजन मानी गई है। जीवाजीवाभिगमसूत्र में लंबाई सविशेष 12000 योजन तथा चौड़ाई 500 योजन मानी गई है। हरिवंश पुराण तथा लोकविभाग में इन वनखंडों की लंबाई 100000 योजन तथा चौड़ाई 50000 योजन बतलाई गई है।

पुष्करिणियों के मध्य में दधिमुख पर्वत हैं, यह उल्लेख द्वीपसागर प्रज्ञप्ति,

स्थानांगसूत्र, हरिवंश पुराण एवं लोकविभाग आदि ग्रंथों में मिलता है। इन सभी ग्रंथों में वनखण्डों की संख्या एवं विस्तार परिमाण भिन्न-भिन्न बतलाया गया है। दधिमुख पर्वतों की संख्या के संदर्भ में द्वीपसागर प्रज्ञप्ति तथा स्थानांगसूत्र में कोई उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में यह उल्लिखित है कि दधिमुख पर्वतों का विस्तार 10000 योजन तथा ऊँचाई 64 (हजार) योजन है। हरिवंशपुराण तथा लोकविभाग के अनुसार दधिमुख पर्वत सोलह हैं तथा इनकी लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई दस-दस हजार योजन है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में दधिमुख पर्वतों के ऊपर जिनमंदिर कहे गये हैं जबकि लोकविभाग के अनुसार पुष्करिणियों के बाह्य कोने में दधिमुख पर्वतों के समान 32 रतिकर पर्वत हैं, उन पर्वतों के ऊपर 52 जिन मंदिर हैं।

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, स्थानांग सूत्र, हरिवंशपुराण तथा लोकविभाग आदि ग्रंथों में यद्यपि यह उल्लिखित है कि चारों दिशाओं वाले अंजन पर्वतों की चारों दिशाओं में चार-चार पुष्करिणियाँ हैं तथापि इनमें से एक भी ग्रंथ में पूर्व दिशा वाले अंजन पर्वत की चारों दिशाओं में स्थित पुष्करिणियों का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। पुनः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा वाले अंजन पर्वतों की चारों दिशाओं में बताई गई पुष्करिणियों के नाम यद्यपि लगभग समान हैं, किन्तु किस दिशा में कौनसी पुष्करिणियाँ स्थित हैं, इस विषयक इन सभी ग्रंथों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। द्वीपसागरप्रज्ञप्ति तथा स्थानांगसूत्र में भद्रा आदि जिन चार पुष्करिणियों को दक्षिण दिशा वाले अंजन पर्वत की चारों दिशाओं में बताई गई पुष्करिणियों के नाम यद्यपि लगभग समान हैं, किन्तु किस दिशा में कौनसी पुष्करिणियाँ स्थित हैं, इस विषयक इन सभी ग्रंथों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। द्वीपसागरप्रज्ञप्ति तथा स्थानांगसूत्र में भद्रा आदि जिन चार पुष्करिणियों को दक्षिण दिशा वाले अंजन पर्वत की चारों दिशाओं में स्थित माना है उन्हें हरिवंशपुराण में पूर्व दिशा वाले अंजन पर्वत की चारों दिशाओं में स्थित बतलाया है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में जो चार पुष्करिणियाँ पश्चिम दिशा वाले अंजन पर्वत की चारों दिशाओं में मानी गई हैं, उन्हें स्थानांग सूत्र में उत्तर दिशा में, हरिवंश पुराण में दक्षिण दिशा में तथा लोकविभाग में पश्चिम दिशा में स्थित अंजन पर्वत की चारों दिशाओं में स्थित माना गया है। इस प्रकार इन पुष्करिणियों की अवस्थिति को लेकर इन सभी ग्रंथों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

नन्दीश्वर द्वीप के मध्य में चारों विदिशाओं में चार रतिकर पर्वत हैं, यह उल्लेख द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, स्थानांगसूत्र, हरिवंश पुराण तथा लोकविभाग आदि ग्रंथों में मिलता है। इन सभी ग्रंथों में इन पर्वतों की ऊँचाई 1000 योजन तथा विस्तार 10000 योजन बतलाया गया है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, हरिवंशपुराण तथा लोकविभाग आदि ग्रंथों के अनुसार कुण्डल द्वीप के मध्य में कुण्डल पर्वत है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति तथा हरिवंशपुराण में इन पर्वतों की ऊँचाई 42000 योजन तथा जमीन में गहराई 1000 योजन मानी गई है। किन्तु लोकविभाग के अनुसार इन पर्वतों की ऊँचाई 75000 योजन है। तीनों ग्रंथों में यह भी उल्लिखित है कि कुण्डल पर्वत के ऊपर चारों दिशाओं में चार-चार शिखर हैं। इन शिखरों के नाम भी इन ग्रंथों में लगभग समान बतलाए गए हैं।

रुचक पर्वत के शिखर तल पर चारों दिशाओं में आठ-आठ शिखर हैं, यह उल्लेख द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, स्थानांगसूत्र एवं लोकविभाग में मिलता है। इन शिखरों के नाम एवं दिशा क्रम भी इन तीनों ग्रंथों में लगभग समान रूप से निरुपित है। किन्तु हरिवंश पुराण में इन शिखरों का नामोल्लेख नहीं हुआ है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार रुचक समुद्र में असंख्यात् द्वीप-समुद्र हैं। रुचक समुद्र में जाने पर पहले अरुणद्वीप और उसके बाद अरुण समुद्र आता है। अरुण समुद्र में दक्षिण दिशा की ओर 42000 योजन जाने पर 1721 योजन ऊँचा तिगिच्छि पर्वत आता है। दोनों ही ग्रंथों में यह भी कहा गया है कि इस पर्वत संकीर्ण है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में इस पर्वत का विस्तार अधोभाग में 1022 योजन, मध्यभाग में 424 योजन तथा शिखर-तल पर 723 योजन बतलाया गया है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति प्रकीर्णक में अंजन पर्वत, दधिमुख पर्वत, रतिकर पर्वत, कुण्डल पर्वत तथा रुचक पर्वत आदि अनेक पर्वतों का विस्तार अधोभाग में अधिक, उससे कम मध्य भाग में और सबसे कम शिखर तल का बतलाया गया है। किन्तु तिगिच्छि पर्वत का मध्यवर्ती विस्तार कम बतलाया गया है। यद्यपि पर्वत के संदर्भ में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती कि उसका मध्यवर्ती भाग संकीर्ण हो तथापि दोनों ग्रंथों में यह उल्लेख है कि इन पर्वत का मध्यवर्ती भाग वज्रमय है, इस आधार पर इस पर्वत का यही आकार निर्मित होता है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति के अनुसार तिगिच्छि पर्वत की दक्षिण दिशा की ओर

6553550000 योजन चलने पर तथा वहाँ से नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी की ओर 40000 योजन चलने पर 100000 योजन विस्तार वाली चमरचंचा राजधानी आती है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति तथा राजप्रश्नीयसूत्र में चमरचंचा राजधानी के प्रासादों की लंबाई 125 योजन, चौड़ाई 62 1/2 योजन तथा ऊँचाई 31 1/4 योजन मानी गई है।

सुधर्मा समा की तीन दिशाओं में आठ द्वार द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, राजप्रश्नीयसूत्र तथा जीवाजीवाभिगम में समान रूप से माने गये हैं, अंतर मात्र यह है कि द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में उन द्वारों का प्रवेशमार्ग और विस्तार चार योजन माना गया है। राजप्रश्नीयसूत्र में उन द्वारों की ऊँचाई सोलह योजन तथा प्रवेश मार्ग और चौड़ाई आठ योजन कही गई है जबकि जीवाजीवाभिगम में उन द्वारों की ऊँचाई दो योजन तथा चौड़ाई और प्रवेश मार्ग एक योजन का कहा गया हैं। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में जिन अस्थियों, जिनप्रतिमाओं तथा जिनमंदिरों का जो विवरण उल्लिखित है वह राजप्रश्नीयसूत्र तथा जीवाजीवाभिगम में अधिक विस्तारपूर्वक निरुपति है।

प्रस्तुत तुलनात्मक विवरण से स्पष्ट होता है कि पर्वत, शिखर के नामों एवं विस्तार परिमाण आदि में कहीं किंचित् मतभेद को छोड़कर सामान्यतया जैनधर्म की सभी परंपराओं में मध्यलोक और विशेषरूप से मनुष्य क्षेत्र के आगे के द्वीप समुद्रों के विवरण में समानता परिलक्षित होती है। विवरणगत समानता होते हुए भी इन ग्रंथों में भाषागत और शैलीगत भिन्नता है। इस आधार पर मात्र यही कहा जा सकता है कि इन सभी ग्रंथों का आधार मूल में एक ही रहा होगा। यद्यपि इन ग्रंथों की विषयवस्तु एवं रचनाकाल से एक क्रम स्थापित किया जा सकता है तथापि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि किस ग्रंथ की कितनी विषयवस्तु दूसरे अन्य ग्रंथों में गई है।

श्वेताम्बर परंपरा में मध्यलोक संबंधी विवरण सर्वप्रथम अंग आगमों में स्थानांगसूत्र और भगवतीसूत्र में, उपांग साहित्य में राजप्रश्नीयसूत्र, जीवाजीवाभिगमसूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि में मिलते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीप एवं लवण समुद्र का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करती है। धातकीखण्ड आदि का विवरण स्थानांग और सूर्यप्रज्ञप्ति में मिलता है, किन्तु उनकी अपेक्षा जीवाजीवाभिगम में यह विवरण अधिक व्यवस्थित व क्रमबद्ध रूप से निरुपित है। मनुष्य क्षेत्र के बाहर का विवरण मुख्य रूप से स्थानांगसूत्र और जीवाजीवाभिगम में पाया जाता है। जीवाजीवाभिगम की अपेक्षा भी द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में यह विषयवस्तु

अधिक विस्तारपूर्वक उल्लिखित है। विषयवस्तु के विकासक्रम के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि द्वीपसागरप्रज्ञप्ति की रचना अंग और उपांग साहित्य के इन विषयों से संबंधित ग्रंथों के बाद ही हुई है। फिर भी जैसा कि हम पूर्व में भी सूचित कर चुके हैं, यह ग्रंथ आगमों की अंतिम वाचना (वि.नि.सं. 980) के पूर्व अस्तित्व में आ चुका था।

प्राकृत भाषा में पद्यरूप में निर्मित लोकविवेचन से संबंधित ग्रंथों में आज हमारे सामने द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और त्रिलोकप्रज्ञप्ति दोनों ही ग्रंथ उपलब्ध हैं, प्राकृत लोकविभाग आज अनुपलब्ध है। वर्तमान में जहाँ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति श्वेताम्बर परंपरा में मान्य है वहीं त्रिलोकप्रज्ञप्ति दिगम्बर परंपरा में मान्य है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति में प्रक्षिप्तों की अधिकता के कारण उसके रचनाकाल का पूर्ण निश्चय एक विवादास्पद प्रश्न है, किन्तु विषयसामग्री की व्यापकता आदि को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह ग्रंथ द्वीप सागर प्रज्ञप्ति के बाद कभी रचा गया है। वैसे भी यदि हम देखें तो त्रिलोकप्रज्ञप्ति के बाद कभी रचा गया है। वैसे भी यदि देखे तो त्रिलोक प्रज्ञप्ति का चतुर्थ अधिकार (अध्याय) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति नाम से ही है। इस आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति के रचनाकार के समक्ष यह ग्रंथ अवश्य उपस्थित रहा है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति के प्रक्षिप्त अंशों को अलग करने के पश्चात् उसका जो स्वरूप निर्धारित होता है, वह मूलतः यापनीयों का रहा है। क्योंकि यापनीय ग्रंथों की यह विशेषता रही है कि वे अपने समय में उपस्थित आचार्यों की विभिन्न मान्यताओं का निर्देश करते हैं और ऐसा निर्देश त्रिलोकप्रज्ञप्ति में पाया जाता है। यद्यपि यह सब कहना एक स्वतंत्र निबंध का विषय है और यह चर्चा यहाँ अधिक प्रासंगिक भी नहीं है। यहाँ तो हम इतना ही बताना चाहते हैं कि द्वीपसागरप्रज्ञप्ति अपेक्षाकृत संक्षिप्त और उस काल की रचना है जब आगम साहित्य को मुखाग्रही रखा जाता था जबकि त्रिलोकप्रज्ञप्ति एक विकसित और परवर्ती रचना है।

प्रस्तुत कृति में जिनअस्थियों, जिनप्रतिमाओं, जिनमंदिरों और चैत्यों आदि के स्पष्ट उल्लेख देख जाते हैं इससे यह फलित होता है कि यह ग्रंथ जैन परंपरा में तभी निर्मित हुआ जब उसमें जिनप्रतिमाओं और जिन मंदिरों का निर्माण होना प्रारंभ हो चुका होगा। राजप्रश्नीयसूत्र और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के तुलनात्मक विवेचन में हम देखते है कि जहाँ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में जिनअस्थियों, जिनप्रतिमाओं और जिनमंदिरों का विवरण मात्र दिया गया है, वहीं राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव के द्वारा उनके वंदनपूजन

आदि करने का भी उल्लेख हुआ है। इससे ऐसा लगता है कि राजप्रश्नीयसूत्र का वह अंश जिसमें जिनप्रतिमाओं के वंदन पूजन आदि का विवरण है, वह द्वीपसागरप्रज्ञप्ति से किंचित् परवर्ती रहा होगा।

सामान्यतया हिन्दू परंपरा में मध्यलोक के संदर्भ में सप्त द्वीप और सप्त सागरों का विवरण उपलब्ध होता है किन्तु जैन परंपरा में मध्यलोक की इस सीमितता की आलोचना की गई है और यह कहा गया है कि जो लोग मध्यलोक को सप्तद्वीप और सप्त सागरों तक सीमित करते हैं, वे भ्रांत हैं। जैन परंपरा की मान्यता तो यह है कि मेरुपर्वत और जम्बूद्वीप को लेकर वलयाकार में एक-दूसरे को घेरते हुए असंख्यात द्वीप सागर है। जैन परंपरा में जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र के विवरण के पश्चात् धातकीखण्ड, कालोदधिसमुद्र, पुष्करवरद्वीप, पुष्करवरसमुद्र उसके पश्चात् नलिनोदक सागर, सुरारस सागर, क्षीरजल सागर, घृतसागर तथा क्षोदरस सागर आदि को घेरे हुए नन्दीश्वर द्वीप बताया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि जैनों ने मध्यलोक के द्वीप-समुद्रों के विवरण में यद्यपि हिन्दू परंपरा की मान्यता से कुछ आगे बढ़ने का प्रयत्न किया है तथापि दो-चार द्वीप-सागरों का विवरण देने के पश्चात् उन्हें भी विराम ही धारण करना पड़ा।

प्रस्तुत प्रकीर्णक में मध्यलोक के द्वीप-सागरों का जो विवरण उल्लिखित है, वह आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से कितना संगत है और कितना परंपरागत मान्यताओं पर आधारित है, इसकी चर्चा हमने अपने स्वतंत्र लेख 'जैन सृष्टि शास्त्र और आधुनिक विज्ञान' में की है। यह लेख सुरेन्द्रमुनि अभिनंदन ग्रंथ में प्रकाशित हो रहा है। इस दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने की रुचि रखने वाले पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं।

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति प्रकीर्णक का प्रारंभ मानुषोत्तर पर्वत से ही होता है। इसके प्रारंभ से ग्रंथ निर्माण की प्रतिज्ञा अथवा मंगल स्वरूप कुछ भी नहीं कहा गया हैं इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ किसी विस्तृत ग्रंथ का एक अंश मात्र है तथा इसका पूर्व भाग संभवतः विलुप्त हो गया है। प्रस्तुत भूमिका में चर्चित ये सभी विषय ऐसे है जिन पर अंतिम रूप से कुछ कहने का दावा करना आग्रहपूर्ण और मिथ्या होगा। विद्वानों से अपेक्षा है कि इस दिशा में अपने चिंतन से हमें लाभान्वित करें।

वाराणसी — **सागरमल जैन**

2 अगस्त, 1993 — **सहयोग - सुरेश सिसोदिया**

गणिविज्जापइण्णयं - 5

प्रकीर्णक-

वर्तमान में आगमों के अंग, उपांग, छेद, मूलसूत्र, प्रकीर्णक आदि विभाग किये जाते हैं। यह विभागीकरण हमें सर्वप्रथम **विधिमार्गप्रपा** (जिनप्रभ-13वीं शताब्दी) में प्राप्त होता है।[2] सामान्यतया प्रकीर्णक का अर्थ विविध विषयों पर संकलित ग्रंथ ही किया जाता है। नंदीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है कि तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते थे। परंपरानुसार यह भी मान्यता है कि प्रत्येक श्रमण एक-एक प्रकीर्णक की रचना करते थे।

जैन पारिभाषिक दृष्टि से प्रकीर्णक उन ग्रंथों को कहा जाता है जो तीर्थंकरों के शिष्य उद्बुधचेत्ता श्रमणों द्वारा आध्यात्म-सम्बद्ध विविध विषयों पर रचे जाते हैं।[3]

यह भी मान्यता है कि श्रुत का अनुसरण करके वचन कौशल से धर्मदेशना आदि के प्रसंग से श्रमणों द्वारा कथित जो रचनाएँ हैं, वे प्रकीर्णक कहलाती है।[4]

प्रकीर्णकों की संख्या-

समवायांगसूत्र में ''चोरासीइं पण्णगं सहस्साइं पण्णत्ता'' कहकर

.....

1. मूलाचार - भारतीय ज्ञानपीठ, गाथा, 277
2. विधिमार्गप्रपा - पृष्ठ 55।
3. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृष्ठ 484।
4. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ 388।

भगवान् ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों के चौरासी हजार प्रकीर्णकों का उल्लेख किया गया है।[1]

दूसरे तीर्थंकरों से तेबीसवें तीर्थंकरों के शिष्यों द्वारा संख्येय सहस्त्र प्रकीर्णक रचे गये। महावीर के तीर्थ में चौदह हजार साधुओं का उल्लेख प्राप्त होता है। अतः उनके तीर्थ में प्रकीर्णकों की संख्या चौदह हजार मानी गई है।

नन्दीसूत्र में कहा गया है कि जिस तीर्थंकर के जितने सहस्त्र शिष्य औत्पात्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी तथा पारिणामिकी बुद्धि से युक्त हैं उनके उतने ही सहस्त्र प्रकीर्णक होते हैं।[1]

नन्दीसूत्र के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने इस संबंध में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है कि अर्हत् प्ररुपित श्रुत का अनुसरण करते हुए उनके शिष्य भी ग्रंथ रचना करते हैं- उन्हें प्रकीर्णक कहा जाता है। अथवा अर्हत् उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करते हुए शिष्य धर्मदर्शना आदि के संदर्भ में अपने वचन कौशल से ग्रंथकार पद्यात्मक रूप में जो भाषण करते है वह प्रकीर्णक संज्ञक है।[3]

हाँलाकि आज अनेकों प्रकीर्णक ग्रंथ सामने आ रहे है परंतु निम्न 10 प्रकीर्णकों का सर्वमान्य उल्लेख प्राप्त होता है।

(1) चउसरण (चतुःशरण) (2) आउर पच्चक्खाण (आतुर प्रत्याख्यान) (3) महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान) (4) भत्तपरिण्णा (भक्तपरिज्ञा) (5) तंदुलवैयालिय (तन्दुलवैचारिक) (6) संथारग (संस्थारक) (7) गच्छायार (गच्छाचार), (8) गणिविज्जा(गणिविद्या)

.....

1. समवायांगसूत्र- मुनि मधुकर - 84वाँ समवाय।
2. एवमाइयाइं, चउरासीइं पइन्नगसहस्साइं भगवओ अरहओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स, तहा संखिज्जाइं पइन्नगसहस्साइं मज्झिमगाणं जिणवराणं, चोद्दसपइण्णगसहस्साणि भगवओ वद्धमाण सामिस्स। अहवा जस्त जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए वेणइआए, कम्मिआए, पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेआ तस्स तत्तिआई पण्णगसहस्साइं। 81।
3. ... इह यद भगवदर्हदुपदिष्टं श्रुतमनुसृत्य भगवतः श्रमणा विरचयंति तत्सर्व प्रकीर्णकमुच्यते। अथवा श्रुतमनुसरन्तो यदात्मनो वचनकौशलेन धर्मदेशनाऽऽदिषु ग्रन्थ पद्धतिरूपतया भाषन्ते तदपि सर्व प्रकीर्णकम्-

अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग - 5, पृ. 3।

(9) देविंदथओ (देवेन्दस्तव) (10) मरणसमाहि (मरणसमाधि)।[1]

मुनि पुण्यविजयजी ने प्रकीर्णक सूत्र की भूमिका में कहा है कि नन्दी एवं अनुयोगद्वार सूत्र जैनागम ग्रंथमाला ग्रन्थाग्र-1 के प्रकाशकीय में दस प्रकीर्णक के नाम इस प्रकार गिनाएँ है।[2]

(1) चउसरण (श्री वीरभद्राचार्य कृत) (2) आउरपच्चक्खाण (श्री वीरभद्राचार्य कृत) (3) भत्तपरिण्णा (4) संथारग (5) तंदुलवेयालिय (6) चंदावेज्झय (7) देविंदत्थय (8) गणिविज्जा (9) महापच्चक्खाण (10) वीरत्थव।

वर्तमान में मान्य प्रकीर्णकों की संख्या दस ही है परंतु उनमें एकरुपता नहीं पाई जाती है। कहीं-कहीं पर मरणसमाधि एवं गच्छाचार के स्थान पर चन्द्रवेध्यक एवं वीरस्तव को गिना है। किन्हीं ग्रंथों में देवेन्द्रस्तव एवं वीरस्तव को सम्मिलित कर दिया गया है किन्तु संस्तारक की परिगणना प्रकीर्णकों में नहीं करके उसके स्थान पर गच्छाचार एवं मरणसमाधि का उल्लेख किया गया है।

इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते है यथा- ''आउरपच्चक्खाण'' के नाम से तीन ग्रंथ उपलब्ध होते हैं।

मुनिश्री पुण्यविजय जी लिखते हैं कि वर्तमान में यदि प्रकीर्णक नाम से अभिहित ग्रंथों का संग्रह किया जाय तो निम्न बाईस नाम प्राप्त होते हैं-

(1) चतुःशरण (2) आतुरप्रत्याख्यान (3) भत्तपरिज्ञा (4) संस्थारक (5) तन्दुलवैचारिक (6) चन्द्रवेध्यक (7) देवेन्द्रस्तव (8) गणिविद्या (9) महाप्रत्याख्यान (10) वीरस्तव (11) ऋषिभाषित (12) अजीवकल्प (13) गच्छाचार (14) मरण समाधि (15) तित्थोगालि (16) आराधना पताका (17) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (18) ज्योतिषकरण्डक (19) अंगविद्या

.....

1. (क) प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 197।
   (ख) आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृ. 486।
   (ग) जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 388।
   (घ) देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक - भूमिका, पृ. 12।
2. पइण्णय सुत्ताइं - मुनि पुण्यविजयजी - प्रस्ता., पृ. 20।

(20) सिद्धप्राभृत (21) सारावली (22) जीवविभक्ति।[1]

यहाँ एक बात विशेष रूप से दृष्टव्य है कि मुनि पुंण्यविजयजी द्वारा सम्पादित एवं महावीर विद्यालय - बम्बई द्वारा प्रकाशित, जो पइण्णय सुताइं भाग 1 एवं भाग 2 प्रकाशित हुए है, उनमें अजीवकल्प, अंगविद्या, सिद्धप्राभृत एवं जीवविभक्ति - ये चार प्रकीर्णक प्रकाशित नहीं हुए हैं।

मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित पइण्णय सुताइं भाग 1 एवं भाग 2 में निम्न प्रकीर्णकों का संग्रह है।[2]

पइण्णय सुत्ताइं भाग 1 - इसमें निम्न बीस प्रकीर्णक है :-

(1) देवेन्द्रस्तव	(2) तन्दुलवैचारिक	(3) चन्द्रवेध्यक
(4) गणिविद्या	(5) मरणसमाधि	(6) आतुरप्रत्याख्यान
(7) महाप्रत्याख्यान	(8) ऋषिभाषित	(9) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
(10) संस्थारक	(11) वीरस्तव	(12) चतुःशरण
(13) आतुरप्रत्याख्यान	(14) चतुःशरण	(15) भक्तपरिज्ञा
(16) आतुरप्रत्याख्यान	(17) गच्छाचार	(18) सारावली
(19) ज्योतिषकरण्डक	(20) तित्थोगाली	

पइण्णय सुत्ताइं भाग 2 - इसमें निम्न सात प्रकीर्णक एवं पाँच कुलक है :-

(1) आराधना पताका (प्राचीनाचार्य विरचित)
(2) आराधना पताका (श्री वीरभद्राचार्य विरचित)
(3) आराधनासार (पर्यन्त आराधना)
(4) आराधना पत्रक (श्री उद्योतन सूरि विरचित कुवलयमालाकहा अंतर्गत)
(5) आराधना प्रकरण (अभयदेव सूरि प्रणीत)
(6) आराधना (जिनेश्वर श्रावक एवं सुलसा श्राविका)
(7) आराधना (नन्दन मुनि द्वारा आराधित आराधना)
(8) आराधना कुलक
(9-10) मिथ्यादुष्कृत कुलक भाग, 1-2
(11) आलोयणा कुलक
(12) अल्पविशुद्धि कुलक

.....

1. पइण्णय सुत्ताइं -मुनि पुण्यविजय जी - प्रस्तावना, पृ. 19।
2. वही, पृ. 20।

इस प्रकार इसमें 27 प्रकीर्णक और 5 कुलक प्रकाशित है। इनमें चतुःशरण नामक दो प्रकीर्णक, आतुर प्रत्याख्यान के नाम के तीन प्रकीर्णक और आराधना के नाम से 7 प्रकीर्णक एवं 1 कुलक है। यदि आराधना, चतुःशरण और आतुरप्रत्याख्यान को एक-एक माना जाये तो कुल 18 प्रकीर्णक होते हैं। इन दो भागों में अप्रकाशित- अंगविद्या, अजीवकल्प, सिद्धप्राभृत एवं जीवविभक्ति ये चार जोड़ने पर प्रकीर्णकों की कुल संख्या 22 होती है।

इन प्रकीर्णकों के नामों में से नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में (1) देवेन्द्रस्तव (2) तन्दुलवैचारिक (3) चन्द्रवेध्यक (4) गणिविद्या (5) मरणविभक्ति (6) मरणसमाधि (7) महाप्रत्याख्यान ये सात नाम पाये जाते हैं एवं कालिक सूत्रों के वर्ग में 1- ऋषिभाषित एवं 2 - द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं। इस प्रकार नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है।[1] अतः नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में और दस प्रकीर्णकों की सभी सूचियों में गणिविद्या का उल्लेख होना इस बात का प्रमाण है कि यह आगम के रूप में मान्य एक प्राचीन ग्रंथ है।

यद्यपि आगमों की श्रृंखला में प्रकीर्णकों का स्थान द्वितीयक है किन्तु यदि हम भाषागत प्राचीनता और विषयवस्तु की दृष्टि से विचार करे तो कुछ प्रकीर्णक, आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन एवं महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित, तन्दुलवैचारिक, देवेन्द्रस्तव, चन्द्रवेध्यक आदि कुछ ऐसे प्रकीर्णक है जो उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन हैं।[2]

गणिविद्या

गणिविद्या प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख नंदिसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में मिलता है। नन्दिसूत्र चूर्णि में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि :-

"सबाल वुड्ढाउलो गच्छो गणो, सो जस्स अत्थि सो गणो, विज्ज त्ति णाणं, तं च जो इस-निमित्तगत्तं णातुं पसत्थेसु इमे कज्जे करेति, तं जहा-पव्वावणा (1)

.....

1. नन्दीसूत्र - मुनि मधुकर, पृ. 80-81।
2. ऋषिभाषित एक अध्ययन - प्रो. सागरमल जैन, प्राकृत भारत संस्थान जयपुर।

सामाइयारोवणं (2) उवट्ठावणा (3) सुत्तस्स उद्देससमुद् देसाऽणुण्णातो (4) गणारोवणं (5) दिसाणुण्णा (6) खेत्तेसु य णिग्गमपत्रेसा (7) एमाइया कज्जा जैसु तिहि - करण-णक्खत्त-मुहुत्त-जोगेसु य जे जत्थ करणिज्जा ते जत्थऽज्झयणे वण्णिज्जंति तमज्झयणं गणिविद्या''

अर्थात् गण का अर्थ समस्त बाल-वृद्ध मुनियों का समूह। जो ऐसे गण का स्वामी है वह गणी कहलाता है। विद्या का अर्थ होता है- ज्ञान। ज्योतिष-निमित्त विषयक ज्ञान के आधार पर जिस ग्रंथ में दीक्षा, सामायिक का आरोपण, व्रत में स्थापना, श्रुत संबंधित उपदेश, समुद्देश, अनुज्ञा, गण का आरोपण, दिशानुज्ञा, निर्गम, (विहार) प्रवेश आदि कार्यों के संबंध में तिथि, करण, नक्षत्र, मुहूर्त एवं योग का निर्देश हो, यह **''गणिविद्या''** कहलाता है।[1]

श्री हरिभद्रसूरि कृत नन्दिसूत्रवृत्ति में इस प्रकीर्णक का परिचय इस प्रकार दिया गया है-

''गुणगणोऽस्यास्तीति गणी, स चाऽऽचार्यः, तस्य विद्याज्ञानं गणिविद्या। तत्राविशेषेऽप्ययं विशेषः-जोतिष, निमित्तणाणं गणिणो पव्वावणादिकज्जेसु। उवयुज्जइ तिहि-करणादिजाणणट्ठऽन्नहा दोसो''॥

अर्थात् गुणों का समूह जिसमें हो वह गणी कहलाता है। गणी को आचार्य भी कहा जाता है उस आचार्य की विद्या (निमित्त-विद्या) को गणिविद्या कहा जाता है। इसमें विशेष रूप से यह बताया गया है कि प्रव्रज्या आदि कार्यों के समय, वार, तिथि आदि का निश्चय करने में ज्योतिष (निमित्त)के ज्ञान का उपयोग करना चाहिए अन्यथा दोष की अथवा हानि होने की संभावना रहती है।[2]

ग्रंथ में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियों का परिचय-

मुनिश्री श्री पुण्यविजयजी ने इस ग्रंथ के पाठ निर्धारण में निम्न हस्तलिखित प्रतियों का प्रयोग किया है।

1. सं. - श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मंदिर-पाटन की प्रति। यह संघवी- पाड़ा जैन ज्ञान भंडार की प्रति है, जो ताड़पत्र पर लिखि हुई है।

.....

1. नन्दिसूत्रचूर्णि सहित - प्राकृत टेक्सट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित - अहमदाबाद, पृ. 58।
2. नन्दिसुत्तम - प्रा. टे. सोसायटी, अहमदाबाद, पृ. 71।

2. जे. - आचार्यश्री जिनभद्रसूरि जैन ज्ञान भंडार की प्रति। यह भी ताड़पत्रीय है।

3.हं - श्री आत्माराम जैन ज्ञान मंदिर - बड़ोदा में सुरक्षित। मुनिश्री हंसराज जी म.सा. के हस्तलिखित ग्रंथ संग्रह की प्रति

4. पु. - श्री लालभाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर - अहमदाबाद में सुरक्षित। मुनिश्री पुण्यविजयजी म.सा. के संग्रह के प्रति।

5. सा. - आगमोदय समिति - सूरत द्वारा 1927 में प्रकाशित और आचार्यश्री सागरानन्दजी सूरि द्वारा संपादित ग्रंथ।

हमने उक्त क्रमांक 1 से 5 तक की इन पाण्डुलिपियों के पाठ भेद मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित पइण्णय सुत्ताइं नामक ग्रंथ के लिए हैं। इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से पइण्णय सुत्ताइं ग्रंथ की प्रस्तावना के पृष्ठ 23-25 देखने की अनुशंसा करते हैं।

गणिविद्या के कर्ता एवं उसका रचनाकाल :

गणिविद्या का प्रारंभ मंगलाचरण से होता है। उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जिनभाषित प्रवचन शास्त्र में जिस प्रकार से ग्रह, नक्षत्र, मुहूर्त, कारण आदि नौ बलों की बलाबल विधि कही गई है उसी के आधार पर मैं इनका वर्णन करूंगा। इससे यह फलित होता है कि ग्रंथ का कर्ता जैन आगम साहित्य का अध्येता है और उसी ज्ञान के आधार पर वह अपने ग्रंथ की रचना करना चाहता है। प्रतिज्ञा वाक्य से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत कृति मात्र संकलन नहीं होकर किसी व्यक्ति विशेष की रचना है किन्तु संपूर्ण ग्रंथ में कहीं भी ग्रंथकर्ता ने अपना नामोल्लेख नहीं किया है। यह एक प्राचीन परंपरा रही है कि ग्रंथ रचना की प्रतिज्ञा का उल्लेख करके भी प्राचीनाचार्य अपने नाम का उल्लेख नहीं करते थे। क्योंकि वे यह मानते थे कि उनकी रचना का मूल आधार तो जिनवचन ही है अतः हम उसके कर्ता कैसे हो सकते हैं।

दूसरे कर्ता के रूप में अपने नाम का उल्लेख नहीं करना ग्रंथकार की विनम्रता का परिचायक भी होता है। जैन परंपरा के प्राचीन स्तर के ग्रंथों में ग्रंथकर्ता के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि परंपरा के दशवैकालिक सूत्र के कर्ता आर्य स्वयंभू माने जाते हैं परंतु उन्होंने भी अपने नाम का प्रयोग नहीं किया है। छठी शताब्दी में हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने ग्रंथों का प्रारंभ प्रतिज्ञापूर्वक करके भी ग्रंथ के कर्ता के

रूप में अपना उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि विमलसूरि के पउमचरियं एवं हरिभद्र के ग्रंथ ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें उन्होंने स्पष्ट रूप से या सांकेतिक रूप से अपने कर्ता होने का परिचय दे दिया है। किन्तु जहाँ तक गणिविद्या प्रकीर्णक का प्रश्न है इसमें हमें न तो स्पष्ट रूप से और न ही संकेत रूप से इसके कर्ता का परिचय मिलता है। अंत में भी ग्रंथकार मात्र यह कहता है कि अनुयोग के ज्ञायक सुविहितों के द्वारा यह बलाबल विधि कही गई है। इस प्रकार अंत में भी वह अपने नाम का संकेत नहीं करता है, मात्र इसे सुविहित मुनियों की रचना मानता है। फिर भी हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि यह ग्रंथ किसी श्रुत स्थविर की ही रचना है, जो अनुयोग का धारक था। अनुयोगधरों की यह परंपरा चतुर्थ या पंचमी शताब्दी में स्पष्ट रूप से प्रचलित थी, ऐसे संकेत हमें नंदीसूत्र एवं कल्पसूत्र की स्थविरावलियों में मिलते हैं।

पुनः नंदीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में इस ग्रंथ का नामोल्लेख होना स्पष्ट रूप से यह बताता है कि इसकी रचना विक्रम की पाँचवी शताब्दी के पूर्व ही हुई होगी। जहाँ तक इसकी विषयवस्तु का प्रश्न है नन्दीचूर्णि एवं नन्दीवृत्ति में जिस रूप में उल्लेख है, उसी रूप मेंआज भी पाई जाती है। अतः इस बात में भी संदेह का कोई अवकाश नहीं कि प्रस्तुत गणिविद्या एवं नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में उल्लेखित गणिविद्या अलग-अलग है।

गणिविद्या में जिन दिवस, तिथि, ग्रह, नक्षत्र, मुहूर्त, वार आदि विषयों का उल्लेख हुआ है, उनमें से सिर्फ वार को छोड़कर बाकी सभी का उल्लेख जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भी प्राप्त होता है। मात्र अंतर यह है कि जहाँ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में ग्रह, नक्षत्र, करण, मुहूर्त्त आदि के विभिन्न नाम एवं प्रकार आदि का उल्लेख है वहीं प्रस्तुत कृति में इनका उल्लेख अधिक नहीं पाया जाता है कि कौन-सा नक्षत्र, ग्रह, मुहूर्त, करण आदि किस प्रकार मुनि जीवन से संबंधित कार्यों के लिए शुभ या अशुभ है।

इस आधार पर यह अनुमान अवश्य कर सकते हैं कि जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के प्रस्तुत अंश के बाद ही इस ग्रंथ की रचना हुई इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के बाद एवं नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र के पूर्व रचित है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में जिन विषयों का प्रतिपादन हुआ है उसके आधार पर विद्वान उसे ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी की रचना मानते हैं। इस प्रकार गणिविद्या का रचनाकाल तीसरी और पाँचवीं शताब्दी के मध्य कभी भी माना जा सकता है। पुनः गणिविद्या में स्पष्ट रूप से वार की परिकल्पना

ग्रहदिवस के रूप में आती है। गणिविद्या दिवस और ग्रहदिवस के रूप में **तिथि एवं वार** दोनों की अवधारणाओं को प्रस्तुत करता है जबकि प्राचीन अभिलेखों एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में **वार** की अवधारणा अनुपस्थित है। भारतीय ज्योतिष में भी वार की अवधारणा गुप्तकाल से पूर्व प्राप्त नहीं होती है। मथुरा के अभिलेखों में जहाँ तिथि एवं मास का उल्लेख पाया जाता है वहाँ भी कहीं भी वार का उल्लेख नहीं है।

जैन अभिलेखीय साक्षों में वार के उल्लेख लगभग 7वीं शताब्दी के पश्चात् ही पाये जाते हैं। किन्तु इतना अवश्य माना जा सकता है कि इसके पूर्व ग्रहदिवस के रूप में वार की परिकल्पना भारतीय ज्योतिष में आ गई थी। इस प्रकार साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्षों में जो फलित निकाले जा सकते हैं उनके आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि गणिविद्या पाँचवीं शताब्दी के आसपास की ही रचना है। इसकी कालावधि को इससे नीचे इसलिए नहीं ले जाया जा सकता है कि पाँचवीं शताब्दी के ग्रंथ नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र में इसका स्पष्ट निर्देश है।

पुनः गणिविद्या वस्तुतः गणित ज्योतिष का ग्रंथ न होकर फलित ज्योतिष का ग्रंथ है। दूसरे ग्रह, नक्षत्र, मुहूर्त्त, वार, करण आदि के शुभत्त्व व अशुभत्व के संबंध में जो दृष्टिकोण गणिविद्या में उपलब्ध होता है, उसका संपौषण परवर्ती जैन एवं जैनेत्तर फलित ज्योतिष के ग्रंथों से भी हो जाता है। अतः इतना अवश्य कहा जा सकता है कि फलित ज्योतिष के संदर्भ में गणिविद्या जैन परंपरा का संभवतः प्रथम ग्रंथ है।

यहाँ हम संभवतः शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहे हैं कि इसक पूर्व सूर्यप्रज्ञप्ति में फलित ज्योतिष से संबंधित किंचित विवरण प्राप्त होता है किन्तु उन विवरणों की प्रकृति एवं स्वरूप को देखकर ऐसा लगता है कि वे विवरण मूलतः जैन परंपरा से न होकर जैनेत्तर परंपरा से ही ग्रहीत हुए है। सामान्य बुद्धि का मनुष्य भी यह निश्चित कर सकता है कि सूर्यप्रज्ञप्ति में जिन विधि-विधान एवं फलितों का उल्लेख है वह अहिंसक जैन परंपरा के द्वारा संभव नहीं है। वैसे तो जहाँ तक हमारा दृष्टिकोण है फलित ज्योतिष संबंधी समस्त चर्चाएँ जैनेत्तर परंपरा से ही जैन परंपरा में ग्रहीत हुई है क्योंकि अध्यात्म-साधना प्रधान निवृत्ति- मार्गी जैन - परंपरा में इनका कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं हो सकता। इस प्रसंग में गणिविद्या की जो विशेषता है उसे भी यहाँ चिन्हित करना अपेक्षित होगा- जहाँ जैनेत्तर परंपरा के फलित ज्योतिष के ग्रंथों में धार्मिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के कार्यों में मुहूर्त आदि की चर्चा उपलब्ध होती है वहाँ गणिविद्या

में मात्र श्रमण-श्रमणियों के साधनात्मक जीवन के संदर्भ में ही ग्रह, नक्षत्र आदि की शुभाशुभ फलों पर विचार किया गया है।

इस ग्रंथ में एक और विशेषता यह देखने को मिलती है कि जिन ग्रह, नक्षत्र आदि को सामान्य परंपरा में अशुभ या क्रूर माना जाता है, उनमें जैनाचार्यों ने समाधिमरण ग्रहण करने का उल्लेख करके यह सूचित कर दिया कि अशुभ माने जाने वाले नक्षत्र, ग्रह, करण, मुहूर्त्त आदि भी सभी कार्यों के लिए अशुभ नहीं है उनको आत्म साधना के द्वारा मांगलिक रूप दिया जा सकता है। जैन परंपरा में समाधिमरण को मंगल रूप कहा गया है।

इस प्रकार उपरोक्त चर्चाओं से स्पष्ट हो जाता है कि गणिविद्या किसी स्थविर आचार्य की रचना है, जो फलित ज्योतिष के आधार पर अध्यात्मिक कार्यों को करने का निर्देश इस ग्रंथ में करना चाहता था। इस ग्रंथ का नामोल्लेख नंदी एवं पाक्षिक सूत्रों में होना, फलित ज्योतिष के विषय का प्रथम ग्रंथ होना, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, व्याख्या ग्रंथों एवं अन्य प्राचीन जैनेतर ग्रंथों में इसके विषय का निरुपण होना आदि सब प्रसंग इसे पाँचवीं शताब्दी के पूर्व होना ही सिद्ध करते हैं।

विषयवस्तु

गणिविद्या प्रकीर्णक में नौ विषयों का निरुपण है। जो इस प्रकार है-दिवस, तिथि, नक्षत्र करण, ग्रह, मुहूर्त्त, शकुनबल, लग्नबल और निमित्तबल।

ग्रंथ के अध्ययन एवं अनुवाद से यह प्रतिफलित होता है कि दैनंदिन जीवन के व्यवहार, अध्ययन, दीक्षा आदि कार्य, ज्योतिष संबंधी शुभ मुहूर्तों में करने चाहिए। परंतु यह ग्रंथकार का अपना एक दृष्टिकोण

है। कई परम्पराएँ एवं समाज व्यवस्थाएँ ऐसी भी हैं जो इन सब पर आस्था ही नहीं रखती हैं। हमारा उद्देश्य ग्रंथ में प्रतिपादित निमित्त शात्र विषयक मान्यताओं को उद्‌गाटित करना मात्र है।

(1) तिथिद्वारा - चन्द्रमा की एक कला को तिथि माना जाता है। इसका निर्णय चन्द्र एवं सूर्य के अंतरांशों के आधार पर किया जाता है। अमावस्या के बाद प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक की तिथियाँ शुक्ल पक्ष की एवं पूर्णिमा के बाद प्रतिपदा से लेकर अमावस्या तक की तिथियाँ कृष्ण पक्ष की होती हैं। गणिविद्या में इन दोनों पक्षों की 15-15 तिथियों का वर्णन किया गयाहै। यहाँ कहा गया है कि प्रतिपदा एवं द्वितीया में

प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी एवं त्रयोदशी विघ्नरहित एवं कल्याण कारक है। (गाथा 4-6)

इन तिथियों का नामकरण नन्दा, भद्रा, विजया, रिक्ता, (तुच्छा) पूर्णा आदि रूपों में किया गया है। श्रमणों के लिए कहा गया है कि वह नंदा, जया एवं पूर्णा संज्ञक तिथियों में शैक्ष दीक्षित करे। नंदा एवं भ्रदा तिथियों में नवीन वस्त्र धारण करें एवं पूर्णा तिथि में अनशन करें। (गाथा 9-10)

(2) नक्षत्र द्वार - तारों के समुदाय को नक्षत्र कहते हैं। इन तारा समूहों से आकाश में अश्व, हाथी, सर्प, हाथ आदि की आकृतियाँ बनती है। इसी आधार पर इन नक्षत्रों का नामकरण किया गया है। आकाश मंडल में ग्रहों की दूरी नक्षत्रों से ज्ञात की जाती है। ज्योतिष शास्त्रों में 27 नक्षत्र निम्न प्रकार माने गये हैं :- अश्विनी, भरणी, कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पूर्णवसु, पुष्य, आष्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषज, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, रेवती। अभिजित् को 28वाँ नक्षत्र माना गया है।[1] यहीं पर संध्यागत, विड्डेर, रविगत, विलम्बिन, राहुहत, सग्रह एवं ग्रहभिन्न इन सात नक्षत्रों के नाम और भी दिये गये हैं।[2]

ग्रंथ में कहा गया है कि सन्ध्यागत नक्षत्र में विवाद, विड्डेर नक्षत्र में शत्रु विजय होता है। रविगत नक्षत्र में मुक्ति की प्राप्ति होती है। पुष्प, हस्त, अभिजित, अश्विनी तथा भरणी इन नक्षत्रों में पादोपगमन अनशन करना चाहिए। शतभिषज्, पुष्य और हस्त नक्षत्र में विद्या पढ़ने में प्रवृत्त होना चाहिए। मृगशीर्ष, आर्द्रा, पुष्य, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्णवसु, मूल, अश्लेषा, हस्त तथा चित्रा नक्षत्र ज्ञान की वृद्धि कराने वाले कहे गये हैं। पूर्णवसु, पुष्य , श्रवण, धनिष्ठा- इन चार नक्षत्रों में लोच की क्रिया करनी चाहिए परंतु कृतिका, विशाखा, मघा एवं भरणी- इन चार नक्षत्रों में लोच की क्रिया करनी चाहिए परंतु कृतिका, विशाखा, मघा एवं भरणी-इन चार नक्षत्रों में लोच की क्रिया नहीं करनी चाहिए।

.....

1. (क) भारतीय ज्योतिष - नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 106
   (ख) गणिविद्या गाथा 11-41।
2. गणिविद्या, गाथा 15।

तीनों उत्तरा एवं रोहिणी नक्षत्र में शिष्य को प्रव्रज्या उपस्थापना (बड़ी दीक्षा) एवं गणी या वाचक पद देने की अनुज्ञा है। आर्द्रा, अश्लेषा, ज्येष्ठा तथा मूल-इन चार नक्षत्रों में गुरु के पास प्रतिमा धारण करने को कहा गया है। धनिष्ठा, शतभिषज, स्वाति, श्रवण और पूर्णवसु इन नक्षत्रों में गुरु की सेवा और चैत्यों की पूजा करनी चाहिए।[1]

(3) करणद्वार - तिथि के आधे भाग को करण कहते हैं। एक तिथि के दो करण होते हैं। गणिविद्या में ग्यारह करणों का उल्लेख मिलता है। बव, बालव, कालव स्त्रीलोचन, गर वणिज् और विष्टि - ये चर करण है जबकि शकुनि, चतुष्पद, नाग, किस्तुघ्न स्थिर करण है। (गाथा 42-43)

यही पर बताया गया है कि बव, बालव, कालव, वणिज, नाग एवं चतुष्पद करण में प्रव्रज्या देनी चाहिये। बव करण में व्रतों में उपस्थापन (बड़ी दीक्षा) एवं गणि, वाचक आदि पद प्रदान करना चाहिए। शकुनि एवं विष्टिकरण पादोपगमन संथारे के लिए शुभ माने गये हैं। (गाथा - 44-46)

(4) ग्रहदिवसद्वार - जिस दिन की प्रथम होरा का जो गृहस्वामी होता है उस दिन उसी ग्रह के नाम का वार अथवा दिवस रहता है। ये सात हैं - रवि, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र एवं शनि। गणिविद्या में कहा गया है कि गुरु, शुक्र एवं सोमवार को दीक्षा व्रतों में उपस्थापना (बड़ी दीक्षा) एवं गणि, वाचक आदि पद प्रदान करना चाहिए। रविवार, मंगलवार एवं शनिवार संयम - साधना एवं पादोपगमन आदि समाधिमरण की क्रियाओं के लिए शुभ है। (गाथा 47-48)

(5) मुहूर्त्तद्वार - तीस मुहूर्त्त का एक दिन-रात होता है। 30 मुहूर्त्तों में 15 मुहूर्त्त दिन के और 15 मुहूर्त्त रात्रि के होते हैं। गणिविद्या में दिन के पंद्रह मुहूर्त्त - रुद्र श्रेयस, मित्र, आरभट, सौमित्र, वेरेय, श्रवसु, वृत्त, रोहण, बल, विजय, नैऋत्य, वरुण, अर्यमन्, द्वीप एवं सूर्य बताये गये हैं। (गाथा 49-53)।

इस प्रकार कुछ रात्रि मुहूर्तों का भी वर्णन प्राप्त होता है परंतु रात्रि में किसी भी कार्य को करने का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। मित्र, नन्दा, सुस्थित, अभिजित, चन्द्र, वरुण,

.....

1. गणिविद्या - गाथा 20 से 41 तक।

अग्निवेश, ईशान, आनंद एवं विजय इन मुहूर्तों में शैक्ष को उपस्थापना (महाव्रतों में दीक्षित) और गणि एवं वाचक पद प्रदान करें। ब्रह्म, वलय, वायु, वृषभ तथा वरुण मुहूर्त्त में अनशन, पादोपगमन एवं समाधिमरण करने का कथन किया गया है (गाथा 56-58)।

(6) शकुनबलद्वार - प्रत्येक कार्य को करने के पूर्व घटित होने वाले शुभत्व या अशुभत्व का विचार करना शकुन कहलाता है। ग्रंथ में बताया गया है कि पुल्लिंग नाम वाले शकुनों में शैक्ष को दीक्षा प्रदान करे। स्त्री नाम वाले शकुनों में समाधि-मरण ग्रहण करे, नपुंसक नाम वाले शकुनों में सभी शुभ कार्यों का त्याग करे एवं मिश्रित निमित्तों (शकुनों) में सभी आरंभों का त्याग करे। (गाथा 59-64)

(7) लग्नबलद्वार - लग्न का अर्थ है- वह क्षण जिसमें सूर्य का प्रवेश किसी राशि विशेष में होता है। लग्न के आधार पर किसी कार्य के शुभ-अशुभ फल का विचार करना लग्न शास्त्र कहा जाता है। प्रस्तुत ग्रंथ में अस्थिर राशियों वाले लग्नों में शैक्ष को दीक्षा प्रदान करना, स्थिर राशियों वाले लग्नों में व्रत में उपस्थापना करना, एकावतारी लग्नों में स्वाध्याय एवं होरा लग्नों में शैक्ष को दीक्षा प्रदान करने का निर्देश किया गया है। यहीं पर बताया है कि सौम्य लग्नों में संयमाचरण एवं क्रूर लग्नों में उपवास आदि करना चाहिए। राहू एवं केतु वाले लग्नों में सर्वकार्य त्याग करने चाहिए। (गाथा 64-72)

(8) निमित्तबलद्वार - भविष्य आदि जानने के एक प्रकार को निमित्त कहा जाता है। कार्यों को सम्पादित करने के लिए निमित्त पर भी विचार किया जाता है। ये निमित्त कृत्रिम नहीं होते हैं इनसे भविष्य की सिद्धि होती है। निमित्त उत्पाद लक्षण वाले होते हैं जिनसे भूत-भविष्य जाना जाता है। (गाथा - 78) यहाँ पर पुरुष नाम वाले निमित्तों में पुरुष दीक्षा ग्रहण करे एवं स्त्री नाम वाले एवं निमित्तों में स्त्री दीक्षा ग्रहण करे, कहा गया है। नपुंसक संज्ञा वाले निमित्तों में कृत-अकृत कार्यों का विवेचन किया गया है। (गाथा 76-77) प्रशस्त निमित्तों में सभी कार्य प्रारंभ करने चाहिए एवं अप्रशस्त निमित्तों में समस्त कार्यों का त्याग करना चाहिए। (गाथा 79-82)।

ग्रंथकार ने ग्रंथ की अंतिम गाथाओं में कहा है कि दिवसों से तिथि बलवान होती है। तिथियों से नक्षत्र बलवान होते हैं। नक्षत्रों से करण और करणों से ग्रह बलवान होते हैं। ग्रहों से मुहूर्त्त, मुहूर्त्तों से शकुन, शकुनों से लग्न और लग्नों से निमित्त बलवान होते हैं। (गणिविद्या गाथा 83-85)

विषयवस्तु की तुलना-

गणिविद्या प्रकीर्णक में निर्दिष्ट तिथि, नक्षत्र, करण मुहूर्त आदि का वर्णन जैन आगमों, व्याख्या ग्रंथों एवं अन्य ज्योतिष विषयक ग्रंथों में कहाँ-कहाँ किस-किस रूप में प्राप्त होता है उसका विवरण निम्न प्रकार है-

(1) पाडिवए पडिवत्ती, नत्थि, विवत्ती भणंति बीयाए।
तइयाए अत्थसिद्धी, विजयग्गा पंचमी भणिया॥
जा एस सत्तमी सा उ बहुगुणा, इत्थ संसओ नत्थि।
दसमीइ पत्थियाणं भवंति निक्कटया पंथा॥
आरोग्गमविग्घं खेमियं च एक्कारसिं वियाणाहि।
जेवि य हुंति अमित्ता ते तेरसिपट्ठिओ जिणइ॥
चाउद्दसि पन्नरसि वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च।
छट्ठि च चउत्थिं बारसिं च दोण्हं पि पक्खाणं॥

(गणिविद्या, गाथा 4-7)

(2) चाउद्दसि पन्नरसिं वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च।
छट्ठिं च चउत्थिं बारसिं च दोण्हं पि पक्खाणं॥

(गणिविद्या, गाथा 7)

(3) नंदा भद्दा विजया तुच्छा पुन्ना य पंचमी होइ।
मासेण य छव्वारे एक्किवकाऽऽवत्तए नियए॥

(गणिविद्या, गाथा 9)

(4) संझागयं रविगयं विड्डेरं सग्गहं विलंबि च।
राहुहयं गहभिन्नं च वज्जए सत्त नक्खत्ते॥

(गणिविद्या, गाथा 15)

(1) (a) पण्णरस दिवसा पण्णत्ता, तंजहा - पडिवादिवसे, वितिआदिवसे (ततिआदिवसे, चउत्थीदिवसे, पंचमीदिवसे, छट्ठोदिवसे, सत्तमीदिवसे, अट्ठमीदिवसे, णवमीदिवसे, दसमोदिवसे, एगारसो-दिवसे, बारसीदिवसे, तेरदिवसे, चउद्दसीदिवसे) पण्णरसी-दिवसे।

(जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-मुनि मधुकर पृ. 355)

(b) पक्खे पडिवा सिट्ठं, बीया सिट्ठो तीयाइ खेमाय।
चउत्थो य धणं खीया, पंचमी सेया असुह छट्ठी॥
सुहदाइया सत्तमि, अट्ठमि वाही नवमि या मिच्चं।
दसमि ग्गारिसि लाहो, जीवो संसाइ बारसी या॥
सव्वसुहा तेरसिया, उज्जल अह किण्ह वज्जि चवदिसिया।
पुन्निम अमावसिया, गमणं परिहरिय सयकज्जं॥

(ज्योतिषसारः गाथा 7, 8, 9)

(2) चाउद्दसि पण्णरसिं वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमि च।
छट्ठिं च चउत्थि बारसिं च सेसासु देज्जाहि॥

(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3407)

(3) (a) णंदे भद्दे जए तुच्छे पुण्णे पक्खस्स पंचमी।
एवं ते तिगुणा तिहीओ सव्वेसिं दिवसाणंति॥

(जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति - मुनि मधुकर पृ. 355)

(b) नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा चेति त्रिरन्विता।
हीना मध्योत्तमा शुक्ला कृष्णा तु व्यत्ययातिथिः॥

(आरम्भसिद्धि,पृ. 4)

(4) संझागयं रविगयं विड्डेरं सग्गहं विलंबं वा।
राहुहयं गहभिण्णं च वज्जए सत्त - नक्खत्ते॥

(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3409)

(5) मिगसर अद्दा पुस्सो तिन्नि य पुव्वाइं मूलमस्सेसा।
हत्थो चित्ता य तहा दस वुड्ढिकराइं नाणस्स॥

(गणिविद्या, गाथा 23)

एवं नक्षत्र संबंधी अन्य गाथाएं

(5) (a) मिगसिरमद्दा पुस्सो, तिण्णि य पुव्वाइं मूलमस्सेसा।
हत्थो चित्ता य तहा, दस विद्धिकराइं णाणस्स ॥
(स्थानांग सूत्र - मुनि मधुकर, पृ. 743)

(b) मिगसर अद्दा पुस्सो तिन्नि य पुव्वा य मूलमस्सेसा।
हत्थोचित्तो य तहा दस बुड्ढिकराइं नाणस्स ॥
(समवायांगसूत्र - मुनि मधुकर, पृ. 27)

(c) कत्तिय 1 रोहिणि 2 मिगसिर 3 अद्दा 4 य पुणव्वसू 5 य पुस्से 6 य।
तत्तो य अस्सिलेसा 7 मघाओ 8 दो फग्गुणीओ य 9-10 ॥
हत्थो 11 चित्ता 12 सादी 13 (य) विसाहा 14 तह य होइ अणुराहा 15।
जेट्ठा 16 मूलो 17 पुव्वासाढा 18 तह उत्तरा 19 चेव ॥
अभिई 20 सवण 21 धनिट्ठ 22 सतभिसदा 23 दो य होंति भद्दवया 24-25
रेवति 26 अस्सिणि 27 भरणी 28 एसा नक्खत्तपरिवाडी ॥
(अनुयोगद्वार सूत्र-मुनि मधुकर, पृ. 213)

(d) अट्ठावीसं णक्खत्ता पण्णत्ता-तंजहा-अभिई, सवणो, धनिट्ठा,
सयभिसया, पुव्वभद्दवया, उत्तरभद्दवया, रेवई, अस्सिणी,
भरणी, कत्तिआ, रोहिणी, मिअसिर, अद्दा, पुणव्वसू, पूसो,
अस्सेसा, मघा, पुव्वफग्गुणी, उत्तरग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साई,
विसाहा, अणुराहा, जिट्ठा, मूलं, पुव्वासाढा, उत्तरसाढा इति।
(जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-मुनि मधुकर, पृ. 360)

(e) मिगसर अद्दा पुस्से तिन्नि य पुव्वाइं मूलमस्सेसा।
हत्थो चित्ता य तहा दस विद्धिकराइं नाणस्स ॥
(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3408)

(6) बव बालवं च तह कोलवं च थीलोयणं गाइं च।
बणियं विट्ठी य तहा सुद्धपडिवए निसाईया॥

(गणिविद्या, गाथा 42)

(7) सउणि चउप्पय नागं किंथुग्घं च करणा धुवा होंति।
किण्हचउद्दसिरतिं सउणो पडिवज्जए करणं॥

(गणिविद्या, गाथा 43)

(6) (a) बवं च बालवं चेव, कोलवं तेत्तिलं तहा।
गरादि वणियं चेव, विट्ठी हवइ सत्तमा॥

(श्री सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 11)

(b) बवं च बालवं चेव, कोलवं थिविलोअणं।
गराइ वणियं चेव, विट्ठी हवइ सत्तमी॥

(उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 198)

(c) बवं च बालवं चेव, कोलवं तीइवलो य णं।
गरो हि वणियं चेव विट्ठी हवइ सत्तमा॥

(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3348)

(d) अथ बव 1 बालव 2 कौलव 3 तैतिल 4 गर 5 वणिज 6 विष्टयः 7 सप्त।
मासेऽष्टशश्चराणि स्युरुज्वलप्रतिपदन्त्यार्धात॥

(आरम्भसिद्धिः, गाथा 10, पृ. 9)

(7) (a) गोयमा ! एक्कारस करणा पण्णत्ता-तंजहा-बवं, बालवं, कोलवं, थीविलोअणं, गराइ, वणिज्जं, विट्ठी, सउणी, चउप्पयं, नागं, किंत्थुग्घं।

(जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-मुनि मधुकर, पृ. 358)

(b) सउणि चउप्पयं नागं किसुग्घं च करणं भवे एयं।
एते चत्तारि धुवा अन्ने करणा चला सत्ता॥
चा उद्दसिरत्तीए सउणि पडिवज्जए सदा करणं।
तत्तो अहक्कमं खलु चउप्पयं णाग किसुग्घं॥

(श्रीसूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा 12-13)

(c) सउणि चउप्पयं नागं, किसुग्घं करणं तहा।
एए चत्तारि धुवा, सेसा करणा चला सत्त॥
किण्ह चउद्दसिरतिं सउणिं पडिवज्जए सया करणं।
इत्तो अहक्कमं खलु चउप्पयं नाग किंछुग्घं॥

(उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 199-200)

(8) रुद्दो उ मुहुत्ताणं आई छन्नवइअंगुलच्छाओ 1 ।
सेओ उ हवइ सट्ठी 2 बारस मित्तो हवइ जुत्तो 3 ॥

छ च्चेव य आरभडो 4 सोमित्तो पंचअंगुलो होइ 5 ।
चत्तारि य वइरज्जो 6 दो च्चेव य सावसू होइ 7 ॥

परिमंडली मुहुत्तो असीवि मज्झंतिते ठिए होइ 8 ।
दो होइ रोहणो पुण 9 बलो य चउरंगुलो होइ 10 ॥

विजओ पंचंगुलिओ 11 छ च्चेव य नेरिओ हवइ जुत्तो 12 ।
वरुणो य हवइ बारस 13 अज्जमदीवो हवइ सुट्ठो 14 ॥

छन्नउइअंगुलो पुण होइ भगो सूरअत्थमणवेले 15 ।
एए दिवसमुहुत्ता, रत्तिमुहुत्ते अओ वुच्छ ॥

हवई विवरीय धणो पमोयणो अज्जमा तहा सीणो ।
रक्खस पायावच्चा सामा बंभा बहस्सई या ॥

विण्हु तहा पुण रित्तो रत्तिमुहुत्ता वियाहिया ।
दिवसमुहुत्तगईए छायामाणं मुणेयव्वं ॥

मित्ते नंदे तह सुट्ठिए य अभिई चंदे तहेव य ।
वरुणऽग्गिवेस ईसाणे आणंदे विजए इ य ॥

एतेसु मुहुत्तजोएसु सेहनिक्खमणं करे ।
वओवट्ठावणाइं च अणुन्ना गणि-वायए ॥

बंभे वलए वाउम्मि उसभे वरुणे तहा ।
अणसण पाउवगमणं उत्तिमट्ठं च कारए ॥

(गणिविद्या, गाथा 49-58)

(d) करणान्यथ शकुनि 1 चतुष्पद 2 नागानि 3 क्रमाच्च किंस्तुघ्नम्, ।
असित चतुर्दश्यर्धातिथ्यर्धेषु ध्रुवाणि चत्वारि ॥
(आरंभसिद्धिः; गाथा 9, पृ. 9)

(e) सउणि चउप्पय नागं किसूग्घं च करणं थिरं चउहा ।
बहुल चउद्दसिरतिं सउणिं सेसं तियं कमसो ॥
(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3350)

(f) बव-बालव-कौलव-तैत्तिल-गरजा-वणिजविष्टि-चरकरणाः ।
शकुनि चतुष्पदनागाः किंस्तुघ्नश्चेत्यमी स्थिराः करणा ॥
कृष्णचतुर्दश्यपरार्धतो भवन्ति स्थिराणी करणानि ।
शकुनि चतुष्पदनागाः किंस्तुघ्नः प्रतिपदाधर्धे ॥
(जैनज्योतिर्ज्ञानविधि, श्रीधर)

(g) बवश्च बालवश्चैव कौलवस्तैतिलस्तथा ।
गरश्च वणिजो विष्टिः सप्तैतानि चराणि च ॥
अन्ते कृष्णचतुर्दश्याः शकुनिदर्शभागयोः ।
ज्ञेयं चतुष्पदं नागं किंस्तुघनं प्रतिपद्दले ॥
(मुहूर्त्तराज, पृ. 49)

(8) (a) एगमेगे णं अहोरत्ते तीसमुहुत्ते मुहुत्तग्गेणं पण्णत्ते ।
तंजहा-रोद्दे सत्ते मित्ते वाऊ सुवीए ॥
अभिचंदे माहिंदे पलंबे बंभे सच्चे ।
आणंदे विजए विस्ससेणे पायावच्चे उवसमे ॥
ईसाणे तट्ठे भाविअप्पा वेसमणे वरुणे ।
सतरिसमे गंधव्वे अग्गिवेसायणे आतवे आवत्ते ॥
तट्ठेव भूमहे रिसभे सव्वट्ठसिद्धे रक्खसे ॥
(जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, मुनि मधुकर, पृ. 90)

(b) (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, मुनि मधुकर, पृ. 356) किंचित अक्षर भेद से

गणिविद्या प्रकीर्णक की विषयवस्तु का जैन आगमों एवं अन्य ज्योतिष ग्रंथों में विस्तार-

गणिविद्या प्रकीर्णक की विषयवस्तु का जैन आगमों, व्याख्या ग्रंथों एवं अन्य ज्योतिष विषयक ग्रंथों के साथ किये गये तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गणिविद्या प्रकीर्णक की विषयवस्तु स्थानांगसूत्र, समवायांग सूत्र, अनुयोगद्वार सूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम ग्रंथों, उत्तराध्ययन निर्युक्ति, सूत्रकृतांग निर्युक्ति विशेषावश्यक भाष्य आदि आगमिक व्याख्या ग्रंथों एवं आरंभसिद्धी, व्रततिथिनिर्णय, ज्योतिश्चन्द्रार्क, ज्योतिषसार, जैन ज्योतिर्ज्ञानविधि, मुहूर्तराज एवं सुगम ज्योतिष आदि जैन एवं जैनेतर ज्योतिष ग्रंथों में किंचित भेद से प्राप्त होती है।

गणिविद्या ग्रंथ में ज्योतिष विषयक तिथि, ग्रह, नक्षत्र आदि के उल्लेख तो प्राप्त होते हैं परंतु इसमें मुख्य रूप से मुनि जीवन की साधना से संबंध कार्यों के तिथि, मुहूर्त्त, करण आदि का ही विचार किया गया है। जबकि परवर्ती कुछ ग्रंथों से लौकिक कार्यों के संबंध में भी चर्चा की गई है। प्रस्तुत विवेचना जैन आगमों एवं अन्य जैन ज्योतिष ग्रंथों में प्राप्त विवेचन के आधार पर दिवस, तिथि, ग्रह, नक्षत्र, करण एवं मुहूर्तों के नाम, उनकी संज्ञाएँ, उनमें करने एवं नहीं करने योग्य कार्यों का संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास मात्र है। ज्योतिष ग्रंथों में हमने व्रततिथिनिर्णय- श्री नेमिचन्द्र शास्त्री - भारतीय ज्ञानपीठ- काशी नामक पुस्तक को ही अपना उपजीव्य बनाकर वर्णन किया है।

1. दिवस द्वार - जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति में कहा गया है कि प्रत्येक महिने 2 पक्ष और 30 दिन होते हैं। प्रत्येक पक्ष में 15-15 दिवस होते हैं। ये 15 दिवस है- प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पंचदशी अर्थात् अमावस्या या पूर्णिमा का दिन।[1]

इन 15 दिवसों के अन्य 15 नाम भी बतलाये गये हैं। ये हैं- 1. पूर्वांग, 2. सिद्ध मनोरम, 3. मनोहर, 4. यशोभद्र, 5. यशोधर, 6. सर्वकामसमृद्ध 7. इन्द्रमूर्द्धाभिषिक्त, 8. सोमनस, 9. धनञ्जय, 10. अर्थसिद्ध 11. अभिजात, 12.

अत्यशन, 13. शतञ्जय, 14. अग्निवेश्म तथा 15 उपशम[1]

इस प्रकार प्रत्येक पक्ष में 15 रात्रियाँ बतलायी गई है। यथा- प्रतिपदारात्रि, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पञ्चमा अर्थात् अमावस्या या पूर्णिमा की रात्रि।[3]

इन 15 रत्रियों के अन्य 15 नाम भी बतलाये गये हैं। वे हैं- 1. उत्तमा, 2. सुनक्षत्रा, 3. एलापत्या, 4. यशोधा, 5. सौमनसा, 6. श्रीसम्भूता, 7. विजया, 8. वैजयन्ती, 9. जयन्ती, 10. अपराजिता, 11. इच्छा, 12. समाहारा, 13. तेजा, 14. अतितेजा और 15. देवानंद या निरति।[4]

2. तिथि द्वार - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में पंद्रह दिनों की पंद्रह तिथियाँ बतलायी गयी है।[5]

प्रतिपदा = नन्दा

द्वितीया = भद्रा

.....

1. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति - मुनि मधुकर - सूत्र 185
2. वही, सूत्र 185।
3. वही, सूत्र 185।
4. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, पृष्ठ 355-56
5. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, मुनि मधुकर - पृष्ठ 355-356।

तृतीया	= जया
चतुर्थी	= तुच्छा/रिक्ता
पंचमी	= पूर्णा - पञ्चमी
षष्ठी	= नन्दा
सप्तमी	= भद्रा
अष्टमी	=जया
नवमी	= तुच्छा
दशमी	= पूर्णा-दशमी
एकादशी	= नन्दा
द्वादशी	= भद्रा
त्रयोदशी	= जया
चतुर्दशी	= तुच्छा
पंचदशी	= पूर्णा - पञ्चदशी

व्रततिथिनिर्णय नामक ज्योतिष विषयक ग्रंथ में कहा गया है कि प्रतिपदा, सिद्धि देने वाली, द्वितीया कार्य साधने वाली, तृतीया आरोग्य देने वाली, चतुर्थी हानिकारक, पंचमी शुभप्रद, षष्ठी अशुभ, सप्तमी शुभ, अष्टमी व्याधिनाशक, नवमी मृत्युदायक, दशमी द्रव्यप्रद, एकादशी शुभ, द्वादशी और त्रयोदशी कल्याणप्रद, चतुर्दशी उग्र, पूर्णिमा पुष्टिप्रद एवं अमावस्या अशुभ है।[1]

व्यवहार के लिए द्वितीया, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, अष्टमी, दशमी, एकादशी और त्रयोदशी तिथियाँ सभी कार्यों के लिए प्रशस्त बतलायी गई है।[2] यहीं पर बतलाया गया है कि दान, अध्ययन, शांति-पौष्टिक कार्य आदि के लिए सूर्योदय काल की तिथि उत्तम मानी जाती है।[3] प्रकारान्तर से तिथियों की नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता एवं पूर्णा आदि पाँच संज्ञाएँ भी बतलायी गई है। इसके[4] अनुसार प्रतिप्रदा, षष्ठी और एका-

.....

1. व्रततिथिनिर्णय - भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ 72।
2. व्रततिथि निर्णय - भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 72
3. यां तिथिं समनुप्राप्य उदयं याति भास्करः।
   सा तिथि : सकला ज्ञेया दानाध्ययनकर्मसु ॥ज्योतिष्चन्द्रार्क पृ. 5॥
4. नंदा, भद्रा, जया, रिक्त पूर्णा चेति त्रिरन्विता।
   हीना मध्योत्तमा शुक्ला कृष्णा तु व्यत्ययात्तिथि : ॥आरम्भसिद्धि पृ. 4॥

दशी की नन्दा; द्वितीया, सप्तमी एवं द्वादशी की भद्रा; तृतीया, अष्टमी और त्रयोदशी की जया; चतुर्थी, नवमी एवं चतुर्दशी की रिक्ता एवं पंचमी, दशमी और पूर्णिमा एवं अमावस्या की पूर्णा संज्ञा है। नंदा संज्ञक तिथियाँ मंगलवार को, रिक्ता संज्ञक तिथियाँ शनिवार को एवं पूर्णा संज्ञक तिथियाँ गुरुवार को पड़े तो सिद्धा कहलाती हैं। सिद्धा तिथियों में किया गया व्यापार, अध्ययन, लेन-देन अथवा किसी भी प्रकार का नवीन कार्य सिद्ध होता है। नन्दा संज्ञक तिथियों में चित्रविद्या, उत्सव, गृहनिर्माण, कृषि कार्य गीत नृत्य आदि सुचारु रूप से संपन्न होते हैं। भद्रा संज्ञक तिथियों में विवाह, आभूषण निर्माण, गाड़ी की सवारी, जया संज्ञक तिथियों में संग्राम, सैनिकों की भर्ती, युद्ध में जाना, तीक्ष्ण वस्तुओं का संचय, रिक्ता संज्ञक तिथियों में शस्त्र का प्रयोग, विष-प्रयोग, निन्द्य कार्य एवं पूर्णा संज्ञक तिथियों में मांगलिक कार्य विवाह, यात्रा आदि कार्य करना शुभ है। अमावस्या को मांगलिक कार्य नहीं किये जाते हैं। इस तिथि में प्रतिष्ठा, जाप आरंभ, शांति एवं पौष्टिक कार्य करने का भी निषेध किया गया है।[1]

दिगम्बर परंपरा के ग्रंथ व्रत तिथि निर्णय में कहा गया है कि चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी, द्वादशी और चतुर्दशी इन तिथियों की पक्षरन्ध्र संज्ञा है। इनमें उपनयन, विवाह, प्रतिष्ठा, गृहारम्भ आदि कार्य करना अशुभ बताया है। यदि इन तिथियों में कार्य करने की अत्यंत आवश्यकता हो तो इनमें प्रारंभ की पाँच घटिकाएँ अर्थात् दो घण्टे अवश्य त्याज्य है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त तिथियों में सूर्योदय के दो घण्टे बाद कार्य करना चाहिए।

रविवार को द्वादशी, सोमवार को एकादशी, मंगलवार को पंचमी, बुधवार को तृतीया, बृहस्पतिवार को षष्ठी, शुक्रवार को अष्टमी और शनिवार को नवमी तिथि होने पर दग्धयोग कहलाता है। इस योग में कार्य करने से नाना प्रकार के विघ्न आते हैं। अभिप्राय यह है कि वार और तिथियों के संयोग से कुछ शुभ और कुछ अशुभ योग बनते हैं। यदि रविवार को द्वादशी तिथि हो तो दग्धयोग कहलाता है, इसमें शुभ कार्य

.....

1. व्रततिथिनिर्णय, पृ. 76

आरंभ नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार आगे वाली तिथियों को भी समझना चाहिए।

रविवार को चतुर्थी, सोमवार को षष्ठी, मंगलवार को सप्तमी, बुधवार को द्वितीया, बृहस्पति को अष्टमी, शुक्रवार को नवमी और शनिवार को सप्तमी तिथि विषमयोग संज्ञक होती हैं अर्थात् उपर्युक्त तिथियाँ रवि आदि वारों के साथ मिलने से विषम हो जाती हैं, इन विषम योगों में भी कोई शुभ कार्य आरंभ नहीं करना चाहिये।

रविवार को द्वादशी, सोमवार को षष्ठी, मंगलवार को सप्तमी, बुधवार को अष्टमी, बृहस्पती को नवमी, शुक्रवा र को दशमी और शनिवार को एकादशी तिथि हुताशनयोग संज्ञक होती हैं। इन तिथियों को भी रवि आदि वारों के संयोग होने पर शुभ कार्य करना त्याज्य है।

चैत्र में दोनों पक्षों की अष्टमी, नवमी, वैशाख में दोनों पक्षों की द्वादशी, ज्येष्ठ में कृष्णपक्ष की चतुर्दशी, शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी, आषाढ़ में शुक्ल पक्ष की सप्तमी, कृष्णपक्ष की षष्ठी, श्रावण में द्वितीया, तृतीया, भाद्रपद में प्रतिपदा, द्वितीया, आश्विन में दशमी, एकादशी, कार्तिक में कृष्णपक्ष की पंचमी, शुक्लपक्ष की चतुर्दशी, मार्गशीर्ष में सप्तमी, अष्टमी, पौष में चतुर्थी , पंचमी, माघ में कृष्णपक्ष की पंचमी और शुक्लपक्ष की षष्ठी एवं फाल्गुन में शुक्लपक्ष की तृतीया मास शून्य संज्ञक है । इन तिथियों में मांगलिक कार्य आरंभ करने करने से वंश और धन की हानि होती है। ज्योतिष शास्त्र में उपर्युक्त तिथियाँ निर्बल बताई गई हैं । इनमें विद्यारंभ, गृहारंभ, वेदीप्रतिष्ठा, पंचकल्याणक, जिनालयारम्भ, उपनयन आदि कार्य नहीं करने चाहिये।

मेष और कर्क राशि के सूर्य में षष्ठी, मीन और धन के सूर्य में द्वितीया, वृष और कुम्भ क सूर्य में चतुर्थी, कन्या और मिथुन के सूर्य में अष्टमी, सिंह और वृश्चिक के सूर्य में दशमी, मकर और तुला के सूर्य में द्वादशी तिथि दग्धा संज्ञक बताई गई है।

मतान्तर से धनु और मीन के सूर्य में द्वितीया, वृष और कुम्भ के सूर्य में चतुर्थ, मेष और कर्क के सूर्य में षष्ठी, मिथुन और कन्या के सूर्य में अष्टमी, सिंह और वृश्चिक के सूर्य में दशमी एवं तुला और मकर के सूर्य में द्वादशी तिथि सूर्य-दग्धा संज्ञक होती हैं।

कुम्भ और धनु के चन्द्रमा में द्वितीया, मेष और मिथुन के चंद्रमा में चतुर्थी, तुला और सिंह के चंद्रमा में षष्ठी, मकर और मीन के चन्द्रमा में अष्टमी, वृष और कर्क के चन्द्रमा में दशमी एवं वृश्चिक और कन्या के चन्द्रमा में द्वादशी तिथि चंद्र-दग्धा

कहलाती है। इन तिथियों में उपनयन, प्रतिष्ठा, गृहारम्भ आदि कार्य करना वर्जित है।

इस प्रकार विभिन्न कार्यों के लिए शुभाशुभ तिथियों का विचार कर अशुभ तिथियों का त्याग करना चाहिए।

3. नक्षत्रद्वार- व्रततिथिनिर्णय नामक ग्रंथ में अश्विनी, भरणो, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद और रेवती ये 27 नक्षत्र हैं। घनिष्ठा से रेवती तक पाँच नक्षत्रों में पंचक माना जाता है। इन पाँचों नक्षत्रों में तृण-काष्ठ का संग्रह करना, खटिया बनाना एवं झोंपड़ी छवाना निषिद्ध है। अश्विनी, रेवती, मूल, आश्लेषा और ज्येष्ठ इन पाँच नक्षत्रों में जन्में बालक को मूल दोष माना जाता है।

उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद और रोहिणी ध्रुव एवं स्थिर संज्ञक है। इनमें मकान बनवाना, बगीचा लगाना, जिनालय बनवाना, शांति और पौष्टिक कार्य करना शुभ होता है। स्वाति, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा और शतभिषा नक्षत्र चर संज्ञक हैं। इनमें मशीन चलाना, सवारी करना, यात्रा करना शुभ है। पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद, भरणी और मघा उग्र अथवा क्रूर संज्ञक हैं। इनमें प्रत्येक शुभ कार्य त्याज्य है। विशाखा और कृतिका मिश्र संज्ञक नक्षत्र हैं। इनमें सामान्य कार्य करना अच्छा होता है। हस्त, अश्विनी पुष्य और अभिजित क्षिप्र अथवा लघु संज्ञक है। इनमें दुकान खोलना, ललित कलाएँ सीखना या ललित कलाओं का निर्माण करना, मुकदमा दायर करना, विद्यारम्भ करना, शास्त्र लिखना उत्तम होता है। मृगशिरा, रेवती, चित्रा और अनुराधा मृदु या मैत्र संज्ञक है। इनमें गायन-वादन करना, वस्त्र धारण करना, यात्रा करना, क्रीड़ा करना, आभूषण बनवाना आदि शुभ है। मूल, ज्येष्ठा आर्द्रा और आश्लेषा तीक्ष्ण या दारुण संज्ञक है। इनका प्रत्येक शुभ कार्य में त्याग करना आवश्यक है।

विष्कम्भ, प्रीति, आयुष्मान, सौभाग्य, शोभन, अतिगण्ड, सुकर्मा, धृति,

.....

1. व्रततिथि निर्णय- नेमिचन्द्र शास्त्री - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी पृष्ठ 76-78 भू. - 3

शूल, गण्ड, वृद्धि, ध्रुव, व्याघात, हर्षण, वज्र, सिद्धि, व्यतीपात, वरीयान् परिघ, शिव, सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्ल, ब्रह्म, ऐन्द्र और वैधृति ये 27 योग होते हैं। इन योगों में वैधृति और व्यतीपात योग समस्त शुभ कार्यों में त्याज्य है। परिघ योग का आधा भाग वर्ज्य है। विष्कम्भ और वज्रयोग की तीन-तीन घटिकाएँ, शूलयोग की पाँच घटिकाएँ एवं गण्ड और अतिगण्ड की छः-छः घटिकाएँ शुभ कार्यों में वज्र हैं।[1]

नक्षत्रों के नाम, वर्ण, राशि, उनके स्वामी, उनकी संज्ञाएँ एवं उनमें करणीय एवं अकरणीय कार्यों का वर्णन संलग्न चार्ज द्वारा भी जाना जा सकता है।[2]

(संलग्न - सारणी नं. 1, 2 पृष्ठ सं. 36 से 39 तक)

4. करणद्वार- बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज, विष्टि, शकुनी, चतुष्पद, नाग और किंस्तुघन ये 11 कारण होते हैं।[3] बव करण में शांति और पौष्टिक कार्य, बालव में गृह निर्माण, गृह प्रवेश, निधि स्थापन, दान-पुण्य के कार्य, कौलव में पारिवारिक कार्य, मैत्री, विवाह आदि तैतिल में नौकरी सेवा, राजा से मिलना, राजकार्य आदि, गर में कृषि कार्य, वणिज में व्यापार, क्रय-विक्रय आदि कार्य, विष्टि में उग्र कार्य, शकुनी में मंत्र-तंत्र सिद्धि औषध निर्माण आदि चतुष्पद में पशु खरीदना-बेचना, पूजा-पाठ करना आदि ना गमे स्थिर कार्य एवं किंस्तुघ्न में चित्र खींचना, नाचना-गाना आदि कार्य करना श्रेष्ठ माने गये हैं। विष्टि, भद्रा समस्त शुभ कार्यों में त्याज्य है।[4]

भावार्थ : भद्रा में कोई भी काम सिद्ध नहीं होता है। शुक्लपक्ष की अष्टमी पौर्णमासी के पूर्वार्द्ध में तथा एकादशी और चतुर्थी के परार्ध में एवं कृष्णपक्ष की तृतीया और दशमी के परार्ध में और सप्तमी तथा चतुर्दशी के पूर्वार्द्ध में भद्रा होती है।

(सुगम ज्योतिष पृ. 85)

.....

1. व्रततिथिनिर्णय पृ. 83-84
2. मुहूर्त्तराज - राजेन्द्र टीका सहित, पृ. 15, 19
3. व्रततिथि निर्णय, पृ. 84-85
4. न सिद्धियाति कृतं च विष्ट्यां विषारिघातादिषु तन्त्रसिद्धिः।
   न कुर्यान्मंगलं विष्टयां जीवितार्थी कदाचन।
   शुक्ले पूर्वार्धेऽष्टमीपंचदश्योर्भद्रैकादश्यां चतुर्थी परार्धे।
   कृष्णेऽन्त्यार्धे स्यात् तृतीयादशम्योः पूर्वे भागे सप्तमीशम्भुतिथ्योः।

5. ग्रहदिवसद्वार- वारों में रविवार, मंगलवार और शनिवार क्रूर माने गये हैं। इनमें शुभ कार्य करना प्रायः त्याज्य है। मतान्तर से रविवार ग्रहण भी किया गया है, किन्तु मंगलवार और शनिवार को सर्वथा त्याज्य बताया है। शुक्र, गुरु और बुधवार समस्त शुभ कार्यों में ग्राह्य माने गये हैं। सोमवार को मध्यम बताया है। राज्याभिषेक, नौकरी, मंत्र-सिद्धि, औषध-निर्माण, विद्यारंभ, संग्राम, अलंङ्कार - निर्माण, शिल्प निर्माण, पुण्यकृत्य, उत्सव, यान-निर्माण, सूतिका-स्नान आदि कार्य रविवार को करने से, कृषि, व्यापार, गान, चांदी-मोती का व्यापार, प्रतिष्ठा आदि कार्य सोमवार को करने से, क्रूर कार्य, खान खोदना, ऑपरेशन कराना, सूतिका-स्नान आदि काम मंगल को करने से, अक्षरारम्भ, शिलान्यास, कर्णवेध, काव्य-निर्माण, प्रतिष्ठा, गृहारम्भ, गृह प्रवेश, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, विवाह, स्तनपान, सूतिका-स्नान, भूम्युपवेशन एवं अन्नप्राशन आदि मांगलिक कार्य गुरुवार को करने से, विद्यारम्भ, कर्णवेध, चूड़ाकरण, वाग्दान, विवाह, व्रतोपनयन, षोडश संस्कार आदि कार्य शुक्रवार को करने से एवं गृहप्रवेश, दीक्षारम्भ तथा अन्य क्रूर कार्य शनिवार को करने से सफल होते हैं।[1]

6. मुहूर्तद्वार- व्रत तिथि निर्णय में कहा है कि- तीस मुहूर्त्तों में पंद्रह मुहूर्त दिन में और पंद्रह मुहूर्त रात में होते हैं। रौद्र, श्वेत, मैत्र, सारभट, दैत्य, वैरोचन, वैश्वदेव, अभिजित्, रोहण, बल, विजय, नैर्ऋत्य, वरुण, अर्यमन् और भाग्य ये मुहूर्त्त प्रत्येक तिथि में दिन को रहते हैं।

रात्रि में सावित्र, धुर्य, दात्रक, यम, वायु, हुताशन, भानु, वैजयन्त, सिद्धार्थ, सिद्धसेन, विक्षोभ, योग्य, पुष्पदन्त, सुगन्धर्व और अरुण ये पंद्रह मुहूर्त्त रहते हैं। प्रत्येक मुहूर्त्त दोघटी प्रमाण काल तक रहता है। कुछ आचार्य दिन में पाँच मुहूर्त्त ही मानते है तथा कुछ छः मुहूर्त्त। दिन के पंद्रह मुहूर्त्तों में रौद्र, श्वेत, मैत्र, सारभट और दैत्य आदि का गुण और स्वभाव बतलाये हुए कहा गया है कि प्रथम रौद्र मुहूर्त्त, जो कि उदयकाल में दो घटी तक रहता है, खर और तीक्ष्ण कार्यों के लिए शुभ होता है। इस मुहूर्त्त में किसी विलक्षण, असाध्य और भयंकर कार्य को आरंभ करना चाहिए। इस मुहुर्त्त का आदि भाग शुभ, मध्य भाग साधारण और अंत भाग निकृष्ट होता है। इस मुहूर्त्त का स्वभाव उग्र, कार्य करने में प्रवीण, साहसी और वंचक बताया गया है।

.....

1. व्रततिथिनिर्णय, 85-86

नक्षत्र सारणी नं. 1

क्र.स.	नक्षत्र का नाम	संज्ञा	उनमें करणीय कार्य
1.	उ. फा., उ.षा., उ.भा., रोहिणी और रविवार	स्थिर अथवा ध्रुवसंज्ञक	बीज बोना, गृह कर्म, शालिक कर्म, बाग आदि लगवाना, आदि स्थिर कार्य
2.	स्वाति, पुनर्वसु, श्रवण, घनिष्ठा शतभिषा और सोमवार	चर अथवा चल संज्ञक	हाथी, घोड़े की सवारी, वाटिका में जाना आदि चर कार्य
3.	पू.फा., पू.षा., पू.भा., भरणी मघा और मंगलवार	उग्र अथवा क्रूरसंज्ञक	घातकर्म, अग्निदाह, धूर्तता, विष देना, शास्त्रादि निर्माण एवं धारणादि उग्र एवं क्रूर कार्य
4.	विशाखा, कृतिका और बुधवार	मिश्र अथवा साधारण संज्ञक	अग्नि होत्र धारण करना, अन्य नक्षत्रोक्तकर्म, वृषोत्सर्ग क्रिया एवं अन्य उग्र कर्म भी
5.	हस्त, अश्विनी, पुष्य, अभिजित और गुरुवार	लघु अथवा क्षिप्र संज्ञक	वस्तु विक्रय, रतिकर्म, शास्त्र ज्ञान, भूषणधारण, शिल्पकला, शिक्षणादि कर्म

क्र.स.	नक्षत्र का नाम	संज्ञा	उनमें करणीय कार्य
6.	मृगशिरा, रेवती, चित्रा, अनुराधा और शुक्रवार	मृदु अथवा मैत्रसंज्ञक	गीत शिक्षण, वस्त्र धारण, क्रीड़ा, मैत्री, आभूषण निर्माण एवं धारण
7.	मूल, ज्येष्ठा, आर्द्रा, आश्लेषा और शनिवार	तीक्ष्ण अथवा दारुण संज्ञक	अभिचार, कर्म, उग्र कर्म हनन, मित्र कलह, हाथी, घोड़े आदि की शिक्षा बन्धनादि कर्म
8.	भरणी, कृतिका, आश्लेषा, मघा, मूल, विशाखा, पू.फा., पू.षा., पू.भा.	अधोमुख	बावड़ी कूप, तालाब, तृणादि संग्रह, देवता आगार खनन, खानों की खुदाई
9.	रोहिणी, आर्द्रा, पुष्य, घनिष्ठा उ.फा., उ.षा., उ.भा. श्रवण, शतभिषा	उर्ध्वमुख	राज्याभिषेक, पट्टबन्धादि उन्नत कर्म
10.	रेवती, अश्विनी, चित्रा,	तिर्यङ्मुख	हाथी, घोड़े, ऊँट, बैल, महिष आदि को शिक्षा देना बीजों की बुवाई, यातायातादि कर्म

नक्षत्र - वर्ण, नक्षत्र राशि एवं
नक्षत्र स्वामिज्ञापक सारणी नं. 2

क्र.स.	नक्षत्र नाम	नक्षत्र वर्ण	नक्षत्र राशि	नक्षत्र-स्वामी
1.	अश्विनी	चू चे चो ला	मेष	अश्विनीकुमार
2.	भरणी	ली लू ले लो	मेष	यम
3.	कृतिका	अ, इ उ ए	अ-मेष, इ उ ए-वृष	अग्नि
4.	रोहिणी	ओ वा वी	वृष	ब्रह्मा
5.	मृगशिरः	वे वो, का की	वे वो तक वृष, का की-मिथुन	चन्द्र
6.	आर्द्रा	कु घ ङ छ	मिथुन	रुद्र
7.	पुनर्वसु	के को ह, ही	के को ह- मिथुन, ही-कर्क	अदिति (देवमाता)
8.	पुष्य	हू हे हो डा	कर्क	गुरु
9.	आश्लेषा	डी डू डे डो	कर्क	सर्प
10.	मघा	मा मी मे मे	सिंह	पितर
11.	पूर्वा फाल्गुनी	मो रा टी टू	सिंह	भग (सूर्य विशेष)
12.	उत्तरा फाल्गुनी	टे टो पा पी	टे-सिंह, टो पा पी - कन्या	अर्यमा (सूर्य विशेष)
13.	हस्त	पू ष ण ठ	कन्या	सूर्य
14.	चित्रा	पे पो रा री	पे पो - कन्या, रा री -तुला	विश्वकर्मा

क्र.स.	नक्षत्र नाम	नक्षत्र वर्ण	नक्षत्र राशि	नक्षत्र-स्वामी
15.	स्वाति	रुरेरोता	तुला	वायु
16.	विशाखा	तीतूते, तो	तीतूते - तुला, तो - वृश्चिक	इंद्र, अग्नि
17.	अनुराधा	नानीनूने	वृश्चिक	मित्र (सूर्य विशेष)
18.	ज्येष्ठा	नीयायीयू	वृश्चिक	इन्द्र
19.	मूल	येयोभाभी	धन	राक्षस (निऋंती)
20.	पूर्वाषाढ़ा	भूधाफाढा	धन	उदक (जल)
21.	उत्तराषाढ़ा	भेभोजाजी	भे-धन, भोजाजी - मकर	विश्वेदेवा
22.	अभिजित	जूजेजोखा	मकर	ब्रह्मा
23.	श्रवण	खीखूखेखो	मकर	विष्णु
24.	धनिष्ठा	गगीगूगे	गगी - मकर, गूगे - कुंभ	वसु (वसु नामक 8 देव)
25.	शतभिषा	गोसासीसू	कुंभ	वरुण
26.	पूर्वाभाद्रपद	सेसोदा, दी	सेसोदा-कुंभ, दी-मीन	अजचरण (रुद्रभेद)
27.	उतराभाद्रपद	दूथझञ	मीन	अहिर्बुध्न्य (सूर्य विशेष)
28.	रेवती	देदोचची	मीन	पूषा (सूर्य विशेष)

दूसरे श्वेत मुहूर्त्त का आरंभ सूर्योदय के दो घटी - 48 मिनट के उपरांत होता है। यह भी दो घटी तक अपना प्रभाव दिखलाता है। इसका आदि भाग साधारण, शक्तिहीन, पर मांगलिक कार्यों के लिए शुभ, नृत्य गायन में प्रवीण - आमोद - प्रमोद को रुचिकर समझने वाला एवं आह्लादकारी होता है। मध्यभाग इस मुहूर्त का शक्तिशाली, कठोर कार्य करने में समर्थ, दृढ़ स्वभाववाला, श्रमशील, दृढ़ अध्यवसायी एवं प्रेमिल स्वभाव का होता है। इस भाग में किये गये सभी प्रकार के कार्य सफल होते हैं।

तीसरा मुहूर्त्त सूर्योदय के 1 घंटा 36 मिनट पश्चात् आरंभ होता है। यह भी दो घटी तक रहता है। यह मुहूर्त्त विशेष रूप से पश्चमी, अष्टमी और चतुर्दशी को अपना पूर्ण प्रभाव दिखलाता है। इसका स्वभाव मृदु, स्नेहशील, कर्त्तव्यपरायण और धर्मात्मा माना है। इसके भी तीन भाग हैं- आदि, मध्य और अंत। आदि भाग शुभ, सिद्धिदायक, मंगलकारक एवं कल्याणप्रद होता है। इसमें जिस कार्य का आरंभ किया जाता है, वह कार्य अवश्य सफल होता है। तल्लीनता और कार्य करने में रुचि विशेषतः जाग्रत होती है। विघ्न बाधाएँ उत्पन्न नहीं होती।

तीसरे मुहूर्त का मध्यभाग सबल, विचारक, अनुरागी और परिश्रम से भागने वाला होता है। इसका स्वभाव उदासीन माना है। यद्यपि इसमें आरंभ किये जाने वाले कार्यों में नाना प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न होती है, ऐसा प्रतीत होत है कि कार्य अधूरा ही रह जायेगा, फिर भी काम अंततोगत्वा पूरा हो ही जाता है। इस भाग का महत्व अध्ययन, अध्यापन एवं आराधना के लिए अधिक है। स्वाध्याय आरंभ करने के लिये यह भाग श्रेष्ठ माना गया है। जो व्यक्ति गणित के तीसरे मुहूर्त्त के मध्यभाग को निकाल कर उसी समय में विद्यारंभ करते हैं, वे विद्वान बन जाते हैं। यो तो इस समस्त मुहूर्त्त में सरस्वती का निवास रहता है, पर विशेष रूप से इस भाग में सरस्वती का निवास है। तीसरे मुहूर्त्त का अंतिम भाग व्यापार, अध्यवसाय, शिल्प आदि कार्यों के लिये प्रशस्त माना है। इस भाग का स्वभाव मिलनसार, लोकव्यवहारज्ञ और लोभी माना गया है इसी कारण व्यापार और बड़े-बड़े व्यवसायों के प्रारंभ करने के लिए इसे प्रशस्त बतलाया है। यह मुहूर्त्त स्थिर संज्ञक भी है, प्रतिष्ठा, गृहारम्भ, कूपारम्भ, जिनालयारम्भ, व्रतोपनयन आदि कार्य इस मुहूर्त्त में विधेय माने गये हैं।

चौथा सारभट नाम का मुहूर्त्त सूर्योदय के दो घण्टा 36 मिनट के पश्चात् प्रारंभ

होता है। इसका समय भी दो घटी अर्थात् 48 मिनट है। इस मुहूर्त की विशेषता यह है कि प्रारंभ में यह प्रमादी, उत्तरकाल में श्रमशील, विचारक और स्नेही होता है। इसके भी तीन भाग हैं- आदि, मध्य और अंत। आदिभाग शक्तिशाली, अध्यवसायी, कार्यकुशल और लोकप्रिय होता है। इस भाग में कार्य करने पर कार्य सफल होता है, किन्तु अध्यवसाय और परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है। पूजा-पाठ, धार्मिक अनुष्ठान एवं शांति पौष्टिक कार्यों के लिए यह ग्राह्य माना गया है। इसमें किये जाने पर उक्त कार्य प्रायः सफल होते हैं। यद्यपि कार्य के अंत होने पर विघ्न-बाधाएँ आती हुई दिखलाई पड़ती है, परंतु अध्यवसाय द्वारा कार्य सिद्ध होने में विलम्ब नहीं लगता है।

चौथे मुहूर्त का द्वितीय भाग भी आनंद संज्ञक है। इसके 5 पलों में अमृत रहता है। जो व्यक्ति इसके अमृत भाग में कार्य करता है या अपने आत्मिक उत्थान में आगे बढ़ता है, वह निश्चय ही सफलता प्राप्त करता है। इसका तीसरा भाग, जिसे अंत भाग कहा जाता है, साधारण है। इसमें कार्य करने पर कार्य में विशेष सफलता नहीं मिलती है। अधिक परिश्रम करने पर भी फल अल्प मिलता है। जो व्यक्ति इस भाग में माङ्गलिक कार्य आरंभ करते हैं, उनके वे कार्य प्रायः असफल ही रहते हैं।

पाँचवाँ दैत्य नाम का मुहूर्त्त है जो कि सूर्योदय के तीन घण्टा 12 मिनट पश्चात् प्रारंभ होता है। यह शक्तिशाली, प्रमादी, क्रूर स्वभाव वाला और निद्रालु होता है। इसके आदि भाग में कार्य आरंभ करने पर विलंब से होता है, मध्य भाग में कार्य में नाना प्रकार के विघ्न आते हैं। चंचलता आदि रहती है तथा उग्र प्रकृति के कारण झगड़े-झंझट तथा अनेक प्रकार से बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। अंत भाग अशुभ होते हुए भी शुभ फलदायक है। इसमें श्रमसाध्य कार्यों को प्रारंभ करना हितकारी माना गया है। जो व्यक्ति खर और तीक्ष्ण कार्यों को अथवा उपयोगों

कलाओं के कार्यों को आरंभ करता है, उसे इन कार्यों में बहुत सफलता मिलती है।

छठवाँ वैरोचन मुहूर्त सूर्योदय के चार घण्टे के उपरांत आरंभ होता है। इस मुहूर्त का स्वभाव अभिमानी, महत्वाकांक्षी और प्रगतिशील माना गया है। इसका आदिभाग सिद्धिदायक, मध्यभाग, हानिप्रद और अंत भाग सफलतादायक होता है। इस मुहूर्त में दान, अध्ययन, पूजा-पाठ के कार्य विशेष रूप से सफल होते हैं। जो व्यक्ति एकाग्रचित्त से इस मुहूर्त में भगवान का भजन, पूजन, स्मरण और गुणानुवाद करता है, वह अपने लौकिक और पारलौकिक सभी कार्यों में सफलता प्राप्त करता है। इस मुहूर्त्त

का उपयोग प्रधान रुप से धार्मिक कृत्यों में करना चाहिए।

सातवाँ मुहूर्त वैश्वदेव नाम का है, इसका प्रारंभ सूर्यादय के चार घण्टा 48 मिनट के उपरांत होता है। यह मुहूर्त विशेष शुभ माना जाता है, परंतु कार्य करने में सफलता सूचक नहीं हैं। इस मुहूर्त का आदिभाग निकृष्ट, मध्य भाग साधारण और अंत भाग श्रेष्ठ होता है।

आठवाँ अभिजित् नाम का मुहूर्त्त। यह सर्वसिद्धिदायक माना गया है। इसका प्रारंभ सूर्योदय के 5 घण्टा 36 मिनट के उपरांत माना जाता है। इसका आधा भाग अर्थात् एक घटी प्रमाण काल समस्त कार्यों में अभूतपूर्व सफलता देने वाला होता है। अभिजित् रविवार, सोमवार आदि को भिन्न-भिन्न समय में पड़ता है। इसका कार्य साफल्य के लिये विशेष उपयोग है। प्रायः अभिजित् ठीक दोपहर को आता है, यही सामायिक करने का समय है। आत्मचिन्तन करने के लिए अभिजित् मुहूर्त का विधान ज्योतिष-ग्रंथों में अधिक उपलब्ध होता है।

नौवाँ मुहूर्त रोहण नाम का है, इसका स्वभाव गंभीर, उदासीन और विचारक है। यह समस्त तिथि का शासक माना गया है। यद्यपि पाँचवाँ दैत्य मुहूर्त तिथि का अनुशासक होता है, परंतु कुछ आचार्यों ने इसी मुहूर्त को तिथि का प्रधान अंश माना है। इस मुहूर्त्त में कार्य करने पर कार्य सफल होता है। विघ्न-बाधाएँ भी नाना प्रकार की आती है, फिर भी किसी प्रकार से यह सफलता दिलाने वाला होता है। इसका आदिभाग मध्यम, मध्यभाग, श्रेष्ठ और अंतिम भाग निकृष्ट होता है।

दसवाँ बल नामक मुहूर्त है। यह प्रकृति से निर्बुद्धि तथा सहयोग से बुद्धिमान माना जाता है। इसका आदि भाग श्रेष्ठ, मध्यभाग साधारण और अंत भाग उत्तम होता है।

ग्यारहवाँ विजय नामक मुहूर्त है, यह समस्त कार्यों में अपने नाम के अनुसार विजयी होता है।

बारहवाँ नैर्ऋत् नाम का मुहूर्त्त हैं, जो सभी कार्यों के लिए साधारण होता है।

तेरहवाँ वरुण नाम का मुहूर्त्त है, जिसमें कार्य करने से धन व्यय तथा मानसिक परेशानी होती है।

चौदहवाँ अर्यमन् नामक मुहूर्त्त है, यह सिद्धिदायक होता है।

पन्द्रहवाँ भाग्य नामक मुहूर्त्त है, जिसका अर्ध-भाग शुभ और अर्धभाग अशुभ माना गया है।[1]

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि जम्बूद्वीप और गणिविद्या में कुछ बातों में समानता और कुछ बातों में असमानता है। एक ओर नन्दा, भद्रा, जया, तुच्छा एवं पूर्णा- ये तिथियों के पाँच नाम दोनों ही ग्रंथों में समान रूप से माने गये हैं, वहीं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में पन्द्रह दिवस-तिथियों एवं पन्द्रह रात्रि-तिथियों के स्वतन्त्र नाम भी दिये गये हैं, जिनका गणिविद्या में अभाव है। इन दोनों ग्रंथों के गणित-ज्योतिष संबंधी विवरणों को देखने पर ऐसा लगता है कि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में तिथि, दिवस, नक्षत्र, मास, मुहूर्त्त आदि के संदर्भ में जितना विस्तृत विवरण है उतना विस्तार गणिविद्या में नहीं है। इससे ऐसा परिलक्षित होता है कि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में विषय का विकास हुआहै।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगमों, निर्युक्ति आदि आगमिक व्याख्या ग्रंथों में जो ज्योतिष संबंधी विवरण आए हैं, वे सभी विवरण गणित ज्योतिष से संबंधित है, फलित-ज्योतिष से संबंधित नहीं है जबकि गणिविद्या विशुद्ध रूप से फलित-ज्योतिष का ग्रंथ है। यह संभव है कि गणिविद्या में जो तिथि, करण, नक्षत्र, मुहूर्त्त आदि के संक्षिप्त विवरण हैं उनका विवेचन मात्र फलितज्योतिष को ध्यान में रखकर किया गया हो।

जम्बूद्वीप एवं गणिविद्या-दोनों का उल्लेख नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में अंगबाह्य आगमों के रूप में होने से इतना अवश्य माना जा सकता है कि ये दोनों ही पाँचवीं शताब्दी के पूर्व के ग्रंथ है। किन्तु इनमें से कौन पूर्ववर्ती है यह मानना कठिन है। हमने पूर्व में फलित ज्योतिष के जैन परंपरा में प्रवेश को परवर्ती मानकर यह निर्णय किया है कि गणिविद्या को जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति से परवर्ती होना चाहिए, किन्तु जहाँ तक तिथि, नक्षत्र,ग्रह, दिवस आदि विवरणों का प्रश्न है, निश्चित ही जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति गणिविद्या

.....

1. व्रततिथिनिर्णय, पृ. 151-156।

की अपेक्षा अधिक विकसित एवं विस्तृत प्रतीत होता है। अतः विषय के विकास की दृष्टि से हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति गणिविद्या में परवर्ती हो। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की अपेक्षा गणिविद्या की प्राचीनता के पक्ष में एक प्रमाण यह भी जाता है कि गणिविद्या में मुहूर्त्तों के जो नाम दिये हैं वे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की अपेक्षा अथर्वज्योतिष के नामों से अधिक समानता रखते है। वैदिक परंपरा में तीस मुहूर्त्तों का संकेत ऋग्वेद एवं अथर्व वेद में पाया जाता है। तैतरिय ब्राह्मण में इन तीस मुहूर्त्तों के नाम भी दिये गये हैं किन्तु ये नाम गणिविद्या एवं अथर्वज्योतिष से भिन्न हैं।

बौद्ध परंपरा के दिव्यावदान में भी तीस मुहूर्तों के नामों का उल्लेख हुआ है परंतु ये नाम भी गणिविद्या से भिन्न हैं। गणिविद्या के मुहूर्त्तों के नामों की अथर्वज्योतिष, बृहदसंहिता की टीका एवं वायुपुराण से निकटता यह सूचित करती है कि गणिविद्या में ये नाम वैदिक परंपरा से ही ग्रहीत हुए हैं। गणिविद्या के मुहूर्त्तों में नामों की वैदिक परंपरा से निकटता और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति से आंशिक भिन्नता इस तथ्य की भी सूचक है कि गणिविद्या का रचनाकार जैन एवं वैदिक दोनों ही ज्योतिष परंपराओं का ज्ञाता रहा हैं। फिर भी फलित ज्योतिष के शुभाशुभ संबंधी जो विचार गणिविद्या में आए हैं, वे वैदिक परंपरा के निकट हैं। गणिविद्याकार ने जैन परंपरा की मात्रनिवृत्ति मूलक साधना की दृष्टि से ही इसका उपयोग किया है।

इस सबसे यह प्रमाणित होता है कि चाहे गणिविद्याकार ने लौकिक फलित-ज्योतिष से अवधारणों को ग्रहण किया हो, किन्तु उसने जैन परंपरा की निवृत्तिमार्गी मूलधारा को खण्डित किया हो, किन्तु उसने जैन परंपरा की निवृत्तिमार्गी मूलधारा को खण्डित नहीं होने दिया और अपने फलित-ज्योतिष को मात्र संयम-साधना के अवसरों तक ही सीमित रखा है, जबकि हम यह देखते हैं कि छठी, सातवीं शताब्दी के पश्चात् जैन परंपरा के फलित ज्योतिष संबंधी ग्रंथों में लौकिक कार्यों का भी विचार कर लिया गया है। 6-7वीं शताब्दी से जैन धर्माचार्यों में लौकिक कार्यों हेतु मुहूर्त्त आदि देखना तथा तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ प्रकट हो गयी थी, जिनका उल्लेख कुन्दकुन्द और हरिभद्र दोनों ने किया है।

इस तुलनात्मक विवेचन में हमने अपनी ज्ञान सीमाओं को ध्यान में रखते हुए ही चर्चा की है क्योंकि हम ज्योतिषशास्त्र के अधिकृत विद्वान् होने का दावा नहीं करते हैं। यद्यपि हमारी यह इच्छा अवश्य थी कि गणिविद्या में प्रतिपादित विषयवस्तु की

भारतीय फलित-ज्योतिष की परंपरा से विस्तृत तुलना की जाय, किन्तु ऐसा करने पर ग्रंथ के प्रकाशन में पर्याप्त विलंब होने की संभावना थी। हम आशा करते है कि फलित ज्योतिष में रुचि रखने वाले जैन या जैनेत्तर विद्वान् भविष्य में दोनों ही परंपराओं का विस्तृत तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत कर इस कमी को पूरा करेंगे। अतः हम इस तुलनात्मक विवेचन को यहीं पर विराम देते हैं।

वाराणसी — **सागरमल जैन**

19 मई 1994 — **सहयोग- सुभाष कोठारी**

गच्छाचार पइण्णयं - 6

गच्छाचार प्रकीर्णक-

गच्छाचार प्रकीर्णक प्राकृत भाषा में निबद्ध एक पद्यात्मक रचना है। 'गच्छाचार' शब्द 'गच्छ' और 'आचार' - इन दो शब्दों से मिलकर बना है। प्रस्तुत प्रकीर्णक के संबंध में विचार करने के लिए हमें 'गच्छ' शब्द के इतिहास पर भी कुछ विचार करना होगा। यद्यपि वर्तमान काल में जैन सम्प्रदायों के मुनि संघों का वर्गीकरण गच्छों के आधार पर होता है जैसे- खरतरगच्छ, तपागच्छ, पायचन्दगच्छ आदि। किन्तु गच्छों के रूप में वर्गीकरण की यह शैली अति प्राचीन नहीं है। प्रचीनकाल में हमें निर्ग्रन्थ संघों की विभिन्न गणों में विभाजित होने की सूचना मिलती है।

समवायांग सूत्र में महावीर के मुनि संघ में निम्न नौ गणों का उल्लेख मिलता है- (1) गोदासगण, (2) उत्तरबलिस्सहगण, (3) उद्देहगण, (4) वारणगण, (5) उद्दकाइयगण, (6) विस्सवाइयगण, (7) कामर्धिकगण, (8) मानवगण और (9) कोटिकगण[1]।

कल्पसूत्र स्थविरावली में इन गणों का मात्र उल्लेख ही नहीं है वरन् ये गण आगे चलकर शाखाओं एवं कुलो आदि में किस प्रकार विभक्त हुए, यह भी उल्लिखित है[2]। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य यशोभद्र के शिष्य आर्य भद्रबाहु के चार शिष्य हुए, उनमें से आर्य गोदास में गोदासगण निकला। उस गोदासगण की चार शाखाएँ हुई-

1) ताम्रलिप्तिका, (1) कोटिवर्षिका, (3) पौण्डवर्द्धनिका और (4) दासी खर्बटिका। आर्य यशोभद्र के दूसरे शिष्य सम्भूतिविजय के बारह शिष्य हुए, उनमें से आर्य स्थूलिभद्र के दो शिष्य हुए- (1) आर्य महागिरी और (2) आर्य सुहस्ति। आर्य महागिरि के स्थविर उत्तरबलिस्सह आदि आठ शिष्य हुए, इनमें स्थविर उत्तरबलिस्सह से उत्तरबलिस्सहगण निकला। इस उत्तरबलिस्सह गण की भी चार शाखाएँ हुई- (1) कोशाम्बिका, (2) सूक्तमुक्तिका, (3) कौटुम्बिका और (4) चन्द्रनागरी।

.....

1. समवायांगसूत्र - सम्पा. मुनि मधुकर, प्रका. श्री आगम प्रकाशन, समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण, ई. सन् 1981, सूत्र 9/29।
2. कल्पसूत्र, अनु. आर्या सज्जन श्री जी म., प्रका. श्री जैन साहित्य समिति, कलकत्ता; पत्र 334-345।

आर्य सुहस्ति के आर्य रोहण आदि बारह शिष्य हुए, उनमें काश्यप गोत्रीय आर्य रोहण से 'उद्देह' नामक गण हुआ। उस गण की भी चार शाखाएँ हुईं- (1) औदुम्बरिका, (2) मासपूरिका, (3) मतिपत्रिका और (4) पूर्णपत्रिका। उद्देहगण की उपरोक्त चार शाखाओं के अतिरिक्त छः कुल भी हुए (1) नागभूतिक, (2) सोमभूतिक, (3) आर्द्रगच्छ, (4) हस्तलीय, (5) नन्दीय और (6) पारिहासिक।

आर्य सुहस्ति के अन्य शिष्य स्थविर श्री गुप्त से चारणगण निकला। चारणगण की चार शाखाएँ हुई- (1) हरितमालाकारी, (2) शंकाशिया, (3) गवेधुका और (4) वज्रनागरी। चारणगण की चार शाखाओं के अतिरिक्त सात कुल भी हुए- (1) वस्त्रालय, (2) प्रीतिधार्मिक, (3) हालीय, (4) पुष्पमैत्रीय (5) मालीय, (6) आर्य चेटक और (7) कृष्णसह।

आर्य सुहस्ति के ही अन्य स्थविर भद्रयश से उडुवाटिकगण निकला, उसकी चार शाखाएँ हुई- (1) चम्पिका, (2) भद्रिका, (3) काकंदिका और (4) मेखलिका। उडुवाटिकगण की चार शाखाओं के अतिरिक्त तीन कुल हुए- (1) भद्रयशस्क, (2) भद्रगुप्तिक और (3) यशोभद्रिक।

आर्य सुहस्ति के अन्य शिष्य स्थविर कामर्द्धि से वेशवाटिकगण निकला, उसकी भी चार शाखाएँ हुई- (1) श्रावस्तिका, (2) राज्यपालिका, (3) अन्तरिंजिका और (4) क्षेमलिज्जिका। वेशवाटिकगण के कुल भी चार हुए- (1) गणिक, (2) मेधिक, (3) कामर्द्धिक और (4) इन्द्रपुरक।

आर्य सुहस्ति के ही एक अन्य शिष्य स्थविर तिष्यगुप्त से मानवगण निकला, उसकी चार शाखाएँ हुई- (1) काश्यपीयका, (2) गौतमीयका, (3) वशिष्टिका और सौराष्टिका। मानवगण के तीन कुल भी हुए- (1) ऋषिगुप्तिय, (2) ऋषिदत्तिक और (3) अभिजयंत। आर्य सुहस्ति के ही दो अन्य शिष्यों सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध से कोटिकगण निकला, उसकी भी चार शाखाएँ हुईं- (1) उच्चैनगिरी, (2) विद्याधरी, (3) वज्रीऔर (4) माध्यमिका। इस कोटिकगण के चार कुल थे- (1) ब्रह्मलीय, (2) वस्त्रलीय, (3) वाणिज्य तथा (4) प्रश्नवाहक।

स्थविर सुस्थित एवं सुप्रतिबुद्ध के पाँच शिष्य हुए, उनमें से स्थविर प्रियग्रन्थ से कोटिकगण की मध्यमाशाखा निकली। स्थविर विद्याधर गोपाल से विद्याधरी शाखा निकली। स्थविर आर्य शांति श्रेणिक से उच्चैनगिरी शाखा निकली। स्थविर आर्य

शान्तिश्रेणिक के चार शिष्य हुए- (1) स्थविर आर्य श्रेणिक, (2) स्थविर आर्य तापस, (3) स्थविर आर्य कुबेर और (4) स्थविर आर्य ऋषिपालित। इन चारों शिष्यों से क्रमशः चार शाखाएँ निकली- (1) आर्य श्रेणिका, (2) आर्य तापसी, (3) आर्य कुबेरी और (4) आर्य ऋषिपालिता।

स्थविर आर्य सिंहगिरि के चार शिष्य हुए- (1) स्थविर आर्य धनगिरि, (2) स्थविर आर्य वज्र (3) स्थविर आर्य सुमित और (4) स्थविर आर्य अर्हद्दत। स्थविर आर्य सुमितसूरि से ब्रह्मदीपिका तथा स्थविर आर्य वज्रस्वामी से बज्रीशाखा निकली। आर्य वज्र स्वामी के तीन शिष्य हुए- (1) स्थविर आर्य वज्रसेन, (2) स्थविर आर्य पद्य और (3) स्थविर आर्यरथ। इन तीनों से क्रमशः तीन शाखाएँ निकलीं- (1) आर्य नागिला, (2) आर्य पद्मा और (3) आर्य जयंती।

इस प्रकार कल्पसूत्र स्थविरावली में मुनि संघों के विविध गणों, कुलों और शाखाओं के उल्लेख तो उपलब्ध होते हैं, किन्तु उसमें कहीं भी 'गच्छ' शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है। अर्द्धमागधी आगम साहित्य के अंग-उपांग ग्रंथों में हमें कहीं भी 'गच्छ' शब्द का प्रयोग मुनियों के समूह के अर्थ में नहीं मिला है, अपितु उनमें सर्वत्र 'गच्छ' शब्द का प्रयोग 'गमन' अर्थ में ही हुआ है।

ईसा की पहली शताब्दी से लेकर पाँचवीं-छठी शताब्दी तक के मथुरा आदि स्थानों के जो अभिलेख उपलब्ध होते हैं उनमें भी कहीं भी 'गच्छ' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ सर्वत्र गण, कुल, शाखा और अन्वय के ही उल्लेख पाये जाते हैं। दिगम्बर एवं यापनीय परंपरा के भी जो प्राचीन अभिलेख एवं ग्रंथ पाये जाते हैं; उनमें भी गण, कुल, शाखा एवं अन्वय के उल्लेख ही मिलते हैं। गच्छ के उल्लेख तो 9वीं शताब्दी के बाद के ही मिलते हैं।[1] इस आधार पर हम निश्चित रुप से इतना तो कह ही सकते हैं कि 'गच्छ' शब्द का मुनियों के समूह अर्थ में प्रयोग छठीं शताब्दी के बाद ही कभी प्रारंभ हुआ है। अभिलेखीय साक्ष्य की दृष्टि से प्राचीनतम अभिलेख वि.सं. 1011 अर्थात् ईस्वी सन् 954 का उपलब्ध होता है जिसमें 'बृहद्गच्छ' का नामोल्लेख हुआ है।[2]

.....

1. (क) जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, लेख क्रमांक 143
   (ख) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, लेख क्रमांक 34, 38, 39, 133, 833
2. "संवत् 1011 वृहदगच्छीय श्री परमानन्दसूरि शिष्य श्री यक्षदेवसूरिभिः प्रतिष्ठित." - लोढ़ा दौलतसिंह : श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, लेख क्रमांक 331।

साहित्यिक साक्ष्य के रूप में 'गच्छ' शब्द का इस अर्थ में उल्लेख हमें सर्वप्रथम ओघनिर्युक्ति (लगभग 6ठीं - 7वीं शताब्दी) में मिलता है जहाँ कहा गया है कि 'जिस प्रकार समुद्र में स्थित समुद्र की लहरों के थपेड़ों को सहन नहीं करने वाली सुखाभिलाषी मछली किनारे चली जाती है और मृत्यु प्राप्त करती है उसी प्रकार गच्छ रूपी समुद्र में स्थित सुखाभिलाषी साधक भी गुरुजनों की प्रेरणा आदि को त्याग कर गच्छ से बाहर चला जाता है तो वह अवश्य ही विनाश को प्राप्त होता है'।[1] यद्यपि ओघनिर्युक्ति का उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति में उल्लिखित दस निर्युक्तियों में नहीं है क्योंकि सामान्यतः यह माना जाता है कि ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति का ही एक विभाग है, किन्तु वर्तमान में उपलब्ध ओघनिर्युक्ति की सभी गाथायें आवश्यक निर्युक्ति में रही हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता। हमारी दृष्टि में ओघनिर्युक्ति की अधिकांश गाथायें आवश्यक मूल भाष्य और विशेषावश्यक भाष्य के रचनाकाल के मध्य कभी निर्मित हुई हैं।

ओघनिर्युक्ति के पश्चात् 'गच्छ' का उल्लेख हमें सर्वप्रथम हरिभद्र के पंचवस्तु (8वीं शताब्दी) में मिलता है, जहाँ न केवल 'गच्छ' शब्द का प्रयोग मुनियों के समूह विशेष के लिए हुआ है, अपितु उसमें 'गच्छ' किसे कहते हैं ? यह भी स्पष्ट किया गया है। हरिभद्रसूरि के अनुसार एक गुरु के शिष्यों का समूह गच्छ कहलाता है।[2] वैसे शाब्दिक दृष्टि से 'गच्छ' शब्द का अर्थ एक साथ विहार आदि करने वाले मुनियों के समूह से किया जाता है और यह भी निश्चित है कि इस अर्थ में 'गच्छ' शब्द का प्रचलन 7वीं शताब्दी के बाद ही कभी प्रारंभ हुआ होगा, क्योंकि इससे पूर्व का ऐसा कोई भी अभिलेखीय अथवा साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता।

.....

1. जह सागरंमि मीणा संखोहं सागरस्स असहंता।
   निति तओ सुहकामी निग्गयमित्ता विनस्संति॥
   एवं गच्छसमुद्दे सारणवीईहिं चोइया संता।
   निंति तओ सुहकामी मीणा व जहा विणस्संति॥
   - ओघनिर्युक्ति, गाथा 116-117

2. गुरुपरिवारो गच्छो तत्थ वसंताण निज्जरा विउला।
   विणयाओ तह सारणमाईहिं न दोसपडिवत्ती॥
   - पंचवस्तु (हरिभद्रसूरि), प्रका. श्री देवेन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, गाथा 696।

जिसमें 'गच्छ' शब्द का प्रयोग मुनियों के समूह के लिए हुआ हो। प्राचीनकाल में तो मुनि संघ के वर्गीकरण के लिए गण, शाख, कुल और अन्वय के ही उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्र स्थविरावली के अंतिम भाग में वीर निर्माण के लगभग 600 वर्ष पश्चात् निवृत्तिकुल, चन्द्रकुल, विद्याधर कुल और नागेन्द्रकुल- इन चार कुलों के उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। इन्हीं चार कुलों से निवृत्ति गच्छ, चन्द्र, गच्छ आदि गच्छ निकले। इस प्रकार प्राचीन काल में जिन्हें 'कुल' कहा जाता था वे ही आगे चलकर 'गच्छ' नाम से अभिहित किये जाने लगे। जहाँ प्राचीन समय में 'गच्छ' शब्द एक साथ विहार (गमन) करने वाले मुनियों के समूह का सूचक था वहाँ आगे चलकर वह एक गुरु की शिष्य परंपरा का सूचक बन गया। इस प्रकार शनैः शनैः 'गच्छ' शब्द ने 'कुल' का स्थान ग्रहण कर लिया। यद्यपि 8वीं -9वीं शताब्दी तक 'गण', 'शाखा' और 'कुल' शब्दों के प्रयोग प्रचलन में रहे, किन्तु धीरे-धीरे 'गच्छ' शब्द का अर्थ व्यापक हो गया और 'गण', 'शाखा' तथा 'कुल' शब्द गौण हो गये। आज भी चाहे श्वेताम्बर परंपरा के प्रतिष्ठा लेखों में 'गण', 'शाखा' और 'कुल' शब्दों का उल्लेख होता हो, किन्तु व्यवहार में तो 'गच्छ' शब्द का ही प्रचलन है।

'गच्छ' शब्द का मुनि समूह के अर्थ में प्रयोग यद्यपि 6ठीं - 7वीं शताब्दी से मिलने लगता है। किन्तु स्पष्ट रूप से गच्छों का आविर्भाव 10वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 11वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध से ही माना जा सकता है। बृहदगच्छ, संडेरगच्छ, खरतरगच्छ आदि गच्छों का प्रादुर्भाव 10वीं-11वीं शताब्दी के लगभग ही हुआ है।

प्रस्तुत ग्रंथ में हमें मुख्य रूप से अच्छे गच्छ में निवास करने से क्या लाभ और क्या हानियाँ हैं, इसकी चर्चा के साथ-साथ अच्छे गच्छ और बुरे गच्छ के आचार की पहचान भी कराई गई है। इसमें यह बताया गया है जो गच्छ अपने साधु-साध्वियों के आचार एवं क्रिया-कलापों पर नियंत्रण रखता है, वही गच्छ सुगच्छ है और ऐसा गच्छ ही साधक के निवास करने योग्य है। प्रस्तुत ग्रंथ में इस बात पर भी विस्तार से चर्चा हुई कि अच्छे गच्छ के साधु-साध्वियों का आचार कैसा होता है ? इस चर्चा के संदर्भ में प्रस्तुत ग्रंथ में शिथिलाचारी और स्वच्छन्द आचार्य की पर्याप्त रुप से समालोचना भी की गई है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि जैन परंपरा में भगवान महावीर ने एक कठोर आचार परंपरा की व्यवस्था दी थी किन्तु कालक्रम में इस कठोर आचार व्यवस्था में शिथिलाचार और सुविधावादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ किन्तु

समय-समय पर जैन आचार्यों ने इस स्वच्छन्द और सुविधावादी आचार व्यवस्था का विरोध करके आगमोक्त प्राचीन आचार व्यवस्था को पुर्नस्थापित करने का प्रयत्न किया। गच्छाचार भी एक ऐसा ही ग्रंथ है जो सुविधावादी और स्वच्छन्द आचार व्यवस्था के स्थान पर आगमोक्त आचार व्यवस्था का निरुपण करता है।

गच्छावार प्रकीर्णक के सम्पादन में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियाँ :

हमने प्रस्तुत संस्करण का मूलपाठ मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित एवं श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित 'पइण्णयसुत्ताइं' ग्रंथ से लिया है। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने इस ग्रंथ के पाठ निर्धारण में निम्नलिखित प्रतियों का उपयोग किया है-

1. सा. : आचार्य श्री सागरानन्दसूरीश्वरजी द्वारा संपादित एवं वर्ष 1927 में आगमोदय समिति, सूरत द्वारा प्रकाशित प्रति।
2. जे. : आचार्यश्री जिनभद्रसूरि जैन ज्ञान भण्डार की ताड़पत्रीय प्रति।
3. सं. : संघवीपाडा जैन ज्ञान भंडार की उपलब्ध ताडपत्रीय प्रति।
4. पु. : मुनि श्री पुण्यविजयजी महाराज की हस्तलिखित प्रति।
5. वृ. : श्री विजयविमलगणि कृत गच्छाचार प्रकीर्णकवृत्ति, श्री भद्राणविजयगणि द्वारा संपादित एवं वर्ष 1979 में दयाविमल ग्रंथमाला, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित प्रति।

इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से पइण्णयसुत्ताइं ग्रंथ की प्रस्तावना के पृष्ठ 23-27 देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

गच्छाचार प्रकीर्णक के प्रकाशित संस्करण :

अर्द्धमागधी आगम साहित्य के अंतर्गत अनेक प्राचीन एवं अध्यात्मप्रधान प्रकीर्णकों का निर्देश प्राप्त होता है, किन्तु व्यवहार में इन प्रकीर्णकों के प्रचलन में नहीं

रहने के कारण अधिकांश प्रकीर्णक जनसाधारण को अनुपलब्ध ही रहे हैं और कुछ प्रकीर्णकों को छोड़कर अन्य का प्रकाशन भी नहीं हुआ है। प्रकीर्णक ग्रंथों की विषयवस्तु विशेष महत्वपूर्ण है अतः विगत कुछ वर्षों से प्राकृत भाषा में निबद्ध इन ग्रंथों का संस्कृत, गुजराती, हिन्दी आदि विविध भाषाओं में अनुवाद सहित प्रकाशन हुआ है। गच्छाचार प्रकीर्णक के उपलब्ध प्रकाशित संस्करणों का विवरण इस प्रकार है-

(1) गच्छाचार पइण्णयं - आगमोदय समिति, बड़ौदा से "प्रकीर्णकदशकम्" नामक प्रकाशित इस संस्करण में गच्छाचार सहित दस प्रकीर्णकों की प्राकृत भाषा में मूल गाथाएं एवं उनकी संस्कृत छाया दी गई है। यह संस्करण वर्ष 1928 में प्रकाशित हुआ है।

(2) श्री गच्छाचार पयन्ना - श्री गच्छाचार पयन्ना नाम से मुनिश्री विजय राजेन्द्रसूरिजी द्वारा अनुवादित दो संस्करण प्रकाशित हुए है। प्रथम संस्करण श्री अमीरचन्दजी ताराजी दाणी, धानसा

(राज.) से वर्ष 1945 में प्रकाशित हुआ है इसका वर्ष 1991 में पुनः प्रकाशन हुआ है। धानसा से प्रकाशित इस संस्करण में प्राकृत गाथाओं का गुजराती भाषा में अनुवाद भी दिया गया है।

मुनिश्री विजय राजेन्द्रसूरिजी द्वारा अनुवादित द्वितीय संस्करण श्री भूपेन्द्रसूरि जैन साहित्य समिति, आहोर (मारवाड़) से वर्ष 1946 में प्रकाशित हुआ है। उक्त संस्करण में प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया एवं गुजराती अनुवाद दिया गया है।

(3) गच्छाचार प्रकीर्णकम्- गच्छाचार प्रकीर्णक का यह संस्करण प्राकृत गाथाओं एवं संस्कृत वृत्ति सहित दयाविमल ग्रंथमाला, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है।

(4) गच्छाचार प्रकीर्णकम् - आत्मारामजी म.सा. के शिष्य खजानचंदजी म.सा. के प्रशिष्य मुनि श्री त्रिलोकचंदजी द्वारा लिखित यह संस्करण रामजीदास किशोरचंद जैन, मनासा मण्डी से प्रकाशित हुआ है। ग्रंथ में प्रकाशन का समय नहीं दिया गया है इसलिए यह बताना संभव नहीं है कि यह संस्करण कब प्रकाशित हुआ है। उक्त संस्कृत में प्राकृत भाषा में मूल गाथाएँ उसकी परिष्कृत संस्कृत छाया एवं साथ-साथ हिन्दी भाषा में भावार्थ भी दिया गया है।

(5) गच्छाचार प्रकीर्णकम् - मुनि श्री विजयविमलगणि द्वारा लिखित यह संस्करण वर्ष 1975 में श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, शांतिपुरी (सौराष्ट्र) से प्रकाशित हुआ है। यह संस्करण भी संस्कृत छाया के साथ प्रकाशित हुआ है।

(6) श्रीमद् गच्छाचार प्रकीर्णकम् - आचार्य आनंद विमल द्वारा लिखित यह संस्करण आगमोदय समति, बड़ौदा से वर्ष 1923 में प्रकाशित हुआ है। उक्त संस्करण में प्राकृत गाथाओं के साथ वानर्षि कृत संस्कृत वृत्ति भी दी गई है।

गच्छाचार के कर्ता

प्रकीर्णक ग्रंथों के रचयिताओं के संदर्भ में मात्र देवेन्द्रस्तव को छोड़कर अन्य किसी प्रकीर्णक के रचयिता का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान और भक्तिपरिज्ञा आदि कुछ प्रकीर्णकों के रचयिता के रूप में वीरभद्र का नामोल्लेख उपलब्ध होता है[1] और जैन परंपरा में वीरभद्र को महावीर के साक्षात् शिष्य के रूप में उल्लिखित किया जाता है, किन्तु प्रकीर्णक ग्रंथों की विषयवस्तु का अध्ययन करने से यह फलित होता है कि वे भगवान् महावीर के समकालीन नहीं है। एक अन्य वीरभद्र का उल्लेख वि.सं. वि.सं. 1008 का मिलता है[2]। संभवतः गच्छाचार की रचना इन्हीं वीरभद्र के द्वारा हुई हो। प्रस्तुत प्रकीर्णक में आरंभ से अंत तक किसी भी गाथा में ग्रंथकर्ता ने अपना नामोल्लेख नहीं किया है। ग्रंथ में ग्रंथकर्ता के नामोल्लेख के अभाव का वास्तविक कारण क्या रहा है ? इस संदर्भ में निश्चय पूर्वक भले ही कुछ नहीं कहा जा सकता हो, किन्तु एक तो ग्रंथकार ने इस ग्रंथ के प्रारंभ में ही यह कहकर कि श्रुत समुद्र में से इस गच्छाचार को समुद्धत किया गया है, अपने को इस संकलित ग्रंथ के कर्ता के रूप में उल्लिखित करना उचित नहीं माना हो, दूसरे ग्रंथ की गाथा 135 में भी ग्रंथकार ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि महानिशीथ, कल्प और व्यवहार सूत्र से इस ग्रंथ की रचना की गई है। हमारी दृष्टि से इस अज्ञात ग्रंथकर्ता के मन में यह भावना अवश्य रही होगी कि प्रस्तुत ग्रंथ की विषयवस्तु तो मुनि, पूर्व आचार्यों अथवा उनके ग्रंथों से प्राप्त हुई है, इस स्थिति में मैं इस ग्रंथ का कर्ता कैसे हो सकता हूँ ? वस्तुतः प्राचीन स्तर के आगम ग्रंथों के समान ही इस ग्रंथ के कर्ता ने भी अपना नामोल्लेख नहीं किया है। इससे जहाँ एक ओर उसकी

.....

1. **The Canonical Literature of the Jainas, pp. 51-52**
2. **Ibid.. p. 52**

विनम्रता प्रकट होती है वहीं दूसरी ओर यह भी सिद्ध होता है कि यह एक प्राचीन स्तर का ग्रंथ है। ग्रंथकर्ता के रूप में हमने पूर्व में जिन वीरभद्र का उल्लेख किया है वह संभावना मात्र है। इस संदर्भ में निश्चयपूर्वक कुछ कहना दुराग्रह होगा।

गच्छाचार का रचनाकाल-

नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में आगमों का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें गच्छाचार प्रकीर्णक का कोई उल्लेख नहीं है। तत्त्वार्थभाष्य और दिगम्बर परंपरा की सर्वार्थसिद्धि टीका में भी गच्छाचार प्रकीर्णक का कहीं कोई उल्लेख नहीं हुआ है। इसी प्रकार यापनीय परंपरा के ग्रंथों में भी कहीं भी गच्छाचार प्रकीर्णक का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इससे यही फलित होता है कि 6ठीं शताब्दी से पूर्व इस ग्रंथ का कोई अस्तित्व नहीं था। गच्छाचार प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख विधिमार्गप्रपा में मिलता है जहाँ चौदह प्रकीर्णकों में गच्छाचार को अंतिम प्रकीर्णक गिना गया है[1]। इसका तात्पर्य यह है कि गच्छाचार प्रकीर्णक नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्र से परवर्ती अर्थात् 6ठीं शताब्दी के पश्चात् तथा विधि मार्गप्रपा अर्थात् 14वीं शताब्दी से पूर्व अस्तित्व में आ चुका था। गच्छाचार प्रकीर्णक के रचयिता ने जिस प्रकार ग्रंथ में ग्रंथकर्ता के रूप में कहीं भी अपना नामोल्लेख नहीं किया है उसी प्रकार इस ग्रंथ के रचनाकाल के संदर्भ में भी उसने ग्रंथ में कोई संकेत नहीं दिया है। किन्तु ग्रंथ की 135वीं गथा में ग्रन्थकार का यह कहना कि इस ग्रंथ की रचना महानिशीथ, कल्प और व्यवहार सूत्र के आधार पर की गई है[2] इस अनुमान को बल देता है कि गच्छाचार की रचना महानिशीथ के पश्चात् ही कभी हुई है।

महानिशीथ का उल्लेख नन्दीसूत्र की सूची में मिलता है[3]। इससे यह फलित होता है कि महानिशीथ 6ठी शताब्दी पूर्व का ग्रंथ है किन्तु महानिशीथ की उपलब्ध प्रतियों में यह भी स्पष्ट उल्लिखित है कि महानिशीथ की प्रति के दीमकों द्वारा भक्षित हो जाने पर उसका उद्धार आचार्य हरिभद्रसूरि ने 8वीं शताब्दी में किया था[4]।

.....

1. विधिमार्गप्रपा, पृष्ठ 57-58।
2. "महानिसीह - कप्पाओ ववहाराओ तहेव य।
   साहु-साहुणिअट्ठाए गच्छाचारं समुद्धियं॥"
   - गच्छाचार प्रकीर्णक, गाथा 135
3. नन्दीसूत्र - सम्पा. मुनि मधुकर, सूत्र 76, 79-81
4. उद्धृत - जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 291-292

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महानिशीथ ग्रंथ भले ही 6ठीं शताब्दी से पूर्व अस्तित्व में रहा हो, किन्तु उसके वर्तमान स्वरूप का निर्धारण तो आचार्य हरिभद्र की ही देन है। इससे यह प्रति-फलित होता है कि गच्छाचार के प्रणेता के समक्ष महानिशीथसूत्र अपने वर्तमान स्वरूप में उपलब्ध था। इस आधार पर गच्छाचार की रचना 8वीं शताब्दी के पश्चात् तथा 13वीं शताब्दी से पूर्व ही कभी हुई है ऐसा मानना चाहिए। हरिभद्रसूरि द्वारा आगम ग्रंथों के उल्लेख में कहीं भी गच्छाचार का उल्लेख नहीं किये जाने से भी यही फलित होता है कि गच्छाचार की रचना हरिभद्रसूरि (8वीं शताब्दी) के पश्चात् ही कभी हुई है।

हम पूर्व में ही यह उल्लेख कर चुके हैं कि गच्छाचार में 'गच्छ' शब्द का मुनि संघ हेतु जो प्रयोग हुआ है, वह प्रयोग भी 8वीं शताब्दी के बाद ही अस्तित्व में आया है। लगभग 8वीं शताब्दी से चन्द्रकुल, विद्याधर कुल, नागेन्द्र कुल और निवृत्तिकुल से चन्द्र गच्छ, विद्याधर गच्छ आदि 'गच्छ' नाम से अभिहित होने लगे थे। इतना तो निश्चित है कि गच्छों के अस्तित्व में आने के बाद ही गच्छाचार प्रकीर्णक की रचना हुई होगी। अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों से मुनिसंघ के रूप में 'गच्छ' शब्द का प्रयोग 8वीं शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता। अतः गच्छाचार - प्रकीर्णक किसी भी स्थिति में 8वीं शताब्दी के पूर्व की रचना नहीं है। पुनः गच्छाचार प्रकीर्णक में स्वच्छन्द और सुविधावादी गच्छों की स्पष्ट रूप से समालोचना की गई है। यह सुनिश्चित है कि निर्ग्रन्थ संघ में स्वच्छन्द और सुविधावादी प्रवृत्तियों का विकास चैत्यवास के प्रारंभ के साथ लगभग चौथी शताब्दी में हुआ जिसका विरोध सर्वप्रथम 6ठीं शताब्दी में दिगम्बर परंपरा में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथ सूत्रपाहुड, बोधपाहुड एवं लिंगपाहुड आदि में किया।[1] श्वेताम्बर परंपरा में शिथिलाचारी और स्वच्छन्दाचारी प्रवृत्तियों का विरोध लगभग 8वीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रंथ संबोधप्रकरण में किया है।[2] संबोधप्रकरण और गच्छाचार प्रकीर्णक में अनेक गाथाएँ समान रूप से पाई जाती हैं इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन दोनों ग्रन्थों का रचनाकाल समसामयिक होना चाहिए।

.....

1. विस्तार हेतु द्रष्टव्य है - (क) सूत्रहाहुड, गाथा 9-15।
   (ख) बोधपाहुड, गाथा 17-20, 45-60।
   (ग) लिंगपाहुड, गाथा 1-20।
2. संबोधप्रकरण, कुगुरु अध्याय, गाथा 40-50।

यद्यपि इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि संबोधप्रकरण और गच्छाचार में समान रूप से उपलब्ध गाथाएँ गच्छाचार में संबोधप्रकरण से ली गई है। यदि हम यह मानते हैं तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि गच्छाचार संबोध प्रकरण से परवर्ती है। श्वेताम्बर परंपरा में हरिभद्रसूरि के पश्चात् स्वच्छन्द और शिथिलाचारी प्रवृत्तियों का विरोध खरतरगच्छ के संस्थापक आचार्य जिनेश्वरसूरि के द्वारा भी किया गया, उनका काल लगभग 10वीं शताब्दी का है। अतः यह भी संभव है कि गच्छाचार की रचना 10वीं शताब्दी के उ त्तरार्द्ध अथवा 11वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कभी हुई हो। पुनः यदि हम गच्छाचार के रचयिता आचार्य वीरभद्र को मानते हैं तो उनका काल ईस्वी सन् की 10वीं शताब्दी निश्चित होता है। ऐसी स्थिति में गच्छाचार का रचनाकाल भी ईस्वी सन् की 10वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध होना चाहिये, किन्तु वीरभद्र गच्छाचार के रचयिता हैं, यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है। अतः गच्छाचार का रचनाकाल 9वीं शताब्दी से 10वीं शताब्दी के मध्य ही कभी माना जा सकता है।

विषयवस्तु -

गच्छाचार प्रकीर्णक में कुल 137 गाथायें हैं। ये सभी गाथायें गच्छ, आचार्य एवं साधु-साध्वियों के आचार पर विवेचन प्रस्तुत करती हैं। इस ग्रंथ में निम्नलिखित विवरण उपलब्ध होता है-

सर्वप्रथम लेखक मंगलाचरण के रूप में त्रिदशेन्द्र (देवपति) भी जिसे नमन करते हों, ऐसे महाभाग महावीर को नमस्कार करके गच्छाचार का वर्णन करना आरंभ करता है (1)

ग्रंथ में सन्मार्गगामी गच्छ में रहने को ही श्रेष्ठ मानते हुए कहा गया है कि उन्मार्गगामी गच्छ में रहने के कारण कई जीव संसारचक्र में घूम रहे हैं (2)।

सन्मार्गगामी गच्छ में रहने का लाभ यह है कि यदि किसी को आलस्य अथवा अहंकार आ जाए, उसका उत्साह भंग हो जाए अथवा मन खिन्न हो जाए तो भी वह गच्छ के अन्य साधुओं को देखकर तप आदि क्रियाओं में घोर पुरुषार्थ करने में लग जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप उसकी आत्मा में वीरत्व का संचार हो जाता है (3-6)

आचार्य स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि आचार्य गच्छ का आधार है, वह सभी को हित-अहित का ज्ञान कराने वाला होता है तथा सभी को संसारचक्र से मुक्त कराने वाला होता है इसलिए आचार्य की सर्वप्रथम परीक्षा करनी चाहिए (7-8)।

ग्रंथ में स्वच्छंदाचारी दुष्ट स्वभाव वाले, जीव हिंसा में प्रवृत्त रहने वाले, शय्या

आदि में आसक्त रहने वाले, अप्काय की हिंसा करने वाले, मूल-उत्तर गुणों से भ्रष्ट, समाचारी का उल्लंघन करने वाले, विकथा कहने वाले तथा आलोचना आदि नहीं करने वाले आचार्य को उन्मार्गगामी कहा गया है और जो आचार्य अपने दोषों को अन्य आचार्यों को बताकर उनके निर्देशानुसार आलोचनादि करके अपनी शुद्धि करते हैं उन्हें सन्मार्गगामी आचार्य कहा गया है (9-13)।

ग्रंथ में कहा गया है कि आचार्य को चाहिए कि वह आगमों का चिन्तन, मनन करते हुए देश, काल और परिस्थिति को जानकर साधुओं के लिए वस्त्र, पात्र आदि संयमोपकरण ग्रहण करे। जो आचार्य वस्त्र, पात्र आदि को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते, उन्हें शत्रु कहा गया है (14-15)। ग्रंथ में यह भी कहा गया है कि जो आचार्य साधु-साध्वियों को दीक्षा तो दे देते हैं किन्तु उनमें समाचारी का पालन नहीं करवाते, नवदीक्षिता साधु-साध्वियों को लाड़-प्यार से रखते हैं किन्तु उन्हें सन्मार्ग पर स्थित नहीं करते, वे आचार्य शत्रु हैं। इसी प्रकार मीठे-मीठे वचन बोलकर भी जो आचार्य शिष्यों को हित शिक्षा नहीं देते हों, वे शिष्यों के हित-साधक नहीं हैं। इसके विपरीत दण्डे से पीटते हुए भी जो आचार्य शिष्यों के हित-साधक हों, उन्हें कल्याणकर्ता माना गया है (16-17)।

शिष्य का गुरु के प्रति दायित्व निरुपण करते हुए, कहा गया है कि यदि गुरु किसी समय प्रमाद के वशीभूत हो जाए और समाचारों का विधिपूर्वक पालन नहीं करे तो जो शिष्य ऐसे समय में अपने गुरु को सचेत नहीं करता, वह शिष्य भी अपने गुरु का शत्रु है (18)।

जिनवाणी का सार ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना में बतलाया गया है तथा चारित्र की रक्षा के लिए भोजन, उपधि तथा शय्या आदि के उद् गम, उत्पादन और एवणा आदि दोषों को शुद्ध करने वाले को चरित्रवान आचार्य कहा गया है, [1], किन्तु जो सुखाकांक्षी हो, विहार में शिथिलता वर्तता हो तथा कुल, ग्राम, नगर और राज्य आदि का त्याग करके भी उनके प्रति ममत्व भाव रखता हो, संयम बल से रहित उस अज्ञानी को मुनि नहीं अपितु केवल वेशधारी कहा गया है। (20-24)।

ग्रंथ में शास्त्रोक्त मर्यादापूर्वक प्रेरणा देने वाले, जिन उपदिष्ट अनुष्ठान को यथार्थ रूप से बतलाने वाले तथा जिनमत को सम्यक् प्रकार से प्रसारित करने वाले आचार्यों को तीर्थंङ्कर के समान आदरणीय माना गया है तथा जिन वचन का उल्लंघन करने वाले आचार्यों को कायर पुरुष कहा गया है। (25-27)।

ग्रंथ के अनुसार तीन प्रकार के आचार्य जिन मार्ग को दूषित करते हैं -

(1) वे आचार्य जो स्वयं भ्रष्ट हों।

(2) वे आचार्य जो स्वयं भले ही भ्रष्ट नहीं हों किन्तु दूसरों के भ्रष्ट आचरण की उपेक्षा करने वाले हों तथा

(3) वे आचार्य जो जिन भगवान की आज्ञा के विपरीत आचरण करने वाले हों।

ग्रंथ में उन्मार्गगामी और सन्मार्गगामी आचार्य का विवेचन करते हुए कहा गया है कि सन्मार्ग का नाश करने वाले तथा उन्मार्ग पर प्रस्थित आचार्य का संसार परिभ्रमण अनंत होता है। ऐसे आचार्यों की सेवा करने वाला शिष्य अपनी आत्मा को संसार समुद्र में गिराता है। (29-31)।

किन्तु जो साधक आत्मा सन्मार्ग में आरुढ़ है उनके प्रति वात्सल्य भाव रखना चाहिए तथा औषध आदि से उनकी सेवा स्वयं तो करनी ही चाहिए और दूसरों से भी करवानी चाहिए (35)।

प्रस्तुत ग्रंथ में लोकहित करने वाले महापुरुषों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि ऐसे कई महापुरुष भूतकाल में हुए है, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे जो अपना संपूर्ण जीवन अपने एकमात्र लक्ष्य लोकहित हेतु व्यतीत करते हैं, ऐसे महापुरुषों के चरणयुगल में तीनों लोकों के प्राणी नतमस्तक होते हैं (36)

आगे की गाथा में यह भी विवेचन है कि ऐसे महापुरुषों के व्यक्तित्व का स्मरण करने मात्र से पाप कर्मों का प्रायश्चित हो जाता है (37)।

ग्रन्थ में शिष्य के लिए गुरु का भय सदैव अपेक्षित मानते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार संसार में नौकर एवं अश्व आदि वाहन अपने स्वामी की सम्यक् देखभाल या नियंत्रण के अभाव में स्वच्छंद हो जाते हैं उसी प्रकार प्रतिप्रश्न, प्रायश्चित तथा प्रेरणा आदि के अभाव में शिष्य भी स्वच्छंद हो जाते हैं इसलिए शिष्य को सदैव गुरु का भय रहना चाहिए (38)।

ग्रन्थ में साधुओं के प्रत्येक गच्छ को गच्छ नहीं माना गया है वरन् शास्त्रों का सम्यक् अर्थ रखने वाले, संसार से मुक्त होने की इच्छा वाले, आलस्य रहित, व्रतों का दृढ़तापूर्वक पालन करने वाले, सदैव अस्खलित चारित्र वाले और राग-द्वेष से रहित रहने वाले साधुओं के गच्छ को ही वास्तव में गच्छ माना गया है (39)।

साधु स्वरूप का निरुपण करते हुए ग्रन्थ में कहा गया है कि गीतार्थ के वचन भले ही हलाहल विष के समान होते हों तो भी उन्हें बिना संकोच के स्वीकार करना चाहिए क्योंकि

वे वचन विष नहीं, अपितु अमृत तुल्य होते हैं। ऐसे वचनों में एक तो किसी का मरण होता नहीं है और कदाचित् कोई उनसे मर भी जाय तो वह मरकर भी अमर हो जाता है। इसके विपरीत अगीतार्थ के वचन भले ही अमृत तुल्य प्रतीत होते हों तो भी उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिए। वस्तुतः वे वचन अमृत नहीं, हलाहल विष की तरह हैं जिससे जीव तत्काल मृत्यु को प्राप्त होता है और वह कभी भी जन्म-मरण से रहित नहीं हो पाता। (44-47) अतः अगीतार्थ और दुराचारी की संगति का त्रिविध रूप से परित्याग करना चाहिए तथा उन्हें मोक्ष मार्ग में चोर एवं लुटेरों की तरह बाधक समझना चाहिए (48-49)।

ग्रंथ के अनुसार, सुविनीत शिष्य गुरुजनों की आज्ञा का विनयपूर्वक पालन करता है, और धैर्यपूर्वक परिषहों को जीतता है। वह अभिमान, लोभ, गर्व और विवाद आदि नहीं करता है; वह क्षमाशील होता है, इन्द्रियजयी होता है। स्व पर का रक्षक होता है, वैराग्यमार्ग में लीन रहता है तथा दस प्रकार की समाचारी का पालन करता है और आवश्यक क्रियाओं में संयमपूर्वक लगा रहता है। (52-53)

विशुद्ध गच्छ की प्ररुपणा करते हुए ग्रन्थ में कहा गया है कि गुरु अत्यंत कठोर, कर्कश, अप्रिय, निष्ठुर तथा क्रूर वचनों के द्वारा उपालम्भ देकर भी यदि शिष्य को गच्छ से बाहर निकाल दे तो भी जो शिष्य द्वेष नहीं करते, निन्दा नहीं करते, अपयश नहीं फैलाते, निन्दित कर्म नहीं करते, जिनदेव-प्रणीत सिद्धांत की आलोचना नहीं करते अपितु गुरु के कठोर, क्रूर आदि वचनों के द्वारा जो भी कार्य-अकार्य कहा जाता है उसे "तहत्ति" ऐसा कहकर स्वीकार करते हों, उन शिष्यों का गच्छ ही वास्तव में गच्छ है (54-56)।

सुविनीत शिष्य की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वह न केवल वस्त्र-पात्रादि के प्रति ममता में रहित होता है अपितु वह शरीर के प्रति भी अनासक्त होता है। वह न रूप तथा रस के लिए और न सौंदर्य तथा अहंकार के लिए अपितु चारित्र के भार को वहन करने के लिए ही शुद्ध एवं निर्दोष आहार ग्रहण करता है (57-59)।

पाँचवें अंग आगम व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में वर्णित प्रश्नोत्तर शैली के अनुसार ही प्रस्तुत ग्रंथ में भी गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि गौतम ! वहीं गच्छ वास्तव में गच्छ है जहाँ छोटे-बड़े का ध्यान रखा जाता हो, एक दिन भी जो दीक्षा पर्याय में बड़ा हो उसकी जहाँ अवज्ञा नहीं की जाती हो, भयंकर दुष्काल होने पर भी जिस गच्छ के साधु, साध्वी द्वारा लाया गया आहार ग्रहण नहीं करते हों, वृद्ध साधु भी साध्वियों से व्यर्थ वार्तालाप नहीं करते हों, स्त्रियों के अगोपांगां को सराग दृष्टि से नहीं देखते हों ऐसा गच्छ ही वास्तव में गच्छ है (60-62)।

साधुओं के लिए साध्वियों के संसर्ग को सर्वथा त्याज्य माना गया है। ग्रन्थानुसार साध्वियों का संसर्ग अग्नि तथा विष के समान वर्जित है। जो साधु-साध्वियों के साथ संसर्ग करता है वह शीघ्र ही निन्दा प्राप्त करता है। ग्रंथ में स्पष्ट कहा है कि स्त्री समूह से जो सदैव अप्रमत्त रहता है, वहीं ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है उससे भिन्न व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता (63-70)।

गच्छाचार - प्रकीर्णक की एक यह विशेषता है कि इसमें कहीं तो साधु के उपलक्षण से और कहीं साध्वी के उपलक्षण से सुविहित आचार मार्ग का निरुपण किया गया है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि आचार मार्ग का निरुपण चाहे साधु अथवा साध्वी के उपलक्षण से किया गया हो वह दोनों ही पक्षों पर लागू होता है। जैन आगमों में ऐसे अनेक प्रसंग हम देखते हैं जहाँ मुनि आचार का निरुपण किसी एक वर्ग विशेष के उपलक्षण से किया गया है, किन्तु हमें यह समझना चाहिए कि वह आचार निरूपण दोनों ही वर्गों पर समान रूप से लागू होता है।

ग्रंथ में पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक जीवों को किस प्रकार से पीड़ा नहीं पहुँचे, इस हेतु विशेष विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि स्वयं मरते हुए भी जिस गच्छ के साधु षट्कायिक जीवों को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाते हो, वास्तव में वहीं गच्छ है (75-81)।

प्रस्तुत ग्रंथ में साधु के लिए स्त्री का तनिक भी स्पर्श करना दृष्टि विष सर्प, प्रज्वलित अग्नि तथा हलाहल विष की तरह त्याज्य माना गया है और यह कहा गया है कि जिस गच्छ के साधु बालिका, वृद्ध ही नहीं अपनी संसार पक्षीय पौत्री, दौहित्री, पुत्री एवं बहिन का स्पर्श मात्र भी नहीं करते हों, वही गच्छ वास्तविक गच्छ है। साधु के लिए ही नहीं गच्छ के आचार्य के लिए भी स्वष्ट कहा है कि आचार्य भी यदि स्त्री का स्पर्श करे तो उसे मूलगुणों से भ्रष्ट जानें (82-87)।

ग्रंथ के अनुसार जिस गच्छ के साधु सोना-चाँदी, धन-धान्य आदि भौतिक पदार्थों तथा रंगीन वस्त्रों का परिभोग करते हों, वह गच्छ मर्यादाहीन है किन्तु जिस गच्छ के साधु कारण विशेष से भी ऐसी वस्तुओं का स्पर्श मात्र भी नहीं करते हों, वास्तव में वही गच्छ है (89-90)।

ग्रंथ में साध्वियों द्वारा लाए गये वस्त्र, पात्र, औषधि आदि का सेवन करना साधु के लिए सर्वथा वर्जित माना गया है (91-96)।

प्रस्तुत ग्रंथ में यह निर्देश दिया गया है कि आरंभ-समारंभ एवं कामभोगों में आसक्त तथा शास्त्र विपरीत कार्य करने वाले साधुओं के गच्छ को त्रिविध रूप से त्यागकर अन्य सद्गुणी गच्छ में चले जाना चाहिए और जीवन पर्यंत ऐसे सद्गुणी गच्छ में रहना चाहिए (101-105)।

साध्वी स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जिस गच्छ में छोटी तथा युवा अवस्था वाली साध्वियाँ उपाश्रय में अकेली रहती हों, कारण विशेष से भी रात्रि के समय दो कदम भी उपाश्रय से बाहर आती हों, गृहस्थों से अश्लील अथवा सावद्य भाषा में वार्ता करती हों, रंगीन वस्त्र धारण करती हों, अपने शरीर पर तैल मर्दन करती हों, स्नान आदि द्वारा शरीर का श्रृंगार करती हों, रुई से भरे गद्दों पर शयन करती हों या शास्त्र विपरीत ऐसे ही अनेकानेक कार्य करती हों, वह गच्छ वास्तव में गच्छ नहीं है (107-116)।

किन्तु जिस गच्छ की साध्वियों में परस्पर कलह नहीं होता हो तथा जहाँ सावद्य भाषा नहीं बोली जाती हो, अर्थात् जहाँ शास्त्र विपरीत कोई कार्य नहीं होता हो, वह गच्छ ही श्रेष्ठ गच्छ है (117)।

ग्रंथ में स्वच्छंदाचारी साध्वियों का आचार निरुपण करते हुए बतलाया गया है कि ऐसी साध्वियाँ आलोचना नहीं करतीं, मुख्य साध्वी की आज्ञा का पालन नहीं करती, बीमार साध्वियों की सेवा नहीं करती, किन्तु वशीकरण विद्या एवं निमित्त आदि का प्रयोग करती हैं, रंग-बिरंगे वस्त्र पहनती हैं, विचित्र प्रकार के रजोहरण रखती हैं, अनेकबार अपने शरीर के अंगोंपांगों को धोती हैं, गृहस्थों को आज्ञा देती हैं, उनके शय्या-पलंग का उपयोग करती हैं, इस प्रकार वे स्वाध्याय, प्रतिक्रमण एवं प्रतिलेखन आदि करने योग्य कार्य नहीं करती हैं, किन्तु जो नहीं करने योग्य कार्य हैं, उनको वे करती हैं (118-134)।

ग्रंथ का समापन यह कहकर किया गया है कि महानिशीथ, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार सूत्र तथा इसी तरह के अन्य ग्रंथों से 'गच्छाचार' नामक यह ग्रंथ समुद्धृत किया गया है। साधु-साध्वियों को चाहिए कि वे स्वाध्यायकाल में इसका अध्ययन करें तथा जैसा आचार इसमें निरुपित है वैसा ही आचरण करें (135-137)।

गच्छाचार - प्रकीर्णक की विषयवस्तु का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आगम विहित मुनि-आचार का समर्थक और शिथिलाचार का विरोधी है। गच्छाचार में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहाँ शिथिलाचार का विरोध किया गया है। यथा

गाथा 85 में स्पष्ट कहा गया है कि जिस गच्छ का साधु वेशधारी आचार्य स्वयं ही स्त्री का स्पर्श करता हो, उस गच्छ को मूलगुणों से भ्रष्ट जाने। गाथा 89-90 में उस गच्छ को मर्यादित कहा गया है, जिसके साधु-साध्वी सोना-चाँदी, धन-धान्य, काँसा-ताम्बा आदि का परिभोग करते हों तथा श्वेत वस्त्रों को त्यागकर रंगीन वस्त्र धारण करते हों। गाथा 91 में तो यहाँ तक कहा गया है कि जिस गच्छ के साधु, साध्वियों द्वारा लाये गये संयमोपकरण का भी उपयोग करते हैं, वह गच्छ मर्यादाहीन है। इसी प्रकार गाथा 93-94 में अकेले साधु का अकेली साध्वी या अकेली स्त्री के साथ बैठना अथवा पढ़ाना मर्यादा विपरीत माना गया है।

ग्रंथ में शिथिलाचार का विरोध करते हुए यहाँ तक कहा गया है कि जिस गच्छ के साधु क्रय-विक्रय आदि क्रियाए करते हों एवं संयम से भ्रष्ट हो चुके हों, उस गच्छ का दूर से ही परित्याग कर देना चाहिए। गाथा 118-122 में स्वच्छंदाचारी साध्वियों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि दैवसिक, रात्रिक आदि आलोचना करने वाली, साध्वी प्रमुखा की आज्ञा में नहीं रहने वाली, बीमार साध्वियों की सेवा नहीं करने वाली, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि नहीं करने वाली साध्वियों का गच्छ निन्दनीय है।

गच्छाचार-प्रकीर्णक में उल्लिखित शिथिलाचार के ऐसे विवेचन से यह फलित होता है कि गच्छाचार उस काल की रचना है जब मुनि आचार में शिथिलता का प्रवेश हो चुका था और उसका खुलकर विरोध किया जाने लगा। जैन आचार के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि विक्रम की लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी से मुनियों के आचार में शिथिलता आनी प्रारंभ हो चुकी थी। जैन धर्म में एक और जहाँ तन्त्र-मन्त्र और वाममार्ग के प्रभाव के कारण शिथिलाचारिता का विकास हुआ वहीं दूसरी ओर उसी काल में वनवासी परंपरा के स्थान पर जैनधर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परंपराओं में चैत्यवासी परंपरा का विकास हुआ जिसके परिणाम स्वरूप पाँचवीं-छठीं शताब्दी में जैन मुनिसंघ पर्याप्त रूप से सुविधाभोगी बन गया और उस पर हिन्दू परंपरा के मठवासी महन्तों की जीवन शैली का प्रभाव आ गया। शिथिलाचारी प्रवृत्ति का विरोध दिगम्बर परंपरा में सर्वप्रथम आचार्य कुन्द कुन्द के ग्रंथों में इस प्रकार देखा जा सकता है-

(1) उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गुरुयभारो य।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छत्तं॥
(सूत्रपाहुड, गाथा 9)

अर्थात् जो मुनि उत्कृष्ट चारित्र का पालन कर रहा हो, उग्र तपश्चर्या कर रहा हो तथा आचार्य पद पर आसीन हो फिर भी यदि वह स्वच्छंद विचरण कर रहा हो तो वह पापी मिथ्यादृष्टि है, मुनि नहीं।

(2) जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरा साहू॥
(सूत्रपाहुड, गाथा 12)

अर्थात् जो मुनि क्षुधा आदि बाईस प्रकार के परिषदों को सहन करने वाला हों, कर्म क्षय रूप निर्जरा करने वाला हों, वे ही नमस्कार करने योग्य हैं।

(3) गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया॥
(बोधपाहुड, गाथा 45)

अर्थात् सर्वप्रकार के परिग्रहों से जिनको मोह नहीं हों, बाईस प्रकार के परिषहों तथा कषायों को जो जीतने वाले हों तथा सर्वप्रकार के आरंभ - समारंभ से जो विरत रहते हों, उन मुनि की दीक्षा ही उत्तम है।

(4) धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया॥
(बोधपाहुड, गाथा 46)

अर्थात् जो मुनि धन्य-धान्य, सोना-चाँदी, वस्त्र-आसन आदि से रहित हो, उनकी दीक्षा ही उत्तम है अर्थात् वे ही वास्तव में मुनि है।

(5) पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

(बोधपाहुड, गाथा 57)

अर्थात् जो मुनि पशु, स्त्री, नपुंसक तथा व्यभिचारी पुरुषों की संगति नहीं करते हों, अपितु स्वाध्याय और ध्यान में निरंतर निमग्न रहते हों, उनकी दीक्षा ही उत्तम है अर्थात् वे ही वास्तव मे मुनि है।

(6) कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
मायी लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सामणो।।

(लिंगपाहुड, गाथा 12)

जो मुनि मुनिलिंग धारण करके भी भोजन आदि रसों में गृद्ध रहता हो, उनके प्रति आसक्ति रखता हो, कामसेवन की कामना से अनेक प्रकार के छल-कपट करता हो, वह मायावी है, तिर्यञ्चयोनि अर्थात् पशुतुल्य है, मुनि नहीं।

(7) रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेइ।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्ख जोणी ण सो समणो।।

(लिंगपाहुड, गाथा 17)

अर्थात् जो मुनि मुनिलिंग धारण करके भी स्त्री समूह के प्रति राग करता हो, दर्शन और ज्ञान से रहित वह मुनि तिर्यञ्च योनि अर्थात् पशु समान है, मुनि नहीं।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों में उपलब्ध होने वाली ये गाथाएँ इसी रूप में गच्छाचार में नहीं मिलती किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इन गाथाओं के द्वारा भी आचार्य कुन्दकुन्द ने मुनियों की स्वच्छंदाचारी और शिथिलाचारी प्रवृत्तियों का ही विरोध किया है।

श्वेताम्बर परंपरा में मुनियों की स्वच्छंदाचारी और शिथिलाचारी प्रवृत्ति का विरोध सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्रसूरि के ग्रंथ संबोध प्रकरण में मिला है-

गच्छाचार में तथा संबोध प्रकरण के कुगुरु अध्याय मे कुछ गाथाएँ समान रूप से मिलती हैं, जिनका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है-

(1) जत्थ य मुणिणो कयविक्कयाइं कुव्वंति निच्चमुझट्ठा।
तं गच्छं गुणसायरविसं व दूरं परिहरिज्जा॥

(संबोधप्रकरण, गाथा 45)

जत्थ य मुणिणो कय-विक्कयाइं कुव्वंति संजमुब्भट्ठा।
तं गच्छं गुणसायर! विसं व दूरं परिहरिज्जा॥

(गच्छाचार, गाथा 103)

(2) वत्थाइं विविट वण्णाई अइसियसद्दाइं धूववासाइ।
पहिरिज्जइ जत्थगणे तं गच्छं मूलगुणमुक्कं॥
जत्थ य विकहाइपरा कोउहला दव्वलिंगिणो कूरा।
निम्मेरा निल्लज्जा तं गच्छं जाण गुणभट्ठं॥
अन्नत्थियवसहा इव पुरओ गायंति जत्थ महिलाणं।
जत्थ जयारमयारं भणंति आलं सयं दित्ति॥

(संबोधप्रकरण, गाथा 46, 48, 49)

सीवणं तुन्नणं भरणं गिहत्थाणं तु जा करे।
तिल्लउवट्टणं वा वि अप्पणो य परस्स य॥
गच्छइ सविलासगई सयणीयं तूलियं सबिब्बोयं।
उव्वट्टेइ सरीरं सिणाणमाईणि जा कुणइ॥
गेहेसु गिहत्थाणं गंतूण कहा कहेइ काहीया॥
तरुणाइ अहिवडंते अणुजाणे, सा इ पडिणीया॥

(गच्छाचार, गाथा 113-115)

(3) जत्थ य अज्जालद्ध पडिग्गहमाइं व विविहमुवगराणं।
पडिभुंजइ साहूहिं तं गोयम! केरिसं गच्छं॥

(संबोधप्रकरण, गाथा 50)

जत्थ य अज्जालद्धं पडिगहमाई वि विविहमुवगरणं।
परिमुज्जइ साहूहिं, तं गोयम! केरिसं गच्छं॥

(गच्छाचार, गाथा 91)

(4) वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गिअग्गिविससरिसा।
अज्जाणु चरो साहू लहइ अकिर्ति सु अचिरेण॥

(संबोधप्रकरण, गाथा 51)

वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गि अग्गि-विससरिसी।
अज्जाणुचरो साहू लहइ अकिर्ति सु अचिरेण॥

(गच्छाचार, गाथा 63)

(5) जत्थ हिरण्णसुवण्णं हत्थेण पराणगं पि नो छिप्पे।
कारण समप्पियं पि हु गोयमा! गच्छं तयं भणिमो॥

(संबोध प्रकरण, गाथा 52)

जत्थ हिरण्ण-सुवण्णं हत्थेण पराणगं पि नो छिप्पे।
कारणसमप्पियं पि हु निमिस - खणद्धं पि, तं गच्छं॥

(गच्छाचार, गाथा 90)

गच्छाचार प्रकीर्णक में आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य हरिभद्रसूरि की तरह ही जैन मुनियों की स्वच्छन्दाचारी तथा शिथिलाचारी प्रवृत्ति का विरोध किया गया है। यद्यपि यह कहना तो कठिन है कि आचार्य कुन्दकुन्द और हरिभद्रसूरि की आलोचनाओं से जैन मुनि संघ में यथार्थ रूप से कोई सुधार आ गया था क्योंकि यदि यथार्थ रूप से कोई सुधार आया होता तो भट्टारक और चैत्यवासी परंपरा समाप्त हो

जानी चाहिए थी, किन्तु अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 8वीं-9वीं शताब्दी में भट्टारक और चैत्यवासी परंपरा न केवल जीवित थी, अपितु फलफूल रही थी। जिसके परिणाम स्वरूप निर्ग्रन्थ परंपरा में स्वच्छन्दाचारी एवं शिथिलाचारी प्रवृत्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। जैसा कि हम पूर्व में ही यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि लगभग उसी काल में गच्छाचार की रचना हुई होगी। वस्तुतः गच्छाचार ऐसा ग्रंथ है जो जैन मुनि संघ को आगमोक्त आचार विधि के परिपालन हेतु निर्देश ही नहीं देता है वरन् उसे स्वच्छन्दाचारी और शिथिलाचारी प्रवृत्तियों से दूर रहने का आदेश भी देता है। इस ग्रंथ का सम्यक् अध्ययन जैन मुनि संघ के लिए इसलिए भी आवश्यक है कि वह आगम निरुपित आदर्श आचार संहिता का आचरण कर अपने को गरिमामंडित कर सके।

वाराणसी — **सागरमल जैन**

12, दिसंबर, 1994 — **सहयोग - सुरेश सिसोदिया**

वीरस्तव - 7

वीरस्तव प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख हमें विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ 14वीं शताब्दी) में उपलब्ध होता है। इस ग्रंथ में प्रकीर्णकों के रूप में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, मरणसमाधि, महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान, संस्तारक, चन्द्रवेध्यक, भक्तपरिज्ञा, चतुःशरण, वीरस्तव, गणिविद्या, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, संग्रहणी एवं गच्छाचार इन चौदह ग्रंथों का उल्लेख मिलता है[1]।

विधिमार्गप्रपा के पूर्ववर्ती ग्रंथों- नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में वीरस्तव का उल्लेख नहीं पाया जाता है। इस प्रकार वीरस्तव का सर्वप्रथम संकेत विधिमार्गप्रपा में ही है। विधिमार्गप्रपा में आगम ग्रंथों के अध्ययन की जो विधि प्रज्ञप्त की गयी है, उसमें वीरस्तव का उल्लेख होना यह सिद्ध करता है कि वीरस्तव को 14वीं शती में एक प्रकीर्णक के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी।

वीरस्तव प्राकृत भाषा में निबद्ध एक पद्यात्मक रचना है। 'वीरस्तव' शब्द 'वीर' और 'स्तव' इन दो शब्दों के योग से बना है, जिसका सामान्य अर्थ तीर्थङ्कर महावीर की स्तुति है। इस वीरस्तव ग्रंथ की विषयवस्तु पर विचार करने के पूर्व हमें प्राचीनकाल से चली स्तुतिपरक रचनाओं की परंपरा के बारे में भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

स्तुति की परम्परा - आराध्य की स्तुति करने की यह परंपरा भारत में प्राचीन काल से ही रही है। भारतीय साहित्य की अमर निधि वेद मुख्यतः स्तुतिपरक ग्रंथ ही है। वेदों के अतिरिक्त भी हिन्दू परंपरा में स्तुतिपरक साहित्य की रचना होती रही है। जहाँ तक श्रमण परंपरओं का प्रश्न है वे स्वभावतः अनीश्वरवादी एवं तार्किक प रंपराएँ हैं। श्रमणधारा के प्राचीन ग्रंथों में हमें साधना या आत्मशोधन की प्रक्रिया पर ही अधिक बल मिलता है। उपासना या भक्ति तत्त्व उनके लिए प्रधान नहीं रहा। जैन धर्म भी श्रमण परंपरा का धर्म है, इसलिए उसकी मूलप्रकृति में भी स्तुति का अधिक महत्वपूर्ण स्थान नहीं रहा है। जब जैन परंपरा में आराध्य के रूप में 'महावीर' को स्वीकार किया गया तो

.....

1. विधिमार्गप्रपा - सं. जिनविजय, पृष्ठ 57-58।

सबसे पहले उन्हीं की स्तुति लिखी गई, जो आज भी सूत्रकृतांग सूत्र के छठे अध्याय ''वीरत्थुइ'' के रूप में उपलब्ध होती है[2]। संभवतः जैन परंपरा में स्तुतिपरक साहित्य का प्रारंभ इसी ''वीरत्थुइ'' से है। वस्तुतः इसे भी स्तुति केवल इसी आधार पर कहा जा सकता है कि इसमें महावीर के गुणों एवं उनके व्यक्तित्व के महत्व को निरुपित किया गया है। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें स्तुति कर्ता किसी प्रकार की याचना नहीं करता। इसके पश्चात् स्तुतिपरक साहित्य के रचनाक्रम में हमारे विचार से ''णमोत्थुणं'', जिसे ''शक्रस्तव'' भी कहा जाता है, निर्मित हुआ होगा, जिसमें किसी अर्हत् या तीर्थंकर विशेष का नाम निर्देश किये बिना सामान्य रूप से अर्हतों की स्तुति की गई है। जहाँ सूत्रकृतांग की वीरत्थुइ पद्यात्मक है वहाँ यह गद्यात्मक है। दूसरी बात इसमें अर्हन्त को एक लोकोत्तर पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है जबकि वीरस्तुति में केवन कुछ प्रसंगों को छोड़कर सामान्यतया महावीर को लोक में श्रेष्ठतम व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गयाहै, लोकोत्तर रूप में नहीं। यद्यपि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में वर्णित जीवनवृत्त की अपेक्षा भी इसमें लोकोत्तर तत्व अवश्य प्रविष्ट हुए हैं। स्तुति कारक साहित्य में उसके पश्चात् देवेन्द्रस्तव नामक प्रकीर्णक का स्थान आता है जिसके प्रारंभिक एवं अंतिम गाथाओं में तीर्थङ्करों की स्तुति की गई है। शेष ग्रंथ इन्द्रों एवं देवों के विवरणों से भरा पड़ा है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें भी ग्रंथकार ने तीर्थंकर और इन्द्रादि देवताओं से किसी भी प्रकार की भौतिक कल्याण की कामना नहीं की है। केवल ग्रंथ की अंतिम गाथा में कहा गया है कि सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें[3]। देवेन्द्रस्तव की प्रथम गाथा में ही प्रथम तीर्थंकर ऋषभ एवं अंतिम तीर्थंकर महावीर को नमस्कार किया गया है[4]। अतः यह स्पष्ट है कि ग्रंथकार ऋषिपालित के समक्ष 24 तीर्थंकरों की अवधारणा उपस्थित थी। इस प्रकार स्तुतिपरक साहित्य के विकासक्रम में 'देवेन्द्रस्तव' पर्याप्त प्राचीन सिद्ध होता है। स्तुतिपरक साहित्य में इसके पश्चात् 'चतुर्विंशतिस्तव' (लोगस्स - चोवीसत्थव) का स्थान आता है। लोगस्स का निर्माण तो चौबीस तीर्थंकर की अवधारणा के बाद ही हुआ होगा। वीरत्थुइ, नमुत्थुणं और देवेदत्थओ इन तीनों ग्रंथों की विशेषता यह है कि इनमें भक्त या रचनाकार अपने

.....

2. सूत्रकृतांग सूत्र - मुनि मधुकर - छठां वीरत्थुइं अध्ययन।
3. देवेन्द्रस्तव - गाथा 310।
4. देवेन्द्रस्तव - प्रकीर्णक - गाथा 9।

आराध्य के गुणों को स्मरण करता है। उनसे किसी प्रकार की लौकिक या आध्यात्मिक अपेक्षा नहीं रखता जबकि लोगस्स में आराधक अपने आराध्य से यह प्रार्थना करता है कि हे तीर्थंकर देव ! आप मुझ पर प्रसन्न हों और मुझे आरोग्य, बोधिलाभ तथा सिद्धि प्रदान करें।

जहाँ तक प्रस्तुत वीरत्थओ प्रकीर्णक का प्रश्न है इसमें महावीर की 26 नामों से स्तुति की गयी है। इसमें ग्रंथकार ने अरुह, अरिहंत, अरहंत, देव, जिन, वीर, परमकारुणिक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, पारंगत, त्रिकालविज्ञ, नाथ, वीतराग, केवलि, त्रिभुवनगुरु, संपूर्ण त्रिभुवन में श्रेष्ठ, भगवान, तीर्थंकर, शक्रेन्द्र द्वारा नमस्कृत, जिनेन्द्र, वर्धमान, हरि, हर, कमलासन एवं बुद्ध इन पच्चीस नामों का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए इन गुणों को महावीर पर घटित किया गया है और इसके ब्याज से उनकी स्तुति की है और अंत में यह याचना करते हुए ग्रंथ का समापन किया है कि कृपा करके मुझ मन्दपुण्यशाली को निर्दोष शिवप्रद प्रदान करें[5]।

स्तुतिपरक साहित्य में संभवतः लोगस्स ही प्रथम रचना है जिसमें याचना की भाषा का प्रयोग हुआ है। जैन दर्शन की तो स्पष्ट मान्यता रही है कि तीर्थंकर तो वीतरागी होते हैं अतः वे न तो किसी का हित करते हैं, न अहित, वे तो मात्र कल्याणपथ के प्रदर्शक हैं। लोगस्स के पाठ को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ सहवर्ती हिन्दू परंपरा से प्रभावित है। लोगस्स में आरोग्य, बोधि एवं निर्वाण निर्वाण इन तीनों बातों की कामना की गई है जिसमें अरोग्य, का संबंध बहुत कुछ हमारे ऐहिक जीवन के कल्याण के साथ जुड़ा हुआ है। परंतु चाहे वह उस लोक के कल्याण हेतु कामना हो या पारलौकिक कल्याण की कामना, धीरे-धीरे परवर्ती समय में यह तत्व जैन रचनाओं में प्रवष्टि होता गया जो जैन दर्शन के मूल सिद्धान्त वीतरागता की अवधारणा से संगति नहीं रखता है। जैन दर्शन में स्तुति का कया स्थान हो सकता है इसकी चर्चा आचार्य समन्तभद्र ने अपने स्वयम्भू स्तोत्र में की है। वे लिखते हैं कि हे प्रभु ! आप वीतराग हैं अतः आपकी स्तुति से आप प्रसन्न नहीं होंगे और आप वीतद्वेष हैं अतः निन्दा से नाराज नहीं होंगे फिर भी मैं आपकी स्तुति इसलिये करता हूँ कि इससे चित्त मल की विशुद्धि होती है **(स्वयम्भूस्तोत्र - 57)**।

.....

5. वीरत्थओ - गाथा 43।

इसी संदर्भ में आगे चलकर यह माना जाने लगा है कि तीर्थंकर की भक्ति से उनके शासन में यक्ष-यक्षी (शासन-देवता) प्रसन्न होकर भक्त का कल्याण करते हैं तो लोगों में शासन देवता के रूप में यक्ष एवं यक्षी की भक्ति की अवधारणा का विकास होने लेगा और उनकी भी स्तुति की जाने लगी। ''उवमग्गहर स्तोत्र'' प्राकृत का सबसे पहला तीर्थंकर के साथ-साथ उनके शासन के यक्ष की स्तुति करने वाला स्तोत्र है। इस स्तोत्र के कर्ता वाराहमिहिर के भाई द्वितीय भद्रबाहु (ईसा की छठीं शती) को माना जाता है।

इसके पश्चात् प्राकृत संस्कृत और आगे चलकर मरु-गुर्जर में अनेक स्तोत्र बने, जिनमें ऐहिक सुख-सम्पदा प्रदान करने की भी कामना की गई। यह सब चर्चा हमने सिर्फ स्तुतिपरक साहित्य के विकासक्रम पर दृष्टिपात करने के उद्देश्य से की है कि स्तुतियों का किस क्रम से किस रूप में विकास हुआ[3]। वीरस्तव भी ऐसा ही एक स्तुतिपरक ग्रंथ है।

ग्रंथ में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियों का परिचय

मुनि श्री पुण्यविजयजी ने वीरस्तवन ग्रंथ के पाठ निर्धारण में निम्न हस्तलिखित प्रतियों का प्रयोग किया है[6] -

(1) सं. - श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर पाटन की प्रति । यह प्रति संघवीपाड़ा जैन ज्ञान भंडार की है, जो ताड़पत्र पर लिखी हुई है।

(2) हं. - श्री आत्माराम ज्ञान जैन मंदिर, बड़ौदा की प्रति। यह प्रति मुनि श्री हंसराजजी म.सा. के हस्तलिखित ग्रन्थसंग्रह की है।

(3) प्र. - श्री पूज्यपाद प्रवर्तक श्री कांतिविजयजी म.सा. के संग्रह की प्रति की कोई नकल है।

(4) पु. 1 - श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद में सुरक्षित, यह प्रति मुनि श्री पुण्यविजयजी म.सा. के संग्रह की है।

हमने उक्त क्रमांक 1 से 4 तक की इन पाण्डुलिपियों के पाठ भेद मुनिपुण्यविजयजी द्वारा 'सम्पादित पइण्णय सुत्ताइं' नामक ग्रंथ से लिये हैं। इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से 'पइण्णय सुत्ताइं' ग्रंथ की प्रस्तावना के पृष्ठ 23-30 देखने की अनुशंसा करते हैं।

ग्रंथ के कर्ता एवं रचनाकाल -

प्रकीर्णक ग्रंथों के रचयिताओं के संदर्भ में मात्र देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक के कर्ता ऋषिपालित का उल्लेख मिलता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकीर्णक के कर्ता का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता। हालांकि पइण्णय सुत्ताइं भाग 1 की प्रस्तावना[1] में मुनि पुणयविजयजी ने, प्राकृत साहित्य के इतिहास में जगदीश चन्द्र जी जैन ने[7], जैन

.....

6. पइण्णय सुत्ताइं भाग 1 - प्रस्तावना 17-18।
7. प्राकृत साहित्य का इतिहास - पृ. 128

आगम साहित्य : मनन और मीमांसा में, देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा एवं आराधना पताका के कर्ता के रूप में वीरभद्र का उल्लेख किया है परंतु तत्सम्बन्धी प्रमाण की कोई चर्चा नहीं की है।[8]

जैन परंपरा में वीरभद्र के दो उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्रथम वीरभद्र तो महावीर के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं किन्तु इनकी ऐतिहासिकता स्पष्ट नहीं है। द्वितीय वीरभद्र का उल्लेख वि.सं. 1008 का प्राप्त होता है[9]। हो सकता है वीरस्तव द्वितीय वीरभद्र की ही रचना हो। वीरस्तव में ग्रन्थकर्ता ने कहीं पर भी अपने नाम का संकेत नहीं किया है। इसके पीछे ग्रंथकार की यह भावना रही होगी कि महावीर के विभिन्न नामों से मैं जो स्तुति कर रहा हूँ वह सर्वप्रथम मेरे द्वारा तो की नहीं गई है। अनेक पूर्वाचारों एवं ग्रंथकारों द्वारा इन नामों से महावीर की स्तुति की जा चुकी है। इस स्थिति में मैं ग्रंथ का कर्ता कैसे हो सकता हूँ? इसमें ग्रंथकार की विनम्राता एवं प्रामाणिकता सिद्ध होती है। वैसे भी प्राचीन स्तर के आगम ग्रंथों में कर्ता का नामोल्लेख नहीं पाया जाता है अतः यह माना जा सकता है कि वीरस्तव भी प्राचीन स्तर का ग्रंथ है।

जहाँ तक वीरस्तव के रचनाकाल का प्रश्न है, नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र में आगमों का जो वर्गीकरण प्राप्त होता है उसमें वीरस्तव का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

इसके पश्चात् दिगम्बर परंपरा की तत्वार्थ की टीकाओं एवं यापनीय परंपरा के मूलाचार, भगवती आराधना आदि में भी वीरस्तव का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इससे यह तो स्पष्ट है कि यह छठीं शताब्दी के पूर्व में अस्तित्व में नहीं था। वीरस्तव प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख विधिमार्गप्रपा नामक ग्रंथ में प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि वीरस्तव प्रकीर्णक नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र अर्थात् छठीं शताब्दी के पश्चात् तथा विधिमार्गप्रथा 14वीं शताब्दी के पूर्व अस्तित्व में आ चुका था। पुनः यदि हम अनेक प्रकीर्णकों के रचयिता के समान इस प्रकीर्णक के कर्ता भी वीरभ्रद को माने तो उनका काल 10वीं शताब्दी निश्चित है। ऐसी स्थिति में वीरस्तव का रचनाकाल भी ईस्वी सन् 10वीं शताब्दी होना चाहिए किन्तु वीरभद्र वीरत्थओ के रचयिता हैं इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

.....

8. **(अ) जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृ. 400**
   (ब) The Canonical Literature of the Jainas Page 51-52
9. The Canonical Literature of the Jainas Page -52

अतः इस बारे में विशेष अधिकार पूर्वक कह पाना बहुत मुश्किल है। यहाँ पर तो हम इतना ही कह सकते हैं। वीरस्तव के रचनाकाल के संबंध में एक अनुमान यह किया जा सकना है, सर्वप्रथम आचारांग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध के भावना अध्ययन में और कल्पसूत्र में महावीर के तीन गुण निष्पन्न नामों का उल्लेख हुआ है। जब हिन्दू पुराणों में विष्णु आदि के सहस्र नाम देने की परंपरा का विकास हुआ तो जैनों में भी उसका अनुसरण करके जिन सहस्रनाम लिखे गये। सबसे प्राचीन जिनसहस्रनाम जिनसेन लगभग 9वीं शती का है। प्रस्तुत कृति में मात्र 26 नाम हैं- इससे ऐसा लगता है कि, यह कृति उसके पूर्व ही कभी लिखी गई हो। सुज्ञजन इस बारे में विशेष एवं विवेचन खोजकर इस कमी को पूरा करेंगे।

विषयवस्तु : वीरस्तव प्रकीर्णक में कुल 43 गाथाएँ हैं। इन गाथाओं में श्रमण भगवान महावीर के 26 नामों की व्युत्पत्तिपरक स्तुति प्रस्तुत की गई है। ग्रंथकार ने महावीर को अरुह, अरिहंत, अरहंत, देव, जिन, वीर, परमकारुणिक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, पारग, त्रिकालविज्ञ, नाथ, वीतराग, केवलि, त्रिभुवन गुरु, सर्व, त्रिभुवन में श्रेष्ठ, भगवान, तीर्थंकर, शकेन्द्र द्वारा नमस्कृत, जिनेन्द्र, वर्धमान, हरि, हर, कमलासन और बुद्ध विशेषण देकर उनका गुण कीर्तन किया है। (गाथा 1-4) इन छब्बीस नामों का व्युत्पत्तिपरक अर्थ निम्न प्रकार किया है-

(1) अरुह - महावीर को जन्म मरण रूपी संसार के बीज को अंकुरित करने वाले कर्मों को ध्यान रूपी ज्वाला में जलाकर संसार में पुनः उत्पन्न नहीं होने कारण 'अरुह' कहा गया है। (गाथा 5)

(2) अरिहंत - घोर उपसर्ग, परिषह एवं कषायों का नाश करने वाले, वंदन स्तुति, नमस्कार, पूजा, सत्कार एवं सिद्धि के योग्य
तथा देव, मनुष्य एवं इन्द्रों से पूजित होने के कारण अरिहंत कहा गया है। (गाथा 6-8)

(3) अरहंत - समस्त परिग्रह से रहित (अरह), जिससे कुछ भी छिपा हुआ नहीं है (अरहम्), श्रेष्ठ ज्ञान के द्वारा निज स्वरूप को प्राप्त, मनोहर एवं अमनोहर शब्दों से अलिप्त, मन, वचन, शरीर से आचार से आचार में रमे हुए, श्रेष्ठ देवों एवं इन्द्रों से पूजित एवं मोक्षद्वार पर स्थित होने से महावीर को अरहंत कहा गया है। (गाथा 9-12)

(4) देव नाम - सिद्धिरूपी स्त्री से क्रीड़ा करने वाले, मोह रूपी शत्रु के

विजेता, अत्यंत शुभ एवं पुण्य परिणामों से युक्त होने के कारण देव कहा गया है। (गाथा 13)

(5) जिन - रागादि शत्रु से रहित तथा वचन समाधि एवं संसार के उत्कृष्ट गुणों से युक्त होने से उन्हें जिन कहा गया है। (गाथा 14)

(6) वीर - दृष्ट अष्ट कर्मों से रहित, भोगों से विमुख, तप से शोभित एवं साध्य की ओर अग्रसर होने के कारण महावीर कहा गया है। (गाथा 15-16)

(7) परम कारुणिक - दुःखों से पीड़ित प्राणियों को संसार से मुक्त कराने में लगे हुए, शत्रु एवं मित्र सभी पर परम करुणावान होने से वे परम कारुणिक हैं। (गाथा 17)

(8) सर्वज्ञ - अपने निर्मल ज्ञान से भूत, भविष्य एवं वर्तमान को जानने वाले हैं, अतः आप सर्वज्ञ हैं। (गाथा 18)

(9) सर्वदर्शी - सबके रूपों एवं क्रियाकलापों को एक साथ अवलोकन करते हैं, अतः वे सर्वदर्शी कहलाते हैं। (गाथा 19)

(10) पारग - समस्त प्राणियों के कर्म भवों को तिराने में समर्थ एवं मार्ग प्रशस्त करने वाले होने से उन्हें पराग कहा गया है। (गाथा 20)

(11) त्रिकालज्ञ - संसार के होने वाले भूत, भविष्य एवं वर्तमान को हाथ में रख हुए आंवले की तरह देखने में समर्थ होने से महावीर को त्रिकालज्ञ कहा गया है। (गाथा 21)

(12) नाथ - भव-भवान्तर से संसार में पड़े हुए अनाथों के लिए मंगल उपदेश प्रदाता होने से आप नाथ हैं। (गाथा 22)

(13) वीतराग - विषयों में अनुरक्त भावों को रोग एवं विपरीत भावों को द्वेष कहा जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि के अहंकार को गलित करने पर भी अहंकार से रहित तथा शरीर में अनेक देवों का निवास स्थान होने पर भी विकार रहित होने के कारण आपको वीतराग कहा गया है (गाथा 23-27)

(14) केवली- सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों को तीनों कालों में एक साथ जानने से, अप्रतिहत शक्ति के धारणहार श्रेष्ठ साधु व्रत से युक्त होने से केवली कहा गया है। (गाथा 28-29)

(15) त्रिभुवन गुरु - लोक में सद्धर्म का विनियोजन करने के कारण त्रिभुवन गुरु कहा गया है। (गाथा 30)

(16) सर्व - सभी प्राणियों के दुःखों के नाशक एवं हितकारी उपदेशक होने से महावीर को संपूर्ण कहा गया है। (गाथा 31)

(17) त्रिभुवन श्रेष्ठ - बल, वीर्य, सौभाग्य, रूप, ज्ञान-विज्ञान से युक्त होने से त्रिभुवन श्रेष्ठ कहा गया है। (गाथा 32)

(18) भगवन् - प्रतिपूर्ण रूप धर्म, कांति, प्रयत्न, यश एवं श्रद्धा वाले होने से तथा इह लौकिक एवं पारलौकिक भयों को नष्ट करने वाले होने से महावीर को भगवान् कहा गया है। (गाथा 33-34)

(19) तीर्थंकर - चतुर्विध संघ रूप तीर्थ की स्थापना करने वाले होने के कारण महावीर को तीर्थंकर नाम दिया गया है। (गाथा 35)

(20) शकेन्द्रनमस्कृतः - गुणों के समूह से युक्त आपका इन्द्रों द्वारा भी कीर्तन किया जाता है इसलिए आपको शकेन्द्र द्वारा अभिवन्दित कहा जाता है। (गाथा 36)

(21) जिनेन्द्र - मनःपर्याय ज्ञानी एवं उपशांत क्षीण मोहनीय व्यक्ति जिन कहे जाते हैं और वे उनसे भी अधिक ऐश्वर्यवान हैं अतः महावीर जिनेन्द्र हैं। (गाथा 37)

(22) वर्धमाण - महावीर के गर्भ में आने से राजा सिद्धार्थ के घर में वैभव, स्वर्ण, जनपद एवं कोश में भारी वृद्धि हुई, इस कारण उन्हें वर्धमानण कहा गया है। (गाथा 38)

(23) हरि - हाथ में शंख, चक्र एवं धनुष चिन्ह धारण किए हुए होने से उन्हें विष्णु कहा जाता है। (गाथा 39)

(24) महादेव - प्राणियों के बाह्य एवं आभ्यंतर कर्मरज के हरण करने वाले होने से, खट्वाङ्ग एवं नीलकण्ठ युक्त नहीं होने पर भी आप महादेव कहे जाते हैं। (गाथा 40)

(25) ब्रह्मा - कमलासन, दानादि चार धर्म रूपी मुख होने से एवं हंस अवस्था में गमन होने से आप ब्रह्मा कहे गये हैं। (गाथा 41)

(26) त्रिकालविज्ञ- जीवादि नव तत्व जानने वाले एवं श्रेष्ठ केवल ज्ञान के धारक होने से आपको त्रिकालविज्ञ कहा जाता है। (गाथा 42)

वीरस्तव प्रकीर्णक की विषयवस्तु एवं नामों का जैन आगमों एवं अन्य स्तुतिपरक ग्रंथों में विस्तार

वीरस्तवन प्रकीर्णक में प्राप्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि उसमें महावीर के 26 नामों से स्तुति की गई है। स्तुतिपरक साहित्य के विकासक्रम में आगे चलकर गुणसूचक विभिन्न पर्यायवाची नामों के अर्थ व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करते हुए उसके ब्याज से स्तुति करने की परंपरा ही चली। इस शैली में जिनसहस्त्रनाम, विष्णुसहस्त्रनाम, शिवसहस्त्रनाम आदि रचनाएँ निर्मित हुई। प्रस्तुत प्रकीर्णक इस शैली का प्रारम्भिक ग्रंथ है।

वीरस्तवन में प्रतिपादित नामों में से अनेक नाम आचारांग[10], सूत्रकृतांग, भगवतीसूत्र, ज्ञाताधमंकथांग, उपासकदशांग, अनुत्तरोपपातिकदशा आदि आगम ग्रंथों में तथा जिनसहस्त्रनाम, अर्हत्सहस्त्रनाम, ललितविस्तरा आदि परवर्ती जैन ग्रंथों एवं विष्णुपुराण, शिवपुराण, गणेशपुराण आदि जैनेतर ग्रंथों में किञ्चित् भेद से प्राप्त होते हैं।

वीरस्तवन में महावीर के जो 26 गुणनिष्पन्न नाम गिनाए गये हैं उनमें से अनेक नाम अपनी प्राचीनता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

प्रारंभिक काल में अरहंत, अर्हत्, बुद्ध, जिन, वीर, महावीर आदि शब्द विशिष्ट ज्ञानियों/महापुरुषों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते थे। परंतु धीरे-धीरे ये शब्द केवल श्रमण परंपरा के विशिष्ट शब्द बन गये। पं. दलसुख भाई मालवणिया लिखते है कि अरिहंत एवं अर्हत शब्द भगवान् बुद्ध एवं महावीर के पहले ब्राह्मण परंपरा में भी प्रयुक्त होते थे परंतु भगवान बुद्ध एवं महावीर के पश्चात् ये दोनों शब्द केवल इन्हीं के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने लगे। ज्ञानीजनों के लिए 'बुद्ध' शब्द प्रचलन में था परंतु बुद्ध के बाद यह शब्द भी उनके ही विशेषण का रूप में प्रचलन में आ गया।

'जिन' शब्द भगवान महावीर के पूर्व सभी इन्द्रिय विजेता साधकों के लिए प्रयोग होता था परंतु बाद में जिन शब्द जैनधर्म के तीर्थंकरों के विशेषणरूप से प्रयोग होने लगा और इनके अनुयायियों के लिए जैन शब्द प्रचलित हो गया।

.....

10. आचारांग 9।2।।।2

1. आचारांग सूत्र में महावीर के नाम- भगवान महावीर के संदर्भ में प्राचीनतम सूचना देने वाला ग्रंथ आचारांग सूत्र माना जाता है। यह ग्रंथ मुख्यतः साधना-प्रधान है फिर भी इसमें उनके जीवनवृत की झलक इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के 9वें उपधान श्रुत में देखने को मिलती है। इसमें भगवान के साधना काल में 'भिक्षु' संज्ञा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[11]। इसी में इनके कुल का परिचय देते समय **ज्ञातपुत्र** शब्द भी प्राप्त होता है[12]। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवें अध्ययन में इनके लिए **'माहण'**, **'नाणी'** और **'मेहावी'** शब्दों का प्रयोग किया गया है[13]। ये तीनों शब्द वीरस्तव में नहीं हैं।

श्रवण भगवान महावीर के प्रति अपने पूज्य भाव दर्शाने के कारण आचारांग में जगह-जगह पर **'भगवं'**, **'भगवंते'**, **'भगवया'**, शब्द प्रयोग किये गये हैं।[14] **'वीर'** शब्द का प्रयोग आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्राप्त तो होता है परंतु वह अत्यंत पराक्रमी, आध्यात्मिक दृष्टि के पुरुषों के लिए प्रयुक्त हुआ है संभवतः यही आगे चलकर महावीर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने लगा होगा[15]।

इसी प्रकार **'बुद्ध'** एवं **'प्रबुद्ध'** शब्द भी महावीर के विशेषण के रूप में आचारांग में प्राप्त होते हैं। बाद में यह बुद्ध शब्द भगवान बुद्ध के लिये प्रयुक्त होने लगा[5] और जैन परंपरा में इसका प्रचलन समाप्त होने लगा।

सारांश रूप से आचाराग में मुनि, भिक्षु, माहण, ज्ञातृ पुत्र, भगवान, वीर, तीर्थंकर, केवली, सर्वज्ञ आदि विशेषण विशेष रूप से महावीर के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं।

.....

11. आचारांग 9 / 1 / 10
12. वही 9 / 1 / 16, 9 / 1 / 23 आदि।
13. (अ) समणे भगवं महावीरे.....। आचारांग 1।1।1, 9।2।5, 9।3।7
    (ब) महावीर चरित मीमांसा - पं. दलसुख मालवणिया - पृ. 14
14. एस वीरे पसांसिए, जे बद्धे पडिमोयए.....। आचारांग 1 / 140
15. महावीर चरितमीमांसा - पृ. 15

2. सूत्रकृतांग सूत्र में महावीर के नामें की चर्चा- सूत्रकृतांग के प्राचीन अंश प्रथम श्रुत स्कंध में वीर स्तुति में प्रतिपादित नामों के कई नाम महावीर के लिए प्रयुक्त हुए है। यहाँ पर पूर्व आचारांग गत नामों के अतिरिक्त **'वीर'** शब्द का उल्लेख हुआ है उदाहरण के लिए -

(अ) **'वीर'** - सूत्रकृतांग - 1 / 1 / 1 / 1

(ब) एवमाहु से **वीरे** - वही - 14 / 2 / 22

(स) उदाहु **वीरे** - वही - 1 / 14 / 11

'भगवान्', **'जिन'** एवं **'अरिहंत'** या अरहंत शब्द का प्रयोग पूर्व परंपरा की तरह ही प्रयुक्त हुए है[16]।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमण भगवान महावीर के तीन नामों का उल्लेख हुआ है[18] - वर्धमान, सन्मति और श्रमण। श्रमण भगवान महावीर के ज्ञातपुत्र, विदेह आदि नामों का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे ..... ''समणे भगवं महावीरे नाए नायपुत्ते नाह कुलनिव्वत्ते विदेह विदेहदिन्ने ..... ''। ज्ञातव्य है कि वीर आदि नामों के साथ-साथ आचारांग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध में प्रथम बार तित्थयर, भगवं, अरहंत, केवलि, जिनसव्वणु नामों का महावीर के लिए स्पष्ट रूप से प्रयोग हुआ है[19]।

सूत्रकृतांग में महावीर के लिए 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग भी अनेक जगह हुआ है[20]। साथ ही साथ **अनन्तचक्षु**[21] **सर्वदर्शी**[22] **त्रिलोकदर्शी**[23]

.....

16. सूत्रकृतांग - 11 / 2 / 3 / 22, 1 / 16 / 1, 1 / 2 / 3, 19, 1 / 9 / 29
17. आचारांग - 2 / 15 / 175
18. वही - 2 / 171
19. (अ) वही 2 / 109
    (ब) से भगवं अरहं जिणे, केवली, सव्वण्णू सव्व भावदरिसी ... आचारांग 2/15/179
20. सूत्र कृतांगसूत्र - 1 / 11 / 25, 1 / 11 / 35, 1 / 15 / 18
21. वही - 1 / 6 / 6
22. वही - 1 / 6 / 5
23. वही - 1 / 14 / 16

केवली[24] **महर्षि**[25] **मुनि**[26] **प्रभु**[27] आदि शब्दों। विशेषणों का प्रयोग भी महावीर के लिए किया गया है।

स्थानांग सूत्र में महावीर के लिए '**भगवंत**', '**तीर्थंकर**', '**अर्हत्**', '**जिन**', '**केवली**' शब्दों का प्रयोग उनके विशेषण के रूप में हुआ है[28]।

समवायांग सूत्र में "**समणस्स भगवओ महावीरस्स**" शब्दों के उल्लेख के साथ-साथ '**तीर्थंकर**', '**सिद्ध**', '**बुद्ध**', '**अर्हन्**' का भी उल्लेख अलग-अलग स्थानों पर हुआ है[29]।

भगवतीसूत्र[7] **ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र**[8] **एवं अनुत्तरोपपातिक दशासूत्र**[9] में महावीर के विशेषणों की परंपरा और विकसित हुई और उन्हें महावीर, (धर्म के) आदिकर्ता तीर्थंकर, स्वयंसंबुद्ध, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुष-वर-पुण्डरीक, लोकोत्तम, लोकनाथ, धर्मसारथी, जिन, बुद्ध सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव, सिद्धगति को प्राप्त आदि विशेषणों द्वारा संबोधित कर उनका गुण कीर्तन किया गया है।[29]

.....

24. सूत्रकृतांगसूत्र - 1/14/15
25. वही - 1 - 6 - 26
26. वही - 1-6-7
27. वही - 1 - 6 - 28
28. स्थानांग सूत्र - मुनि मधुकर - 1/1, 2/4, पृ. 12, पृ. 516
29. समवांयाग सूत्र-मुनि मधुकर - समवाय - 11, समवाय - 15, समवाय - 21 समवाय - 24, समवाय 54 आदि
30. (अ) "समणे भगवं महावीरे आइगरे, तित्थगरे, सहसंबुद्धे, पुरुषत्तमे, पुरिससीहे, पुरुषवरपुण्डरिए, लोगुत्तमे, लोगनाहे, लोगप्पदीवे ..... धम्मदेसए, धश्मसारही ..... जिणे जावए दुद्धे, बोहए मुत्ते मायए, सव्वण्णू, लव्वदरिसी, शिवमयलमरुय मणंतमक्खन-मव्वाबाहमपुणरावत्तयं सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपाविउकामाणं।।

भगवतीसूत्र - मुनि मधुकर 5/1॥

(ब) ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र - मुनि मधुकर 1/8

(स) अनुत्तरोपपादिकदशा - मुनि मधुकर 1/1, 3/22

उपासकदशांगसूत्र में यह गुण निष्पन्न नाम देने की परंपरा और विकसित हुई और उसमें श्रमण भगवान महावीर, आदिकर, तीर्थंकर, स्वयंसंबुद्ध, जिन, तारक, बुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव, अर्हत्, जिन, केवली आदि नामों के उल्लेख मिलते हैं[31]।

आगे चलकर न केवल अपनी परंपरा में प्रचलित गुणनिष्पन्न नामों का संग्रह किया गया अपितु अन्य परंपरा में प्रचलित उनके इष्ट देवों के नामों को भी संग्रहित किया गया-जिनशत नाम, जिनसहस्त्र नाम आदि रचनाएँ निर्मित हुई। इसी प्रकार की शैली का संकेत हमें भक्तामर स्तोत्र में भी मिलता है जिसमें आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की स्तुति करते हुए उनके लिए शिव, विधाता, शंकर, पुरुषोत्तम आदि विशेषण/गुण निष्पन्न नाम घटित किये गये[32]।

वैदिक एवं बौद्ध ग्रंथों में नाम साम्यता-

वैदिक परंपरा में विष्णु को पुरुषोत्तम भी कहा गया है[2]। पुरुषपुण्डरीक नाम भी वैदिक परंपरा में विष्णु के लिए विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। पुरुषवर, पुरुषपुण्डरीक एवं लोकनाथ शब्द विष्णु के लिए महाभारत में प्रयुक्त है[33]।

बौद्ध परंपरा के ग्रंथों में **अंगुत्तर** निकाय के अतिरिक्त महावीर के विशेषणों को ही बुद्ध के विशेषण के रूप में प्रस्तुत करने वाला ग्रंथ विसुद्धिमग्ग है[34]। उसमें इन सब शब्दों की विस्तृत व्याख्या की गई है। सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी शब्द पालित्रिपिटक में प्राप्त होते हैं[35]।

पालित्रिपिटिक में महावीर के लिए विशेषण के रूप में सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

.....

31. उवासगदसाओ - मुनिमधुकर - पृ. 13 - 18॥
32. महावीर चरित मीमांसा. प. दलसुख मालवणिया - पृ. 22
33. (अ) वही - पृ. 23
    (ब) तुलना - ''सो भगवया - अरहं ..... पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमणुस्साण बुद्धो भगवा - अनुत्तरनिकाय - 3।285।
34. विशुद्धिमार्ग - पृ. 133॥ (4) ''सव्वण्णू सव्वदस्सावी अपरिसेसं त्राणदस्सन पाटिजानाति'' - महावीर चरितमीमांसा. पृ. 23॥
35. महावीर चरित मीमांसा पृ. 23॥

हिन्दू धर्म में स्तुति की परंपरा बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है[36]। अन्य सभी मतावलम्बियों के समान उसने भी अपने आराध्य की स्तुति एक हजार आठ नामों से की है[37]। उदाहरण के लिए विष्णुसहस्त्रनाम, शिवसहस्त्रनाम, गणेशसहस्त्रनाम, अम्बिकासहस्त्रनाम, गोपालसहस्त्रनाम आदि स्तुतियाँ प्रचलन में है[2]।

श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र कृत ललित विस्तरा[38] जो कि नमोत्थुणं / शक्रस्तव की टीका है में तीर्थंकर के लिए प्रयुक्त विभिन्न विशेषणों की विस्तृत व्याख्या की गई है[39]।

इन मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त पं. आशाधर ने वि.सं. 1300 के लगभग जिनसहस्त्र नाम से एक ग्रंथ की रचना की, जिसमें उन्होंने 1008 नामों से जिनेश्वर देव की स्तुति प्रस्तुत की है। इन 1008 नामों में वीरत्थओ के 2 6 नामों में से अनेक नामों का उल्लेख प्राप्त हो जाता है[5]। दश शतकों में विभाजित इस ग्रंथ का पहला शतक **जिननाम** शतक है (1) इसमें भव[6] कानन (जन्म-मरण) संबंधी अनेक महाकष्टों के कारणभूत विषय व्यसन रूपी कर्म रूपी शत्रुओं को जिसने जीत लिया है उसे 'जिन' कहा गया है।[40]

(2) **'वीतराग'** शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि राग के विनष्ट हो जाने से आप वीतराग है[41]।

(3) द्वितीय सर्वज्ञ शतक में **सर्वज्ञ** शब्द की व्यवस्था कुछ इस तरह की है -

.....

36. महावीर चरितमीमांसा - पृ. 17।
37. जिन सहस्त्रनाम - प. आशाधर - प्रस्तावना पृ. 13-14
38. प्रणम्य भुवनालोकं महावीरं जिणोत्तमम्'' - ललितविस्तरा - 1।
39. नमो त्थु णं .....तित्थयराणं ..... जिणाणं ..... सव्वण्णू सव्वदरिसीणं ..... ललिनविस्तरा - वन्दना सूत्र पृ. 29॥
40. जिन - सर्वज्ञ - यज्ञार्हं - तीर्थं कृन्नाथ - योगिनाम्। निर्वाण - ब्रह्मा - बुद्धान्तकृतां चाष्टोतरैः शतैः॥ (जिनसहस्त्रनान 1।5)
41. कर्मारातीन् जयति क्षयं नयति ति जिनः (जिनसहस्त्रनाम - टीका पृ. 58) ''वीतो विनष्टो रागो यस्येति वीतराग'' जिनसहस्त्रनाम पृ. 61

''सर्व त्रैलोक्य - कालत्रयवर्ति द्रव्यपर्यायसहितं वस्त्वलोकं च जानात्तीति। सर्वं वेत्तीति।

अर्थात् त्रिलोक त्रिकालवर्ती सर्वद्रव्य पर्यात्मक वस्तु स्वरूप को जानने वाले होने के कारण आप सर्वज्ञ हो[42]।

(4) यहीं पर सर्व चराचर जगत् को देखने वाले होने के कारण **'सर्वदर्शी'** नाम दिया गया है[43]।

(5) **'केवली'** केवल ज्ञान के धारक होने से मुनिजनों द्वारा आपको केवली कहा जाता है[44]।

(6) 'भगवान' 'भग' शब्द ऐश्वर्य, परिपूर्ण ज्ञान, तप, लक्ष्मी, वैराग्य एवं मोक्ष छः अर्थों का वाचक है और आप इन छहों से संयुक्त हैं अतः आप भगवान है[45]।

(7) अर्हन् अरिहंत अरहंत जिनसहस्त्रनाम में इन तीनों को एक ही मानकर कहा गया है कि आप दूसरों में नहीं पायी जाने वाली पूजा के योग्य होने से अर्हन् है। अकार से मोह रूप अरिका, रकार से ज्ञानावरण एवं दर्शानावरण रूप रज का तथा रहस्य अर्थात् अन्तराय कर्म का ग्रहण किया है। हे भगवान् ! आपने इन चारों ही घातिया कर्मों का हनन किया है इस कारण आप अर्हण्, अरिहंत और अरहंत इन नामों से पुकारे जाते है[46]।

(8) 'तीर्थकर' जिसके द्वारा संसार सागर से पार उतरते हैं उसे तीर्थ कहते हैं। जगत् के प्राणी आपके द्वारा प्ररुपित बारह अंगों का आश्रय लेकर भव को पार होते हैं। आप इस प्रकार के तीर्थ के करने वाले हैं इसलिए आपको तीर्थंकर कहा जाता है[47]।

.....

42. जिनसहस्त्रनाम शतक - 2, पृष्ठ 61॥
43. वही, शतक - 2, पृष्ठ 61॥
44. वही, शतक - 2, पृष्ठ 68॥
45. ''भगो ज्ञानं परिपूर्णेश्वर्य तपः श्रीर्वैराग्यं मोक्षश्च विद्यते यस्स स तथोक्त''
(जिनसहस्त्रनाम, शतक 3, पृ. 70)
46. जिनसहस्त्रनाम, शतक 3 पृष्ठ 70।
47. वही, शतक 4, पृ. 78।

(9) 'नाथ' कैवल्यावस्था में भक्त आपसे स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति हेतु याचना करते हैं अतः आपको नाथ कहा जाता है[48]।

(10) 'महाकारुणिक' महान दयालु स्वभाव होने के कारण आपको महाकारुणिक कहा गया है[49]।

(11) 'वीर' महावीर को श्रेष्ठ एवं निज भक्तों को विशिष्ट (उपदेशात्मकरूपी) लक्ष्मी प्रदाता होने के कारण वीर कहा है।

(12) 'वर्धमान' आप ज्ञान वैराग्य एवं अनंत चतुष्टय रूप लक्ष्मी से निरंतर वृद्धि होते हैं अतः वर्धमान है अथवा ज्ञान एवं सन्मान रूप परम अतिशय को प्राप्त होने के कारण आप वर्धमान है[50]।

(13) 'कमलासन' यहाँ पर कमलासन के 3 रूप दिये हैं[51]-

(अ) समवशरण में कमल पर अंतरिक्ष में विराजित रहते हैं, अतः कमलासन हैं अथवा आप पद्मासन से विराजमान रहकर धर्मोपदेश देते हैं। अतः कमलासन है।

(ब) विहार के समय देवगण आपके चरणों के नीचे सुवर्णकमलों की रचना कराते हैं। इसलिये आप कमलासन हैं।

(स) 'क' अर्थात् आत्मा के अष्टकर्मरूपी 'मल' का संपूर्ण विनाश करते हैं अतः आप कमलासन है[52]।

(14) पापों का हरण करने वाले होने से आप हरि कहे जाते हैं[53]।

(15) 'बुद्ध' आप केवलज्ञान रूपी बुद्धि को धारण करने वाले होने के कारण बुद्ध कहलाते हैं[54]।

.....

48. नाध्येते स्वर्ण - मोक्षौ याच्येते भक्तैर्वा नाथः ॥
- जिनसहस्त्रनाम शतक 5, पृष्ठ 48
49. जिनसहस्त्रनाम - पं. आशाधर पृ. 95।
50. वही, शतक 7 पृ. 102।
51. वही शतक 7 पृ. 102।
52. जिनसहस्त्रनाम - शतक 8, पृ. 108।
53. वही, पृष्ठ 110।
54. वही, शतक 9 पृष्ठ 119।

इस प्रकार जिन सहस्त्रनाम के दस शतकों में वीरस्तव के 26 में से 15 नामों की समानता प्राप्त होती है।

इसके पूर्व आचार्य जिनसेन ने जिन सहस्त्र नाम से दस शतकों का एक ग्रंथ लिखा था। इसी प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति ने भी जिन 'सहस्त्र नाम का' 123 श्लोकों का एक ग्रंथ लिखा । श्वेताम्बर परंपरा में हेमचन्द्राचार्य ने 'श्री अर्हन्नामसहस्त्रसमुच्चयः' नाम से 123 श्लोकों का ग्रंथ लिखा, जिनमें भी महावीर के अनेक पर्यायवाची नामों एवं गुणों का संकीर्तन किया गया है।

इस प्रकार जैन आगमों एवं अन्य स्तुतिपरक ग्रंथों के तुलनात्मक विवेचन में हमने अपनी ज्ञान सीमाओं को ध्यान में रखते हुए चर्चा प्रस्तुत की। हमारी यह इच्छा अवश्य थी कि वीरत्थओ में प्रतिपादित एक-एक शब्द का जैन बौद्ध एवं वैदिक परंपरा में विस्तार खोजा जाय, परंतु इससे ग्रंथ प्रकाशन में विलम्ब होना स्वाभाविक था। हम आशा करते हैं कि स्तुतिपरक साहित्य में रुचि रखने वाले विद्वान विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन कर इस कमी को पूरा करेंगे। इसी शुभेच्छा के साथ

वाराणसी — **सागरमल जैन**

1 जनवरी 1995 — **सहयोग - सुभाष कोठारी**

8- संथारगपइण्णयं

नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्र में मिलने वाले आगमों के वर्गीकरण में उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान- ये सात नाम तथा कालिक सूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति- ये दो नाम, अर्थात् वहाँ कुल नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है[1]। किन्तु उपरोक्त वर्गीकरण में 'संथारगपइण्णयं' (संस्तारक-प्रकीर्णक) का कहीं भी उल्लेख नहीं है। तत्त्वार्थभाष्य और दिगम्बर परंपरा की तत्त्वार्थ की टीका सर्वार्थसिद्धि में जहाँ अंगबाह्य चौदह ग्रंथों का उल्लेख है, उनमें भी संस्तारक प्रकीर्णक का उल्लेख नहीं हुआ है। इसी प्रकार यापनीय परंपरा में ग्रंथों मूलाचार, भगवती आराधना आदि में यद्यपि उत्तराध्ययन सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार, वृहत्कल्प, जीतकल्प और निशीथसूत्र आदि ग्रंथों के उल्लेख तो मिलते हैं, किन्तु उनमें भी कहीं भी संस्तारक प्रकीर्णक का उल्लेख नहीं मिलता है।

संस्तारक प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख हमें विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ, 14वीं शताब्दी) में उपलब्ध होता है। उसमें प्रकीर्णकों में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, मरणसमाधि, महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान, संस्तारक, चन्द्रवेध्यक, भक्तपरिज्ञा, चतुःशरण, वीरस्तव, गणिविद्या, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, संग्रहणी और गच्छाचार आदि प्रकीर्णकों का उल्लेख हुआ है[2]। विधिमार्गप्रपा में संस्तारक प्रकीर्णक का उल्लेख होना यह सिद्ध करता है कि उसे 14वीं शती में एक प्रकीर्णक के रूप में मान्यता प्राप्त थी।

सामान्यतया प्रकीर्णकों का अर्थ विविध विषयों पर संकलित ग्रंथ ही किया जाता है। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि के अनुसार तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते थे। परंपरागत मान्यता है कि प्रत्येक

.....

1. (क) नन्दीसूत्र - सम्पा. मुनि मधुकर, प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर ; ई. सन् 1982, पृष्ठ 161-162
   (ख) पाक्षिक सूत्र - प्रका. देवचन्द्र लालाभाई जैन पुस्तकोद्धारफण्ड, पृष्ठ 76
2. देवंदत्थयं - तंदुलवेयालिय - मरणसमाहि - महापच्चक्खाण - आउरपच्चक्खाण-संथारय - चंदाविज्झय - चउसरण - वीरत्थय - गणिविज्जा - दीवसागरपण्णत्ति - संगहणी - गच्छायार = इच्चाइपइण्णगाणि इक्किक्केण निव्विएग्ग वच्चंति।
   - विधिमार्गप्रपा, सम्पा. जिनविजय, पृष्ठ 57-58

श्रमण एक प्रकीर्णक की रचना करता था। समवायांगसूत्र में ''चोरासीइं पइण्णग सहस्साइं'' कहकर ऋषभदेव के चौरासी हजार प्रकीर्णकों की ओर संकेत किया गया है[3]। आज प्रकीर्णकों की संख्या निश्चित नहीं है, किन्तु वर्तमान में 45 आगामों में दस प्रकीर्णक माने जाते हैं। ये दस प्रकीर्णक निम्नलिखित हैं-

(1) चतुःशरण, (2) आतुरप्रत्याख्यान, (3) महाप्रत्याख्यान, (4) भक्तपरिज्ञा, (5) तन्दुलवैचारिक, (6) संस्तारक, (7) गच्छाचार, (8) गणिविद्या, (9) देवेन्द्रस्तव और (10) मरणसमाधि[2]।

इन दस प्रकीर्णकों के नामों में भी भिन्नता देखी जा सकती है। कुछ ग्रंथों में गच्छाचार और मरण समाधि के स्थान पर चन्द्रवेध्यक और वीरस्तव को गिना गया है[4]। कहीं भक्तपरिज्ञा को नहीं गिनकर चन्द्रवेध्यक को गिना गया है[5]। इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं यथा - ''आउरपच्चक्खाण (आतुर प्रत्याख्यान) के नाम से तीन ग्रंथ उपलब्ध होते हैं।

दस प्रकीर्णकों को श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय आगामों की श्रेणी में मानता है।[6] मुनि श्री पुण्यविजयजी के अनुसार प्रकीर्णक नाम से अभिहित इन ग्रंथों का संग्रह किया जाए तो निम्न बाईस नाम प्राप्त होते हैं-

(1) चतुःशरण, (2) आतुरप्रत्याख्यान, (3) भक्तपरिज्ञा, (4) संस्तारक, (5) तंदुलवैचारिक, (6) चन्द्रवेध्यक, (7) देवेन्द्रस्तव, (8) गणिविद्या, (9) महाप्रत्याख्यान, (10) वीरस्तव, (11) ऋषिभाषित, (12) अजीवकल्प, (13) गच्छाचार, (14) मरणसमाधि, (15) तीर्थोद्गालिक, (16) आराधनापताका (17) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, (18) ज्योतिषकरण्डक, (19) अंगविद्या,

.....

3. समवायांगसूत्र - सम्पा. मुनि मधुकर, प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; प्रथम संस्करण 1982, 84वाँ समवाय, पृष्ठ 143
4. (क) प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ 197
   (ख) जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृष्ठ 388
   (ग) आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, मुनि नगराज, पृष्ठ 486
5. पइण्णयसुत्ताइं - सम्पा. मुनि पुण्यविजय, प्रका. महावीर जैन विद्यालय, बम्बई; भाग 1, प्रथम संस्करण, 1984, प्रस्तावना पृष्ठ 20
6. अभिधान राजेन्द्र कोश भाग 2, पृष्ठ 41

(20) सिद्धप्राभृत, (21) सारावली और (22) जीवविभक्ति[7]।

इस प्रकार मुनिश्री पुण्यविजयजी ने बाईस प्रकीर्णकों में संस्तारक प्रकीर्णक का भी उल्लेख किया है। आचार्य जिनप्रभ के दूसरे ग्रंथ सिद्धान्तागमस्तव की विशालराजकृत वृत्ति में भी संस्तारक प्रकीर्णक का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[8]। इस प्रकार जहाँ नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्र की सूचियों में संस्तारक प्रकीर्णक का उल्लेख नहीं है वहाँ आचार्य जिनप्रभ की सूचियों में संस्तारक प्रकीर्णक का स्पष्ट उल्लेख है। इसका तात्पर्य यह है कि संस्तारक प्रकीर्णक नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र से परवर्ती किन्तु विधिमार्गप्रपा से पूर्ववर्ती है।

संस्तारक प्रकीर्णक :

संस्तारक प्रकीर्णक प्राकृत भाषा में निबद्ध एक पद्यात्मक रचना है। इसका प्रतिपाद्य विषय 'समाधिमरण' है। जैन परंपरा में समाधिमरण के जो पर्यायवाची प्राचीन नाम पाये जाते हैं उनमें 'संलेखना' और 'संथारा' ये दोनों नाम अति प्राचीन हैं। 'संथारा' अर्थात् संस्तर (सम् + तृ + अप्) शब्द का सामान्य अर्थ तो 'शय्या' होता है, किन्तु उपासकदशांग में 'सिज्जासंथारे' ऐसे संयुक्त प्रयोग मिलते हैं[9]। इससे स्पष्ट है कि दोनों शब्दों में आंशिक अर्थ भेद भी रहा है। वस्तुतः जैन परंपरा में 'संथारा' शब्द सामान्य 'शय्या' का सूचक नहीं होकर 'मृत्यु-शय्या' का भी सूचक रहा है। 'संथारा' शब्द का संस्कृत रूपांतरण 'संस्तारक' भी किया है। संस्तारक शब्द का एक अर्थ सम्यक् रूप से पार उतारने वाला भी होता है। ('संस्तरन्ति साधवोऽस्मिन्निति संस्तारः'[10] अर्थात् जो व्यक्ति को संसार - समुद्र से अथवा जन्म - मरण के चक्र से पार

.....

7. पइण्णयसुत्ताइं, भाग 1, प्रस्तावना पृष्ठ 18
8. वन्दे मरणसमाधिं प्रत्याख्यान 'महा' - ऽतुरौ' पपदे।
   संस्तारक - चन्द्रवेध्यक - भक्तपरिज्ञा - चतुःशरणम्॥32॥
   वीरस्तव - देवेन्द्रस्तव - गच्छाचारमपि च गणिविद्याम।
   द्वीपाब्धिप्रज्ञप्ति तण्डुलवैतालिकं च नमुः॥33॥
   - उद्धृत - H.R. Kapadia, The Canonical Literature of the Jains-P. 51
9. उवासगदसाओ : सम्पा. मुनि मधुकर, प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, वर्ष 1980, सूत्र 55
10. द्रष्टव्य है - अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग 7, पृ. 150

उतारता है वह संस्तारक (संथारा) है । इस प्रकार 'संस्तारक' शब्द वस्तुतः समाधिमरण से ही संबंधित है।

संलेखना शब्द का अर्थ जैन परंपरा में शरीर और कषाय के अपकर्षण या तनुकरण के रूप में किया जाता है[11] । यहाँ समाधिमरण या संथारे के संबंध में थोड़ी विस्तार से चर्चा करना उचित प्रतीत होता है।

जैन धर्म में संथारा (समाधिमरण) का स्वरूप :

जैन परंपरा के सामान्य आचार नियमों में संलेखना या संथारा (मृत्युवरण) एक महत्वपूर्ण तथ्य है । जैन गृहस्थ उपासकों एवं श्रमण साधकों दोनों के लिए स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का विधान जैन आगमों में उपलब्ध है। जैनागम साहित्य ऐसे साधकों की जीवन गाथाओं से भरा पड़ा है जिन्होंने समाधिमरण का व्रत ग्रहण किया था। (समाधिमरण में मनुष्य का मृत्यु पर शासन होता है, जबकि अनिच्छापूर्वक मरण में मृत्यु मनुष्य पर शासन करती है। पहले को पण्डितमरण कहा गया है जबकि दूसरे को बाल (अज्ञानी) मरण कहा गया है। एक ज्ञानीजन की मौत है और दूसरी अज्ञानी की। अज्ञानी विषयासक्त होता है इसलिए वह मृत्यु से डरता है, जबकि सच्चा ज्ञानी अनासक्त होता है इसलिए वह मृत्यु से नहीं डरताहै।[12] जो मृत्यु से भय खाता है उससे बचने के लिए भागा-भागा फिरता है, मृत्यु भी उसका सदैव पीछा करती रहती है, लेकिन जो निर्भय हो मृत्यु का स्वागत करता है और उसे आलिंगन दे देता है, मृत्यु उसके लिए निरर्थक हो जाती है। जो मृत्यु से भय खाता है, वही मृत्यु का शिकार होता है, लेकिन जो मृत्यु से निर्भय हो जाता है वह अमरता की दिशा में आगे बढ़ जाता है। साधकों के प्रति महावीर का संदेश यही था कि मृत्यु के उपस्थित होने पर शरीरादि से अनासक्त होकर उसे आलिंगन दो।[13] महावीर के दर्शन में अनासक्त जीवन शैली की यही महत्वपूर्ण कसौटी है, जो साधक मृत्यु से भागता है, वह सच्चे अर्थ में अनासक्त जीवन जीने की कला से अनभिज्ञ है। जिसे अनासक्त मृत्यु की कला नहीं आती उसे

.....

11. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग 7, पृष्ठ 217
12. 'बालाणं' तु अकामं तु मरणं असइं भवे।
    पंडियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे॥'
    - उत्तराध्ययन सूत्र, 5।32
13. वही, 5। 32

अनासक्त जीवन की कला भी नहीं आ सकती। इसी अनासक्त मृत्यु की कला को महावीर ने संलेखना व्रत कहा है। जैन परंपरा में संथारा, संलेखना, समाधिमरण, पण्डितमरण और सकाममरण आदि निष्काम मृत्युवरण के ही पर्यायवाची नाम हैं। (आचार्य समन्तभद्र संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि आपत्ति, अकाल, अतिवृद्धावस्था एवं असाध्य रोगों में शरीर त्याग करने को संलेखना कहते हैं।[14] अर्थात् जिन स्थितियों में मृत्यु अनिवार्य सी हो गई हो उन परिस्थितियों में मृत्यु के भय से निर्भय होकर देहासक्ति का विसर्जन कर मृत्यु का स्वागत करना ही संलेखना व्रत है।

समाधिमरण के भेद :

जैनागम ग्रंथों में मृत्युवरण के अवसरों की अपेक्षा के आधार पर समाधिमरण के दो प्रकार माने गये हैं - (1) सागारी संथारा और (2) सामान्य संथारा।

सागारी संथारा : जब अकस्मात् कोई ऐसी विपत्ति उपस्थित हो जाए कि उसमें से जीवित बच निकलना संभव प्रतीत न हो, जैसे आग में गिर जाना, जल में डूबने जैसी स्थिति हो जाना अथवा हिंसक पशु या किसी ऐसे दुष्ट व्यक्ति के अधिकार में फँस जाना जहाँ सदाचार से पतित होने की संभावना हो, ऐसे संकटपूर्ण अवसरों पर जो संथारा ग्रहण किया जाता है, वह सागारी संथारा कहा जाता है। यदि व्यक्ति विपत्ति या संकटपूर्ण स्थिति से बाहर हो जाता है तो वह पुनः देहरक्षण के सामान्य क्रम को चालू रख सकता है। संक्षेप में अकस्मात् मृत्यु का अवसर उपस्थित हो जाने पर जो संथारा ग्रहण किया जाता है, वह सागारी संथारा मृत्यु पर्यंत के लिए नहीं, वरन् परिस्थिति विशेष के लिए होता है। अतः उस परिस्थिति विशेष के समाप्त हो जाने पर उस व्रत की मर्यादा भी समाप्त हो जाती है[15]।

.....

14. 'उपसर्गे दुर्भिक्षे जरासि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः संलेखनामार्याः॥
- रत्नकरण्डश्रावकाचार, अध्याय 5

15. द्रष्टव्य है - अंतकृतदशांगसूत्र के अर्जुनमाली अध्याय में सुदर्शन सेठ के द्वारा किया गया सागारी संथारा।

सामान्य संथारा : जब स्वाभाविक जरावस्था अथवा असाध्य रोग के कारण पुनः स्वस्थ होकर जीवित रहने की समस्त आशाएँ धूमिल हो गई हों, तब यावज्जीवन तक जो देहासक्ति एवं शरीर-पोषण के प्रयत्नों का त्याग किया जाता है और जो देहपात पर ही पूर्ण होता है, वह सामान्य संथारा है।

समाधिमरण ग्रहण करने विधि :

जैनागमों में समाधिमरण ग्रहण करने की विधि निम्नानुसार बताई गई है- सर्वप्रथम मलमूत्रादि अशुचि विसर्जन के स्थान का अवलोकन कर नरम तृणों की शैय्या तैयार कर ली जाती है । तत्पश्चात् अरिहंत, सिद्ध और धर्माचार्यों को विनयपूर्वक नमस्कार कर पूर्वग्रहित प्रतिज्ञाओं में लगे हुए दोषों की आलोचना और उनका प्रायश्चित ग्रहण किया जाता है। इसके बाद समस्त प्राणियों से क्षमा-याचना की जाती है और अंत में अठारह पापस्थानों, अन्नादि चतुर्विध आहारों का त्याग करके शरीर के ममत्व एवं पोषण क्रिया का विसर्जन किया जाता है। साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैं पूर्णतः हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से विरत होता हूँ, अशन आदि चारों प्रकार के आहार का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ । मेरा यह शरीर जो मुझे अत्यंत प्रिय था, मैंने इसकी बहुत रक्षा की थी, कृपण के धन के समान इसे सम्भालता रहा, इस पर मेरा पूर्ण विश्वास था (कि यह मुझे कभी नहीं छोड़ेगा), इसके समान मुझे अन्य कोई प्रिय नहीं था, इसलिए मैंने इसे शीत, उष्ण, क्षुधा, तृष्णा आदि अनेक कष्टों से एवं विविध रोगों से बचाया और सावधानीपूर्वक इसकी रक्षा करता रहा, अब मैं इस शरीर का विसर्जन करता हूँ और इसके पोषण एवं रक्षण के समस्त प्रयासों का परित्याग करता हूँ।[16]

बौद्ध परंपरा में मृत्युवरण

यद्यपि बुद्ध ने जैन परंपरा के समान ही धार्मिक आत्महत्याओं को अनुचित माना है, तथापि बौद्ध साहित्य में कुछ ऐसे संदर्भ अवश्य हैं जो स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का समर्थन करते हैं। संयुक्तनिकाय में असाध्य रोग से पीड़ित भिक्षु वक्कलि कुलपुत्र[17] तथा भिक्षु[18] द्वारा की गई थी इन आत्महत्याओं का समर्थन स्वयं बुद्ध ने किया था और

.....

16. प्रतिक्रमणसूत्र - संलेखना पाठ
17. संयुक्तनिकाय, 21।2।4।5
18. संयुक्तनिकाय, 34।2।4।4

उन्हें निर्दोष कह कर दोनों ही भिक्षुओं को परिनिर्वाण प्राप्त करने वाले बताया था। जापानी बौद्धों में तो आज भी हाराकेरी की प्रथा प्रचलित है जो मृत्युवरण की सूचक है।

फिर भी जैन परंपरा और बौद्ध परंपरा में मृत्युवरण के प्रश्न को लेकर कुछ अंतर भी है। प्रथम तो यह कि जैन परंपरा के विपरीत बौद्ध परंपरा में शस्त्र के द्वारा तत्काल ही मृत्युवरण कर लिया जाता है। जैन आचार्यों ने शस्त्र के द्वारा तात्कालिक मृत्युवरण का विरोध इसलिये किया था कि उन्हें उसमें मरणाकांक्षा की संभावना प्रतीत हुई। उनके अनुसार यदि मरणाकांक्षा की संभावना प्रतीत हुई। उनके अनुसार यदि मरणाकांक्षा नहीं है तो फिर मरण के लिए उतनी आतुरता क्यों ? इस प्रकार जहाँ बौद्ध परंपरा शस्त्र के द्वारा की गई आत्महत्या का समर्थन करती है, वहाँ जैन परंपरा उसे अस्वीकार करती है। इस संदर्भ में बौद्ध परंपरा वैदिक परंपरा के अधिक निकट है।

वैदिक परंपरा में मृत्युवरण :

सामान्यतया हिन्दू धर्मशास्त्रों में आत्महत्या को महापाप माना गया है। पाराशरस्मृति में कहा गया है कि जो क्लेश, भय, घमण्ड और क्रोध के वशीभूत होकर आत्महत्या करता है, वह साठ हजार वर्ष तक नरकावास करता है।[19] महाभारत के आदिपर्व के अनुसार भी आत्महत्या करने वाला कल्याणप्रद लोकों में भी नहीं जा सकता है।[20] लेकिन इनके अतिरिक्त हिन्दू धर्मशास्त्रों में ऐसे भी अनेक संदर्भ है जो स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का समर्थन करते हैं। प्रायश्चित के निमित्त से मृत्युवरण का समर्थन मनुस्मृति (11।90-91), याज्ञवल्क्यस्मृति (3।253), गौतमस्मृति (23।1), वशिष्ठ धर्मसूत्र (20।22, 13।14) और आपस्तंबसूत्र (1।9।25।1-3, 6) में भी किया गया है। मात्र इतना ही नहीं, हिन्दू धर्मशास्त्रों में ऐसे भी अनेक स्थल हैं, जहाँ मृत्युवरण को पवित्र एवं धार्मिक आचरण के रूप में देखा गया है। महाभारत के अनुशासनपर्व (25।62-64), वनपर्व (85।83) एवं मत्स्यपुराण (186।34।35) में अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग या उपवास आदि के द्वारा देह

.....

19. पाराशरस्मृति, 4।1।2
20. मध्यभारत, आदिपर्व 179।20

त्याग करने पर ब्रह्मलोक या मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा माना गया है। अपरार्क ने प्राचीन आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि यदि कोई गृहस्थ असाध्य रोग से पीड़ित हो तथा जिसने अपने कर्तव्य कर लिए हों, वह महास्थान, अग्नि या जल में प्रवेश करके अथवा पर्वतशिखर से गिर कर अपने प्राणों का त्याग कर सकता है। ऐसा करके व ह कोई पाप नहीं करता, उसकी मृत्यु तो तपों से भी बढ़कर है। शस्त्रानुमोदित कर्तव्यों के पालन में अशक्त होने पर जीवन जीने की इच्छा रखना व्यर्थ है[21]। श्रीमदभागवत के 11वें स्कन्ध के 18वें अध्याय में भी स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण को स्वीकार किया गया है। वैदिक परंपरा में स्वेच्छा मृत्युवरण का समर्थन न केवल शास्त्रीय आधारों पर हुआ है वरन् व्यावहारिक जीवन में इसके अनेक उदाहरण भी उपलब्ध हैं। महाभारत में पाण्डवों के द्वारा हिमालय यात्रा में किया गया देहपात मृत्युवरण का एक प्रमुख उदाहरण है। डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे ने वाल्मीकी रामायण एवं अन्य वैदिक धर्मग्रंथों तथा शिलालेखों के आधार पर शरभंग, महाराजा रघु, कलचुरी के राजा गांगेय, चंदेल कुल के राजा गंगदेव, चालुक्य राज सोमेश्वर आदि के स्वेच्छा, मृत्युवरण का उल्लेख किया है[22]। मैगस्थनीज ने भी इस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी में प्रचलित स्वेच्छामरण का उल्लेख किया है। प्रयाग में अक्षयवट से कूद कर गंगा में प्राणान्त करने की प्रथा तथा काशी में करवत लेने की प्रथा वैदिक परंपरा में मध्य युग तक भी काफी प्रचलित थी[23]। यद्यपि ये प्रथाएँ आज नामशेष हो गयी हैं फिर भी वैदिक सन्यासियों द्वारा जीवित समाधि लेने की प्रथा आज भी जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल जैन और बौद्ध परंपराओं में, वरन् वैदिक परंपरा में भी मृत्युवरण को समर्थन दिया गया है। (लेकिन जैन और वैदिक परंपराओं में प्रमुख अंतर यह है कि जहाँ वैदिक परंपरा में जल एवं अग्नि में प्रवेश, गिरि-शिखर से गिरना, विष या शस्त्र प्रयोग आदि विविध साधनों से मृत्युवरण का विधान मिलता है, वहाँ जैन परंपरा में सामान्यतया केवल उपवास द्वारा ही देहत्याग का समर्थन मिलता है)। जैन परंपरा शस्त्र आदि से होने वाली तत्कालिक मृत्यु की अपेक्षा उपवास द्वारा होने वाली क्रमिक मृत्यु को ही अधिक प्रशस्त मानती है। यद्यपि ब्रह्मचर्य की रक्षा आदि

.....

21. विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य है - धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 448
22. वही, पृ. 487
23. वही, पृ. 488

कुछ प्रसंगों में तात्कालिक मृत्युवरण को स्वीकार किया गया है, तथापि सामान्यतया जैन आचार्यों ने तात्कालिक मृत्युवरण जिसे प्रकारान्तर से आत्महत्या भी कहा जा सकता है, की आलोचना की है। आचार्य समन्तभद्र ने गिरिपतन या अग्निप्रवेश के द्वारा किये जाने वाले मृत्युवरण को लोकमूढ़ता कहा है।[24] (जैन आचार्यों की दृष्टि में समाधिमरण का अर्थ मृत्यु की कामना नहीं, वरन् देहासक्ति का परित्याग है। उनके अनुसार तो जिस प्रकार जीवन की आकांक्षा दूषित मानी गई है, उसी प्रकार मृत्यु की आकांक्षा भी दूषित मानी गई है।)

समाधिमरण के दोष :

जैन आचार्यों ने समाधिमरण के लिए निम्न पाँचों दोषों से बचने का निर्देश किया है-

(1) जीवन की आकांक्षा

(2) मृत्यु की आकांक्षा।

(3) ऐहिक सुखों की आकांक्षा।

(4) पारलौकिक सुखों की आकांक्षा और

(5) इन्द्रिय - विषयों के भोग की आकांक्षा।

जैन परंपरा के समान बुद्ध ने भी जीवन की तृष्णा और मृत्यु की तृष्णा दोनों को ही अनैतिक माना है। बुद्ध के अनुसार भवतृष्णा और विभव-तृष्णा क्रमशः जीविताशा और मरणाशा की प्रतीक हैं और जब तक ये आशाएँ या तृष्णाएँ उपस्थित है तब तक नैतिक पूर्णता संभव नहीं है। अतः साधक को इनसे बचते ही रहना चाहिये। लेकिन फिर भी यह प्रश्न तो पूछा ही जाता है कि क्या समाधिमरण मृत्यु की आकांक्षा नहीं हैं ?

समाधिमरण और आत्महत्या :

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परंपराओं में जीविताशा और मरणाशा दोनों अनुचित मानी गई हैं।[25] अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या समाधिमरण मरणाकांक्षा नहीं है ? वस्तुतः यह न तो मरणाकांक्षा है और न आत्महत्या ही। व्यक्ति आत्महत्या या तो क्रोध के वशीभूत होकर करता है या फिर सम्मान या हितों

.....

24. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, गाथा 22

25. द्रष्टव्य है - दर्शन और चिन्तन : पं. सुखलालजी, पृ. 536

को गहरी चोट पहुँचने पर अथवा जीवन से निराश हो जाने पर करता है, लेकिन ये सभी चित्त की सांवेगिक अवस्थाएँ है जबकि समाधिमरण तो चित्त की समत्व की अवस्था है। अतः यह आत्महत्या नहीं कही जा सकती। दूसरे आत्महत्या या आत्म-बलिदान में मृत्यु को निमंत्रण दिया जाता है। व्यक्ति के अन्तस् में मरने की इच्छा छिपी हुई होती है, लेकिन समाधिमरण में मरणाकांक्षा का अभाव ही अपेक्षित है, क्योंकि समाधिमरण के प्रतिज्ञा-सूत्र में ही साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं मृत्यु की आकांक्षा से रहित होकर आत्ममरण करूँगा (काल अकंखमाणं विहरामि) यदि समाधिमरण में मरने की इच्छा ही प्रमुख होती तो उसके प्रतिज्ञा सूत्र में इन शब्दों को रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। जैन विचारकों ने तो मरणाशंसा को समाधिमरण का दोष ही माना है। अतः समाधिमरण को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता। जैन विचारकों ने इसीलिए सामान्य स्थिति में शस्त्र, अग्निप्रवेश या गिरिपतन आदि साधनों के द्वारा तात्कालिक मृत्युवरण को अनुचित ही माना है क्योंकि उनके पीछे मरणाकांक्षा की संभावना रही हुई है। समाधिमरण में आहारादि के त्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, मात्र देह-पोषण का विसर्जन किया जाता है। मृत्यु उसका परिणाम अवश्य है लेकिन उसकी आकांक्षा नहीं। जैसे व्रण (घाव) की चीरफाड़ के परिणामस्वरूप वेदना अवश्य होती है लेकिन उसमें वेदना की आकांक्षा नहीं होती है। एक जैन आचार्य ने कहा है कि समाधिमरण की क्रिया मरण के निमित्त नहीं होकर उसके प्रतिकार के लिए है। जैसे व्रण का चीरना वेदना के निमित्त नहीं होकर वेदना के प्रतिकार के लिए होता है।[26] यदि ऑपरेशन की क्रिया में हो जाने वाली मृत्यु हत्या नहीं है तो फिर समाधिमरण में हो जाने वाली मृत्यु आत्महत्या कैसे हो सकती है ? एक दैहिक जीवन की रक्षा के लिए है तो दूसरी आध्यात्मिक जीवन की रक्षा के लिए है। समाधिमरण और आत्महत्या में मौलिक अंतर है। आत्महत्या में व्यक्ति जीवन के संघर्षों से ऊब कर जीवन से भागना चाहता है। उसके मूल में कायरता है, जबकि समाधिमरण में देह और संयम की रक्षा के अनिवार्य विकल्पों में से संयम की रक्षा के विकल्प को चुनकर मृत्यु का साहसपूर्वक सामना किया जाता है। समाधिमरण में जीवन से भागने का प्रयास नहीं वरन् जीवन-वेला की अंतिम संध्या में द्वार पर खड़ी हुई मृत्यु का स्वागत है। आत्महत्या में जीवन से भय होता

.....

26. उद्धृत और चिंतन, पृ. 536

है, जबकि समाधिमरण में मृत्यु से निर्भयता होती है। आत्महत्या असमय मृत्यु का आमंत्रण है जबकि संथारा या समाधिमरण मात्र मृत्यु के स्थित होने पर उसका सहर्ष आलिंगन है। आत्महत्या के मूल में या तो भय होता है या कामना, जबकि समाधिमरण में भय और कामना दोनों की अनुपस्थिति आवश्यक होती है।

समाधिमरण आत्म-बलिदान से भी भिन्न है। पशु-बलि के समान आत्म-बलि की प्रथा भी शैव और शाक्त सम्प्रदायों में प्रचलित रही है। लेकिन समाधिमरण को आत्म-बलिदान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्म-बलिदान भी भावना का अतिरेक है। भावातिरेक आत्म-बलिदान की अनिवार्यता है जबकि समाधिमरण में भावातिरेक नहीं वरन् विवेक का प्रकटन आवश्यक है।

समाधिमरण के प्रत्यय के आधार पर आलोचकों ने यह कहने का प्रयास भी किया है कि जैन दर्शन जीवन से इकरार नहीं करता वरन् जीवन से इंकार करता है, लेकिन गंभीरतापूर्वक विचार करने पर यह धारणा भ्रांत ही सिद्ध होती है। उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं- वह (जैन दर्शन) जीवन से इंकार नहीं करता अपितु जीवन के मिथ्या मोह से इंकार करता है। जीवन जीने में यदि कोई महत्वपूर्ण लाभ है और वह स्व-पर की हित साधना में उपयोगी है तो जीवन सर्वतोभावेन संरक्षणीय है[27]। आचार्य भद्रबाहु भी ओघनिर्युक्त में कहते हैं- साधक का देह ही नहीं रहा तो संयम कैसे रहेगा, अतः संयम की साधना के लिए देह का परिपालन इष्ट है[28]। लेकिन देह के परिपालन की क्रिया संयम के निमित्त है अतः देह का ऐसा परिपालन जिससे संयम ही समाप्त हो, किस काम का? साधक का जीवन न तो जीने के लिए है न मरने के लिए है, वह तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सिद्धि के लिए है। यदि जीवन से ज्ञानादि आध्यात्मिक गुणों की सिद्धि एवं शुद्ध वृद्धि हो तो जीवन की रक्षा करते हुए वैसा करना चाहिए किन्तु जीवन से ही ज्ञानादि की अभिष्ट सिद्धि नहीं होती हो तो वह मरण भी साधक के लिए सर्वथा रक्षणीय है।[29]

.....

27. अमरभारती, मार्च 1965, पृ. 26

28. ओघनिर्युक्ति, गाथा 47

29. अमरभारती, मार्च 1965, पृ. 26

तुलना कीजिये - विसुद्धिमग्ग, 1।133

समाधिमरण का मूल्यांकन :

स्वेच्छामरण के संबंध में पहला प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य को प्राणान्त करने का नैतिक अधिकार है ? पं. सुखलालजी ने जैन दृष्टि से इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है उसका संक्षिप्त रूप यह है कि जैन धर्म सामान्य स्थितियों में चाहे वह लौकिक हो या धार्मिक, प्राणान्त करने का अधिकार नहीं देता लेकिन जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण, इनमें से किसी एक की पसंदगी करने का विषम समय आ गया हो तो देह का त्याग करके भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचाया जा सकता है। जैसे सती स्त्री दूसरा मार्ग न देखकर देह नाश के द्वारा भी अपने सतीत्व की रक्षा कर लेती है।[30] जब तक देह और संयम दोनों की समान भाव से रक्षा हो सके तब तक दोनों की ही रक्षा कर्तव्य है किन्तु जब एक की ही पसंदगी करने का प्रश्न आये तो सामान्यजन देह की रक्षा पसंद करेंगेऔर आध्यात्मिक संयम की उपेक्षा करेंगे, जबकि समाधिमरण का अधिकार इससे उलटा करेगा। जीवन तो दोनों ही हैं- दैहिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए प्राणान्त या अनशन की इजाजत है। पामरों, भयभीतों और लालचियों के लिये इसकी इजाजत नहीं है। भयंकर दुष्काल, तंगी आदि में देहरक्षा के निमित्त संयम से पतित होने का अवसर आ जाये या अनिवार्य रूप से मरण लाने वाली बीमारियों के कारण स्वयं को और दूसरों को निरर्थक परेशानी होती हो, फिर भी संयम और सद्गुण की रक्षा संभव न हो तब मात्र समभाव की दृष्टि से संथारे या स्वेच्छामरण का विधान है। इस प्रकार जैन दर्शन मात्र सद्गुणों की रक्षा निमित्त प्राणान्त करने की अनुमति देता है, अन्य स्थितियों में नहीं। यदि सद्गुणों की रक्षा के निमित्त देह का विसर्जन किया जाता है तो वह अनैतिक नहीं हो सकता। नैतिकता की रक्षा के लिए किया गया देह-विसर्जन अनैतिक कैसे होगा ?

जैन दर्शन के इस दृष्टिकोण का समर्थन गीता में भी उपलब्ध है। गीता कहती है कि यदि जीवित रहकर (आध्यात्मिक सद्गुणों के विनाश के कारण) अपकीर्ति की संभावना हो तो उस जीवन से मरण ही श्रेष्ठ है।[31]

आदरणीय काका कालेलकर लिखते हैं 'मृत्यु शिकारी के समान हमारे पीछे पड़े

.....

30. दर्शन और चिंतन, खण्ड-2, पृ. 533-34

31. 'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादनिरिच्यते।' - गीता 2। 34

और बचने के लिए भागते जावें यह दृश्य मनुष्य को शोभा नहीं देता। जीवन का प्रयोजन समाप्त हुआ, ऐसा देखते ही मृत्यु को आदरणीय अतिथि समझकर उसे आमंत्रण देना, उसका स्वागत करना और इस तरह से स्वेच्छा-स्वीकृत मरण के द्वारा जीवन को कृतार्थ करना यह एक सुंदर आदर्श है। आत्महत्या को नैतिक दृष्टि से उचित मानते हुए वे कहते हैं कि इसे हम आत्महत्या नहीं कहें, निराश होकर, कायर होकर या डर के मारे शरीर छोड़ देना यह एक किस्म की हार ही है। उसे हम जीवन-द्रोह भी कह सकते हैं। सब धर्मों ने आत्महत्या की निंदा की है लेकिन जब मनुष्य सोचता है कि उसके जीवन का प्रयोजन पूर्ण हुआ, ज्यादा जीने की आवश्यकता नहीं रही तब वह आत्म साधना के अंतिम रूप के तौर पर अगर शरीर छोड़ दे तो वह उसका हक है। मैं स्वयं इस अधिकार का समर्थन करता हूँ।[32]

समकालीन विचारकों में आदरणीय धर्मानन्द कौशाम्बी, महात्मा गाँधी आदि ने भी मनुष्य को प्राणान्त करने के अधिकार का समर्थन नैतिक दृष्टि से किया था। महात्माजी का कथन है कि जब मनुष्य पापाचार का वेग बलवत्तर हुआ देखता है और आत्महत्या के बिना अपने को पाप से नहीं बचा सकता तब होने वाले पाप से बचने के लिए उसे आत्महत्या करने का अधिकार है।[33] कौशाम्बीजी ने भीअपनी पुस्तक 'पार्श्वनाथ का चातुर्मास धर्म' में स्वेच्छामरण का समर्थन किया था और उसकी भूमिका में पं. सुखलालजी ने अपनी स्वेच्छा मरण की इच्छा को भी अभिव्यक्त किया था, यह उद्धृत किया है।[34]

काका कालेलकर स्वेच्छामरण को महत्वपूर्ण मानते हुए जैन परंपरा के समान ही कहते हैं कि जब तक यह शरीर मुक्ति का साधना हो सकता है तब तक अपरिहार्य हिंसा को सहन करके भी इसे जिलाना चाहिये। जब हम यह देखें कि आत्मा के अपने विकास के प्रयत्न में शरीर बाधा रूप होता है तब हमें उसे छोड़ना ही चाहिए। जो किसी हालत में जीना चाहता है उसकी निष्ठा तो स्पष्ट है ही, लेकिन जो जीवन से ऊब कर अथवा केवल मरने के लिए मरना चाहता है, तो उसमें भी विकृत शरीर-निष्ठा है। जो

.....

32. परमसखामृत्यु, पृ. 31

33. उद्धृत-परमसखामृत्यु, पृ. 26

34. पार्श्वनाथ का चातुर्मास धर्म, भूमिका

मरण से डरता है और जो मरण ही चाहता है, वे दोनों जीवन का रहस्य नहीं जानते। व्यापक जीवन में जीना और मरना दोनों का अन्तर्भाव होता है जिस तरह उन्मेष और निमेष दोनों क्रियाएँ मिलकर ही देखने की एक क्रिया पूरी होती है[35]।

भारतीय नैतिक चिन्तन में केवल जीवन जीने की कला पर ही नहीं वरन् उसमें जीवन की कला के साथ मरण की कलापर भी विचार किया गया है। नैतिक चिंतन की दृष्टि से किस प्रकार जीवन जीना चाहिये यहीं महत्वपूर्ण नहीं है वरन् किस प्रकार मरना चाहिए यह भी महत्वपूर्ण है। भारतीय नैतिक चिंतन के अनुसार मृत्यु का अवसर ऐसा अवसर है, जब हममें से अधिकांश अपने भावी जीवन का चुनाव करते हैं। गीता का कथन है कि मृत्यु के समय जैसी भावना होती है वैसी ही योनि जीव प्राप्त करता है (18। 5-6) संस्तारक प्रकीर्णक में उपलब्ध स्कन्धक मुनि की कथा यही बताती है कि जीवन भर कठोर साधना करने वाला महान साधक जिसने अपनी प्रेरणा एवं उद्‌बोधन से अपने सहचारी चार सौ निन्यानवे साधक शिष्यों को उपस्थित मृत्यु की विषम परिस्थिति में समत्व की साधना के द्वारा निर्वाण का अमृतपान कराया, वही साधक स्वयं की मृत्यु के अवसर पर क्रोध के वशीभूत हो किस प्रकार अपने साधनापथ से विचलित हो गया। वैदिक परंपरा में जड़भरत का कथानक भी यही बताता है कि इतने महान साधक को भी मरण-वेला में हरिण पर आसक्ति रखने के कारण पशु-योनि को प्राप्त होना पड़ा। उपरोक्त कथानक हमारे सामने मृत्यु का मूल्य उपस्थित कर देते हैं। मृत्यु इस जीवन की साधना का परीक्षा काल है। मृत्यु इस जीवन में लक्षोपलब्धि का अंतिम अवसर और भावी जीवन की कामना का आरंभ बिन्दु है। इस प्रकार वह अपने में दो जीवनों का मूल्य संजोए हुए है। मरण जीवन का अवश्यम्भावी अंग है, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। वह जीवन का उपसंहार है, जिसे सुंदर बनाना हमारा एक आवश्यक कर्तव्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्प्रति युग के प्रबुद्ध विचारक भी समाधिमरण को अनैतिक नहीं मानते हैं। अतः जैन दर्शन पर लगाया जाने वाला यह आक्षेप कि वह जीवन के मूल्य को अस्वीकार करता है, उचित नहीं माना जा सकता। वस्तुतः समाधिमरण पर जो आक्षेप लगाये जाते हैं उनका संबंध समाधिमरण से न होकर आत्महत्या से है। कुछ विचारकों ने समाधिमरण और आत्महत्या के वास्तविक अंतर

.....

35. परमसखामृत्यु, पृ. 19

को नहीं समझा और इसी आधार पर समाधिमरण को अनैतिक कहने का प्रयास किया, लेकिन जैसा की हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं कि समाधिमरण या मृत्युवरण आत्महत्या नहीं है इसलिए उसे अनैतिक भी नहीं कहा जा सकता। जैन आचार्यों ने स्वयं भी आत्महत्या को अनैतिक माना है लेकिन उनके अनुसार आत्महत्या समाधिमरण से भिन्न है।

डॉ. ईश्वरचन्द्र ने जीवनमुक्त व्यक्ति के स्वेच्छामरण को तो आत्महत्या नहीं माना है[36] लेकिन उन्होंने जैन परंपरा में किये जाने वाले संथारे को आत्महत्या की कोटि में रख कर उसे अनैतिक भी बताया है 1। इस संबंध में उनके तर्क का पहला भाग यह है कि स्वेच्छामरण का व्रत लेने वाले सामान्य जैन मुनि जीवनमुक्त एवं अलौकिक शक्ति से युक्त नहीं होते और अपूर्णता की दशा में लिया गया आमरण व्रत (संथारा) नैतिक नहीं हो सकता।

अपने तर्क के दूसरे भाग में वे कहते हैं कि जैन परंपरा में स्वेच्छा मृत्युवरण (संथारा) करने में यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर अधिक होता है, इसलिये वह अनैतिक भी है। जहाँ तक उनके इस दृष्टिकोण का प्रश्न है कि जीवनमुक्त एवं अलौकिक शक्ति संपन्न व्यक्ति ही स्वेच्छामरण का अधिकारी है, हम सहमत नहीं हैं। वस्तुतः स्वेच्छामरण की आवश्यकता उस व्यक्ति के लिए नहीं है जो जीवनमुक्त है और जिसकी देहासक्ति समाप्त हो गई है, वरन् उस व्यक्ति के लिए है, जिसमें देहासक्ति रही हुई है, क्योंकि समाधिमरण तो इसी देहासक्ति को समाप्त करने के लिये है। समाधिमरण तो एक साधना है और इसलिए वह जीवनमुक्त के लिए (सिद्ध के लिये) आवश्यक नहीं है। जीवनमुक्त को तो समाधिमरण सहज ही प्राप्त होता है, उसके लिए इसकी साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जहाँ तक उनके इस आक्षेप का प्रश्न है कि समाधिमरण में यथार्थ की अपेक्षा आडम्बर ही अधिक परिलक्षित होता है, उसमें आंशिक सत्यता अवश्य हो सकती है लेकिन इसका संबंध संथारे या समाधिमरण के सिद्धांत से नहीं, वरन् उसके वर्तमान में प्रचलित विकृत रूप से है, लेकिन इस आधार पर उसके सैद्धान्तिक मूल्य में कोई कमी नहीं आती है। यदि व्यावहारिक जीवन में अनेक व्यक्ति असत्य बोलते हैं तो क्या उससे सत्य के मूल्य पर कोई आँच आती है?

.....

36. पाश्चात्य आचार विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ. 273

वस्तुतः स्वेच्छामरण के सैद्धान्तिक मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

मृत्युवरण तो मृत्यु की वह कला है, जिसमें न केवल जीवन ही सार्थक होता है वरन् मरण भी सार्थक हो जाता है। आदरणीय काका कालेलकर ने खलील जिब्रान का यह वचन उद्धृत किया है कि "एक आदमी ने आत्मरक्षा हेतु खुदकुशी की, आत्महत्या की, यह वचन सुनने में विचित्र सा लगता है।"[37] आत्महत्या से आत्मरक्षा का क्या संबंध हो सकता है? वस्तुतः यहाँ आत्मरक्षा का अर्थ आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का संरक्षण है और आत्महत्या का मतलब शरीर का विसर्जन। जब नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संरक्षण के लिए शारीरिक मूल्यों का विसर्जन आवश्यक हो तो उस स्थिति में देह विसर्जन या स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण ही उचित है। आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा प्राणरक्षा से श्रेष्ठ है।

जैन साधना में समाधिमरण की साधना अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित रही है। प्राचीनतम आगम आचाराङ्ग सूत्र में समाधिमरण का उल्लेख सर्वप्रथम उसके 'विमोक्ष' नामक अष्टम अध्याय में हुआ है। इसमें वस्त्र एवं आहार के विसर्जन की प्रक्रिया को समझाते हुए अंत में देह-विसर्जन की साधना का उल्लेख हुआ है। आचाराङ्गसूत्र समाधिमरण किन परिस्थितियों में लिया जा सकता है, इसकी संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण विवेचना प्रस्तुत करता है। आचाराङ्गसूत्र में समाधिमरण के तीन रूपों का उल्लेख हुआ है- (1) भक्त प्रत्याख्यान, (2) इंगिनमरण और (3) प्रयोपगमन।[38] इसमें समाधिमरण के लिये दो बातें आवश्यक मानी गई है- (1) कषायों का कृशी करण और (2) शरीर का कृशीकरण।[39] इसमें भी मुख्य उद्देश्य तो कषायों का कृशीकरण करना है। संथारा ग्रहण करने का निश्चय कर लेने के पश्चात् भिक्षु किस प्रकार समाधिमरण ग्रहण करे, इसका उल्लेख करते हुए आचाराङ्गकार कहता है कि ऐसा भिक्षु ग्राम, नगर, कर्वट, आश्रम आदि में जाकर घास की याचना करे और उसे प्राप्त कर गाँव के बाहर एकान्त में जाकर जीव-जन्तु, बीज, हरियाली आदि से रहित स्थान को देखकर घास की शय्या तैयार करे और उस पर स्थित होकर इल्वरिक अनशन अथवा प्रायोपगमन स्वीकार करे।

.....

37. परमसखा मृत्यु, पृ. 43
38. आचाराङ्गसूत्र, 8।6।224-253
39. वही, 8।6।224

आचाराङ्गकार भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन ऐसे तीन प्रकार के समाधिमरणों का उल्लेख करता है। इसमें भक्त प्रत्याख्यान में मात्र आहारादि का त्याग किया जाता है, किन्तु शारीरिक हलन-चलन और गमनागमन आदि की कोई मर्यादा निश्चित नहीं की जाती है इंगिनीमरण में आहार त्याग के साथ ही शारीरिक हलन-चलन और गमनागमन का एक क्षेत्र निश्चित कर लिया जाता है और उसके बाहर गमनागमन का त्याग कर दिया जाता है। प्रायोपगमन या पादोपगमन में आहार आदि के त्याग के साथ-साथ शारीरिक क्रियाओं को सीमित करते हुए मृत्युपर्यन्त निश्चल रूप से लकड़ी के तख्त समान स्थिर पड़े रहना पड़ता है। वस्तुतः ये तीनों संथारे की क्रमिक अवस्थाएँ हैं।

आचाराङ्गसूत्र के पश्चात् प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगम उत्तराध्ययनसूत्र में भी समाधिमरण का विवरण उपलब्ध होता है। उसके पाँचवें अध्याय में सर्वप्रथम मृत्यु के दो रूपों की चर्चा है- (1) अकाममरण और (2) सकाममरण।[40] उसमें यह बताया गया है कि अकाममरण बार-बार होता है जबकि सकाममरण एक ही बार होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के 36वें अध्याय में समाधिमरण या संलेखना के काल और उसकी प्रक्रिया के संबंध में विवेचन हुआ है।[41]

आचारांङ्गसूत्र व उत्तराध्ययन सूत्र के पश्चात् अर्धमागधी आगमों में स्थानांङ्गसूत्र और समवायाङ्गसूत्र में समाधिमरण के कुछ संकेत हैं। स्थाराङ्गसूत्र में भगवान महावीर द्वारा अनुमोदित और अननुमोदित मरणों का उल्लेख दो-दो के वर्गों में विभाजित करके किया गया है।[42] समवायाङ्गसूत्र में मरण के निम्न सत्रह प्रकारों का उल्लेख हुआ है[43] - (1) आवीचिमरण, (2) अवधिमरण, (3) आत्यन्तिकमरण, (4) वलन्मरण, (5) वशार्तमरण, (6) अन्तःशल्यमरण, (7)तद्भवमरण, (8)

.....

40. उत्तराध्ययन सूत्र : सम्पा. मुनि मधुकर, प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, अध्ययन 5 गाथा 2
41. वही, अध्ययन 36 गाथा 251-255
42. स्थानाङ्गसूत्र सम्पा. मुनि मधुकर, प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सूत्र 2।4।411 - 416
43. समवायाङ्गसूत्र : सम्पा. मुनि मधुकर, प्रका. आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, समवाय 17 सूत्र 121

बालमरण, (9) पण्डितमरण, (10) छद्मस्थमरण, (12) केवलिमरण, (13) वैखानसमरण, (14) गृद्धपृष्ठमरण, (15) भक्त प्रत्याख्यानमरण (16) इंगिनीमरण और (17) पादोपगमनमरण। ज्ञातव्य है कि नाम एवं क्रम के कुछ अंतरों को छोड़कर मरण के इन सत्रह भेदों की चर्चा यापनीय परंपरा द्वारा मान्य ग्रंथ भगवंतों आराधना में भी मिलती है।[44] इसमें बालमरण, बालपण्डितमरण, पंडितमरण, भक्त-प्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण आदि की चर्चा है। इसी प्रकार पाँचवें अंङ्ग आगम भगवतीसूत्र में अम्बड सन्यासी एवं उसके शिष्यों द्वारा गंगा की बालू पर अदत्त जल का सेवन नहीं करते हुए समाधिमरण पूर्वक देह त्यागने का उल्लेख पाया जाता है। सातवें अङ्ग आगम उपासकदशांङ्गसूत्र में श्रावकों के द्वारा तथा आठवें अङ्ग आगम अन्तकृतदशांग एवं नवें अङ्ग आगम अनुत्तरौपपातिकसूत्र में भी अनेक श्रमण-श्रमणियों द्वारा अंगीकृत समाधिमरण के उल्लेख मिलते हैं।

उपाङ्ग साहित्य में मात्र औपपातिकसूत्र और राजप्रश्नीयसूत्र में समाधिमरण ग्रहण करने वाले कुछ साधकों के उल्लेख हैं, किन्तु इनमें समाधिमरण की अवधारणा के संबंध में कोई विवेचन उपलब्ध नहीं है।

अर्धमागधी आगम साहित्य में अङ्ग एवं उपाङ्ग ग्रंथों में समाधिमरण की चर्चा अवश्य हुई है किन्तु इनमें से कोई भी ग्रंथ ऐसा नहीं है जो मात्र समाधिमरण की ही चर्चा करता हो। समाधिमरण की चर्चा करने वाले जो स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, उन्हें अर्धमागधी आगम साहित्य में प्रकीर्णक वर्ग के अंतर्गत रखा गया है। प्रकीर्णकों में आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, संस्तारक, भक्तपरिज्ञा, मरणविभक्ति, आराधनापताका एवं आराधनासार आदि प्रमुख है। इस प्रकार जैन साहित्य में 'समाधिमरण' पर जितने अधिक स्वतंत्र ग्रंथों की रचना हुई है उतने ग्रंथ साधना के अन्य किसी पक्ष पर नहीं लिखे गये हैं। अचेल परंपरा में भी भगवती आराधना एवं आराधनासार जैसे समाधिमरण से संबंधित स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गये हैं।

.....

44. भगवती आराधना : सम्पा. कैलाशचन्द्र सिद्धांत शास्त्री, प्रका. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, वर्ष 1978 गाथा 25

समाधिमरण पर लिखे गये इन सभी ग्रंथों में परवर्ती होते हुए भी संस्तारक प्रकीर्णक का महत्वपूर्ण स्थान है, चूँकि यह ग्रंथ समाधिमरण के स्वरूप, प्रकार एवं प्रक्रिया पर संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक रूप से प्रकाश डालता है। प्रस्तुत कृति में अनेक प्रेरणात्मक गाथाएँ और समाधिमरण लेने वाले व्यक्तियों की कथाएँ निर्दिष्ट हैं जो एक साधक को सदैव समाधिमरण की स्थिति में प्रेरणा प्रदान करती हैं।

संस्तारक प्रकीर्णक के सम्पादन में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियाँ :

प्रस्तुत संस्करण का मूलपाठ मुनिश्री पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित एवं महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित 'पइण्णसुत्ताइं' ग्रंथ से लिया गया है। मुनिश्री पुण्यविजयजी ने इस ग्रंथ के पाठ निर्धारण में निम्नलिखित प्रतियों का उपयोग किया है-

1. सा. : आचार्य श्री सागरानन्दसूरिश्वरजी द्वारा संपादित एवं वर्ष 1927 में आगमोदय समिति, सूरत द्वारा प्रकाशित प्रति।
2. जे. : आचार्यश्री जिनभद्रसूरि जैन ज्ञान भंडार की ताड़पत्रीय प्रति।
3. सं. : संघवीपाड़ा जैन ज्ञान भंडार की ताड़पत्रीय प्रति।
4. पु. : मुनि पुण्यविजयजी के हस्तलिखित ग्रंथसंग्रह की प्रति।
5. हं : श्री आत्माराम जैन ज्ञान मंदिर, बड़ौदा में उपलब्ध प्रति। यह प्रति मुनि श्री हंसराजजी के हस्तलिखित ग्रंथ संग्रह की है।

इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से पइण्णयसुत्ताइं ग्रंथ की प्रस्तावना के पृष्ठ 23-27 देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

ग्रंथ रचयिता :

जहाँ तक संस्तारक प्रकीर्णक के रचयिता का प्रश्न है, हमें इस संदर्भ में न तो कोई अन्तर्साक्ष्य उपलब्ध होता है और न कोई बाह्य साक्ष्य। अतः इस प्रकीर्णक के

रचयिता के संदर्भ में पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में कुछ भी कह पाना कठिन है। प्रकीर्णक ग्रंथों के रचयिताओं के संदर्भ में मात्र देवेन्द्रस्तव और ज्योतिषकरण्डक ये दो ग्रंथ ही ऐसे है जिनमें स्पष्ट रूप से इनके रचयिताओं के नामोल्लेख हैं[45] (परवर्ती प्रकीर्णकों में वीरभद्र द्वारा रचित भक्तपरिज्ञा, कुशलानुबंधि अध्ययन 'चतुःशरण' और आराधनापताका ये तीन प्रकीर्णक ही ऐसे हैं जिनमें इनके रचयिता वीरभद्र का उल्लेख मिलता है)।[46] भक्तपरिज्ञा और कुशलानुबंधि चतुःशरण प्रकीर्णक में लेखक का स्पष्ट नामोल्लेख हुआ है। आराधनापताका प्रकीर्णक में लेखक का स्पष्ट नामोल्लेख तो नहीं हुआ है तथापि इस ग्रंथ की गाथा 51 में यह कहकर की आराधना विधि का वर्णन मैंने पहले भक्तपरिज्ञा में कर दिया है, यह स्पष्ट कर दिया है कि यह ग्रंथ भी उन्हीं वीरभद्र के द्वारा रचित है।[47] प्रकीर्णकों में चन्द्रवेध्यक, तंदुलवैचारिक, महाप्रत्याख्यान, मरणविभक्ति, गच्छाचार आदि अनेक प्रकीर्णकों के रचयिता के नाम का कहीं कोई निर्देश नहीं मिलता है। यही स्थिति संस्तारक प्रकीर्णक की भी है। अतः संस्तारक प्रकीर्णक के रचयिता कौन है ? इस संदर्भ में कुछ भी बता पाना कठिन है।

ग्रंथ का रचनाकाल :

नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्र में आगामों का जो वर्गीकरण किया गया है, उसमें संस्तारक प्रकीर्णक का कहीं कोई उल्लेख नहीं हुआ है। तत्वार्थभाष्य और दिगम्बर परंपरा की सर्वार्थसिद्धि टीका में भी संस्तारक प्रकीर्णक का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। इसी प्रकार यापनीय परंपरा के ग्रंथों में भी कहीं भी संस्तारक प्रकीर्णक का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। इससे यही फलित होता है कि पाँचवीं-छठीं शताब्दी से पूर्व इस ग्रंथ का कोई अस्तित्व नहीं था। संस्तारक प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख हमें विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ, ईसा की 13-14वीं शती)

.....

45. (क) देविंदत्थओ - पइण्णयसुत्ताइं, भाग 1, गाथा 310
    (ख) जोइसकरंडगं पइण्णयं, वही, भाग 1, गाथा 405
46. (क) भत्तपरिन्ना पइण्णयं, वही, भाग 1, गाथा 172
    (ख) कुसलानुबंधि अज्झयणं 'चउसरणपइण्णयं', वही, भाग 1 गाथा 63
    (ग) सिरिवीरभद्दायरियविरइया 'आराहणापडाया', वही, भाग 2, गाथा 51
47. 'आराहणविहिं पुण भत्तपरिण्णाइ वण्णिमी पुव्वं।
    उस्सण्णं स च्चेव उ सेसाण वि वण्णणा होइ।।
    - वही, गाथा 51

में ही मिलता है।[48] अतः रचनाकाल के संदर्भ में हम अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि (यह ग्रंथ ईसा की छठीं शताब्दी के पश्चात् और ईसा की तेरहवीं शताब्दी से पूर्व कभी रचा गया है।) इस कालावधि को थोड़ा और सीमित किया जा सकता है, जिस सीमा तक हमें जानकारी उपलब्ध हो सकी है उस आधारपर हम कह सकते हैं कि भाष्य और चूर्णी साहित्य में भी कहीं भी इस ग्रंथ का निर्देश नहीं मिलता है। भाष्य और चूर्णी साहित्य भी छठीं-सातवीं शताब्दी में रचित माना जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ सातवीं शताब्दी के पश्चात् तथा तेरहवीं शताब्दी के पूर्व कभी रचा गया है।

ग्रंथ की विषयवस्तु के आधार पर यदि हम इसका रचनाकाल निर्धारित करना चाहें तो ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ की कुल 122 गाथाओं में से 48 गाथाएँ हमें चन्द्रवेध्यक, महाप्रत्याख्यान, मरणविभक्ति आदि प्रकीर्णकों तथा दिगम्बर एवं यापनीय परंपरा द्वारा मान्य भगवती आराधना आदि ग्रंथों में उपलब्ध हुई हैं और ये सभी ग्रंथ निश्चित ही सातवीं शताब्दी के पूर्व के हैं । अतः यह मानना चाहिए कि संस्तारक प्रकीर्णक सातवीं शताब्दी के बाद की रचना है। जैसा की हम पूर्व में ही चर्चा कर चुके हैं, वीरभद्र ने अपने द्वारा रचित प्रकीर्णकों में स्पष्ट रूप से कर्ता के रूप में अपना नामोल्लेख किया है और हम यह भी पाते हैं कि दसवीं शताब्दी के पश्चात् जो भी ग्रंथ रचे गये है उनमें उनके कर्ता का स्पष्ट उल्लेख हुआ है इस आधार पर हमें ऐसा लगता है कि यह ग्रंथ दसवीं शताब्दी से पूर्व रचित है। कर्ता के रूप में अपना स्पष्ट नामोल्लेख करने की परंपरा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचार्य हरिभद्र के काल से तो है ही; जबकि प्रस्तुत ग्रंथ में कर्ता के नामोल्लेख का अभाव है। इससे प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ आचार्य हरिभद्र से भी पूर्ववर्ती रहा हो और ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि यह ग्रंथ भाष्य एवं चूर्णियों के रचनाकाल (6ठी-7वीं शताब्दी) के पश्चात् तथा हरिभद्र (8वीं शताब्दी) के पूर्व कभी रचा गया होगा। इस आधार पर हम इस ग्रंथ के रचनाकाल को ईसा की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध या 8वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कहीं मान सकते हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि हमें कोई भी ऐसा अर्न्तबाह्य साक्ष्य उपलब्ध

.....

48. "देवंदत्थय - तंदुलवेयालिय..... आउरपच्चक्खाण - संथारय - चंदा विज्झयं..... गच्छायारं - इच्चाइपइण्णगाणि इक्किक्केण निव्वीएण वच्चंति।"

नहीं होता है जो इस ग्रंथ को सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचित मानने में बाधा उपस्थित करता हो। अतः बाधक प्रमाण नहीं होने और इसकी विषयवस्तु के अन्य प्रकीर्णकों एवं दिगम्बर तथा यापनीय परंपरा द्वारा मान्य भगवती आराधना आदि ग्रंथों में उपस्थित होने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि इस ग्रंथ का रचनाकाल सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के मध्य कभी रहा होगा। इस प्रकीर्णक की भाषा मुख्यतः महाराष्टी प्राकृत है किन्तु इसमें अर्धमागधी शब्द रूप भी बहुलता से उपलब्ध होते हैं इससे यही फलित होता है कि चाहे यह ग्रंथ वल भी वाचना के बाद निर्मित हुआ हो किन्तु इसका आधार प्राचीन ग्रंथ ही रहे हैं।

ग्रंथ के रचनाकाल को लेकर हमने जो समय निर्धारित करने का प्रयास किया है वह एक अनुमान ही है। हम विद्वानों से अपेक्षा करते हैं कि इस दिशा में वे अपनी शोधवृत्ति को जारी रखते हुए इस ग्रंथ के रचनाकाल का सम्यक् निर्धारण का प्रयत्न करेंगे।

विषयवस्तु :

संस्तारक प्रकीर्णक में कुल 122 गाथाएँ हैं। ये सभी गाथाएँ समाधिमरण और उसकी पूर्व प्रक्रिया का निर्देश करती हैं। ग्रंथ में निम्नलिखित विवरण उपलब्ध होता है-

सर्वप्रथम लेखक मंगलाचरण के रूप में तीर्थंकर ऋषभदेव एवं महावीर को नमस्कार करता है। तत्पश्चात् प्रस्तुत ग्रंथ में वर्णित आचार-व्यवस्था को ध्यानपूर्वक सुनने को कहता है (1)।

ग्रंथ में समाधिमरण की साधना को सुविहितों के जीवन का साध्य मानते हुए कहा है कि जीवन के अंतिम समय से इसे स्वीकार करना सुविहितों के लिए विजय-पताका फहराने के समान है। समाधिमरण की श्रेष्ठता बतलाते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार दरिद्र व्यक्तियों के लिए सम्पत्ति की प्राप्ति, मृत्युदण्ड प्राप्त व्यक्तियों के लिए मृत्युदण्ड संबंधी आदेश का निरस्तीकरण और योद्धाओं के लिए विजय-पताका फहराना जीवन का लक्ष्य होता है उसी प्रकार सुविहितों के जीवन का लक्ष्य समाधिमरण होता है (2-3)।

मणियों में वेडूर्यमणी, सुगन्धित पदार्थों में गोशीर्ष चन्दन, रत्नों में वज्र, श्रेष्ठ पुरुषों में अरहन्त, महिलाओं में तीर्थंकरों की माताएँ, वंशों

में तीर्थंकर वंश, कुलों में श्राववककुल, गतियों में सिद्धगति, सुखों में मुक्तिसुख, धर्मों में अहिंसा धर्म, मानवीय वचनों में साधुवचन, श्रुतियों में जिनवचन तथा शुद्धियों में सम्यक्दर्शन की तरह समस्त साधनाओं में समाधिमरण श्रेष्ठ है (4-7)।

समाधिमरण को साधकों के लिए कल्याणकारी एवं आत्मोन्नति का साधन मानते हुए कहा गया है कि समाधिमरण देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। तीनों लोकों के बत्तीस देवेन्द्र भी एकाग्रचित्त से इसका ध्यान करते हैं (8)।

आगे की गाथाओं में समाधिमरण को तीर्थंकरदेव प्रणीत एवं सभी मरणों में श्रेष्ठ मरण कहा गया है। श्वेतक्रमल, कलश, स्वस्तिक आदि सभी मंगलों में भी इसी को प्रथम मंगल माना गया है (9-15)।

ग्रंथ में कहा गया है कि समाधिमरणरुपी गजेन्द्र पर आरुढ़ होकर भी उसका परिपालन वे ही व्यक्ति कर सकते हैं जो तपरूपी अग्नि से तृप्त हों, व्रतों के परिपालन में दृढ़ हों तथा जिनेश्वर देवों का ज्ञान ही जिनका विशुद्ध पाथेय हो (16)। समाधिमरण को स्वीकार करने वाले साधकों के लिए कहा है कि वस्तुतः उन्होंने संसार के सारतत्व को ही प्राप्त कर लिया है। समाधिमरण को स्वीकार करने वाले साधकों के लिए कहा है कि वस्तुतः उन्होंने संसार के सारतत्व को ही प्राप्त कर लिया है। समाधिमरण को प्राणी जगत में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ माना गया है और कहा है कि समाधिमरण पूर्वक मरकर कई मुनिजन सर्वोत्तम निर्वाण सुख को प्राप्त हुए हैं (17-22)।

प्रस्तुत ग्रंथ में विविध लक्षणों एवं उपमाओं के द्वारा समाधिमरण की विशेषता बतलाते हुए यहाँ तक कहा गया है कि अनेक प्रकार के विषयसुखों को भोगते हुए देवलोक में स्थित देवता भी किसी के समाधिमरण का चिंतन करते ही आसन और शय्याओं को त्याग देते हैं अर्थात् आसन और शय्या का त्याग कर वे उसे वंदन करते हैं (24-30)

समाधिमरण का स्वरूप निरुपण करते हुए ग्रंथ में कहा है कि जिसके मन, वचन और काय रूपी योग शिथिल हो गये हों, जो राग-द्वेष से रहित हो, त्रिगुप्ति से गुप्त हो, त्रिशल्य और मद से रहित हो, चारों कषायों को नष्ट करने वाला हो, चारों प्रकार की

विकथाओं से सदैव दूर रहने वाला हो, पाँच महाव्रतों से युक्त हो, पाँच समितियों का पालन करने वाला हो, षड्निकाय की हिंसा से विरत रहने वाला हो, सात भयों से रहित हो, आठ मदस्थानों का त्याग करने वाला हो, आठ प्रकार

के कर्मों का नाश करने वाला हो, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य गुप्तियों से गुप्त हो तथा दस प्रकार के श्रमण धर्म का पालन करता हो और सदैव सजग रहता हो, यदि वह संस्तारक पर आरुढ़ होता है तो उसका संथारा सुविशुद्ध होता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अहंकार से मदोन्मत्त हो, गुरु के समक्ष अपने अपराधों की आलोचना नहीं करता हो, दर्शन से मलिन अर्थात् मिथ्यादृष्टि और शिथिल चारित्रवाला हो, फिर भले वह श्रमण जीवन को अंगीकार करके संस्तारक पर आरुढ़ होता हो तो भी उसका संथारा अविशुद्ध ही होता है (31-43)।

संस्तारक के लाभ और सुख की चर्चा करते हुए का है कि संस्तारक पर आरुढ़ होने का प्रथम दिन ही जो लाभ होता है उस अमूल्य लाभ के मूल्य को कहने के लिए इस समय कोई समर्थ नहीं है। संख्यातभव स्थिति वाले कर्मों को भी संस्तारक पर आरुढ़ श्रमण अल्प समय में ही क्षय कर देता है। अहंकार और मोह रहित श्रमण तृणमय संस्तारक पर आरुढ़ होकर भी जिस मुक्ति सुख को प्राप्त करता है उसे चक्रवर्ती कहाँ प्राप्त कर पाता है? (44-48)।

प्रस्तुत ग्रंथ में साधना के क्षेत्र में समय की गणना को कोई महत्व नहीं दिया गया है और कहा है कि हे शिष्य! वर्षों की गणना करने वाले मत बनों, क्योंकि 'गण' में रहकर भी जन्म - मरण की प्रक्रिया को समाप्त नहीं कर पाते हैं (51)।

ग्रंथ में कहा गया है कि वर्षा ऋतु में विविध प्रकार के तपों की सम्यक् प्रकार से साधना करके हेमंत ऋतु में संस्तारक पर आरुढ़ होना चाहिए। आगे यह भी कहा है कि न तो तृणमय संस्तारक और न प्रासुक भूमि ही समाधिमरण का निमित्त है, वस्तुतः विशुद्ध चारित्र में रमण करने वाला आत्मा ही संस्तारक होता है (53-55)।

प्रस्तुत ग्रंथ में आपत्तिकाल में अकस्मात् समाधिमरण ग्रहण करने वाले जिन पंद्रह व्यक्तियों के दृष्टांत दिए गये हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। हमने आगे इन दृष्टान्तों की तुलना मरणविभक्ति प्रकीर्णक, भगवती आराधना और आगमिक व्याख्या साहित्य से की है जिससे ज्ञात होता है कि ये दृष्टांत श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में

किस रूप में उपलब्ध एवं मान्य हैं।

इन दृष्टान्तों में बताया गया है कि अर्णिकापुत्र ने गंगा नदी में नाव से फिसल जाने पर, स्कन्धक शिष्यों ने पापबुद्धि मंत्री द्वारा यंत्र में पील कर चूर-चूर कर दिये जाने पर, दण्ड मुनि ने बाणों से वींधे जाने पर, सुकोशल मुनि ने भूखी बाघीन द्वारा खाये जाने पर, अवंति सुकुमाल ने कुपित श्रृंगाली द्वारा खाये जाने पर, कार्तिकार्य ने शक्ति नामक शस्त्र के प्रहार से शरीर भेदन किये जाने पर, धर्मसिंह ने हजारों तिर्यंचों द्वारा खाये जाने पर, चाणक्य ने शत्रुञ्जय राजा द्वारा देह जलाये जाने पर, अभयघोष मुनि ने चण्डवेग द्वारा देह छिन्न-भिन्न कर दिये जाने पर, कौशाम्बो नगरी के बत्तीस मित्रों के समूहों ने नदी में बाढ़ आ जाने पर, आचार्य ऋषभसेन ने सिंहसेन नामक शिष्य द्वारा जलाये जाने पर, युवराज कुरुदत्त ने सिंबलिफली की तरह आग से जलते हुए, मुनि चिलातिपुत्र ने चीटियों द्वारा शरीर खाये जाने पर, मुनि गजसुकुमाल ने गीले चमड़े की तरह कीलें ठोककर शरीर भू-तल पर वींधे जाने पर और महावीर के दो शिष्यों ने मंखलिपुत्र गोशालक द्वारा तेजोलेश्या से जलाये जाने पर भी समाधिमरण पूर्वक शरीर त्याग कर उत्तम-अर्थ को प्राप्त किया (56-87)।

समाधिमरण ग्रहण करने वाले साधकों की क्षमाभावना का निरुपण करते हुए ग्रंथ में कहा गया है कि वह सर्वप्रकार के आहार का जीवनपर्यंत के लिए त्याग करता है अथवा प्रारंभ में वह पानक आहार (पेय-पदार्थ) ग्रहण करता है, किन्तु बाद में वह पेय-पदार्थ के आहार को भी त्याग देता है। तीन करण, तीन योग से वह अपने अपराधों के लिए समस्त संघ से क्षमायाचना करता है तथा यह अपेक्षा करता है कि माता-पिता की तरह सभी जीव भी उसे क्षमा प्रदान करें (88-91)। आगे की गाथाओं में व्यक्ति को ममत्व त्याग की प्रेरणा दी गई है और कहा है कि शरीर के प्रति ममत्वरूपी दोष के कारण संसार में स्थित कितनी ही आत्माओं ने शारीरिक एवं मानसिक दुःखों को अनंतबार भोगा है, इसलिए हे सुविहित! यदि तू मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करता है तो शरीर आदि अभ्यन्तर एवं बाह्य परिग्रहों के प्रति अपने ममत्व को त्याग दे (92-101)। तत्पश्चात् समाधिमरण ग्रहण करने वाला व्यक्ति किस प्रकार साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका एवं समस्त प्राणी वर्ग से क्षमायाचना करता है, इसका पुनः निरुपण किया गया है। साथ ही यह भी प्रतिपादित किया गया है कि समाधिमरण ग्रहण करने वाला व्यक्ति

आत्मशुद्धि हेतु स्वयं भी सभी प्राणियों को क्षमा प्रदान करता है (102-105)।

प्रस्तुत ग्रंथ के अनुसार अपने दोषों की सम्यक् प्रकार से क्षमायाचना कर संस्तारक पर आरुढ़ हुआ साधक एक लाख करोड़ अशुभ भव के द्वारा जो संख्यात कर्म बाँधे हों, उन्हें एक क्षण में ही दूर कर देता है (106-107)। आगे यह भी कहा है कि श्रेष्ठ गुरु के सान्निध्य में जो धीर व्यक्ति समाधिमरणपूर्वक देह त्यागता है, कर्मरूपी रज को क्षीण करने वाला वह व्यक्ति उसी भव में या अधिक से अधिक तीन भव में मुक्त हो जाता है (116)। इसके पश्चात् कहा गया है कि ग्रीष्मकाल में चन्द्र एवं सूर्य की सहस्त्रों प्रचण्ड किरणों से कड़ाह के समान जलती हुई शिला पर ज्ञान, दर्शन और चारित्र के द्वारा सांसारिकता पर विजय प्राप्त करने वाले साधकों ने चन्द्रकवेध्य को प्राप्त कर उत्तम अर्थ अर्थात् मोक्ष को प्राप्त किया है। (119-121)

ग्रंथकार ने ग्रंथ का समापन यह कहकर किया है कि मेरे द्वारा स्तुतित संस्तारकरूपी श्रेष्ठ गजेन्द्र पर आरुढ़ नरेन्द्रों में चन्द्र के समान श्रेष्ठ श्रमण मुझको सुख-संक्रमण अर्थात् समाधिमरण प्रदान करें (122)।

संस्तारक प्रकीर्णक की गाथाएँ आगम साहित्य, प्रकीर्णक साहित्य, आगमिक व्याख्या साहित्य एवं दिगम्बर परंपरा में आगम रूप में मान्य ग्रंथों में कहाँ एवं किस रूप में मिलती हैं, इसका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है-

संतारक-

(1) वेरुलियो व्व मणोणं, गोसीसं - चंदणं व गंधाणं।
जह व रयणेसु वइरं, तह संथारों सुविहियाणं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 4)

(2) देवा वि देवलोए भुंजंता बहुविहाइं भोगाइं।
संथारं चिंतंता आसण-सयणाइं मुंचंति॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 27)

(3) मा होह वासगणया, न तत्थ वासाणि परिगणिज्जंति।
बहवे गच्छं वुत्था जम्मण-मरणं च ते खुत्ता॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 51)

(4) न वि कारणं तणमओ संथारो न वि य फासुया भूमी।
अप्पा खलु संथारो हवइ विसुद्धे चरित्तम्मि॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 53)

(5) आसीय पोयणपुरे अज्जा नामेण पुप्फचूल त्ति।
तीसे धम्मायरिओ पविस्सुओ अन्नियापुत्तो॥

सो गंगमुत्तरंतो सहसा उस्सारिओ य नावाए।
पडिवन्न उत्तमट्ठं तेण वि आराहियं मरणं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 56, 57)

(1) वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धेसु।
वेरुलियं व माणीणं तह जझाणं होइ खवयस्स॥
(भगवती आराधना, गाथा 1890)

(2) देवा वि देवलोए, निच्चं दिव्वोहिणा वियाणित्ता।
आयरियाण सरंता आसण-सयणाणि मुच्चंति॥
(चन्द्रकवेध्यक प्रकीर्णक, गाथा 33)

(3) मा होह वासगण्णा ण तत्थ वासाणि परिगणिज्जंति।
बहवो तिरत्तवुत्था सिद्धा धीरा विरग्गपरा समणा॥
(मूलाचार, गाथा 967)

(4) (i) न वि कारणं तणमओ संथारों, न वि य फासुया भूमी।
अप्पा खलु संथारो होइ विसुद्ध मरंतस्स॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 287)

(4) (ii) न वि कारणं तणमओ संथारों, न वि य फासुया भूमी।
अप्पा खलु संथारो होइ विसुद्धो मणो जस्स॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 96)

(5) (i) णावाए णिव्वुडाए गंगामज्झे अमुज्झमाणदी।
आराधणं पवण्णो कालगओ एणियापुत्तो॥
(भगवती आराधना, गाथा 1538)

(5) (ii) एणिका नाम विख्याता चार्वी सर्वकनीयसी...
...ग्रामादिकं कदाचिच्च विहरन् गतियोगतः
उत्तरीतु समारूढ़ो नावं गङ्गानदीमसौ॥
गङ्गानदीजलान्तेऽसौ नौनिर्मग्ना निमूलतः।
समाधिमरणं प्राप्य निर्वाणमगमत् सकः
(एणिकापुत्र कथानक; बृहत्कथाकोश, कथा 130, श्लोक 4-9)

(6) पंचमहव्वयकलिया पंचसया अज्जया सुपुरिसाणं।
नयरम्मि कुंभकारे कडगम्मि निवेसिया तइया॥
पंच सया एगूणा वायम्मि पराजिएण रुट्ठेण।
जंतम्मि पावमइणा छुन्ना छन्नेण कम्मेणं॥
निम्मम-निरहंकारा नियसरीरे वि अप्पडोबद्धा।
ते वि तह छुज्जमाणा पडिवन्ना उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 58-60)

(7) दंडो त्ति विस्सुयजसो पडिमादसधारओ ठिओ पडिमं।
जउणावंके नयरे सरेहिं विद्धो सयंगीओ॥
जिणवयणनिच्छियमई नियसरीरे वि अप्पडीबद्धो।
सो वि तहविज्झमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 61-62)

(8) आसी सुकोसलरिसी चाउम्मासस्स पारणादिवसे।
ओरुहमाणो उ नगा खइओ छायाइ वग्घीए॥

धीधणियबद्धकच्छो पच्चक्खाणम्मि सुट्ठु उवउत्तो।
सो वि तहखज्जमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 63-64)

(6) (i) कुंभरकडे नगरे खंदगसीसाण जंतपीलणया।
एवं 'वहे' कहिज्जइ जह सहियं तस्स सीसेहिं ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 496)

(6) (ii) जह खंदगसीसेहिं सुक्कमहाझाणसंसियमणेहिं
न कओ मणप्पओसो पीलिज्जंतेसु जंतम्मि ॥
(वही, गाथा 444)

(iii) अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे।
आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥
(भगवती आराधना, गाथा 1550)

(7) (i) दंडो वि य अणगारो आयावणभूमिसंठिओ वीरो।
सहिऊण बाणघायं सम्मं परिनिव्वुओ भगवं ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 466)

(7) (ii) दंडो जउणावंकेण तिक्खकंडेहिं पूरिदंगो वि।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥
(भगवती आराधना, गाथा 1549)

(8) (i) सेलम्मि चित्तकुडे सुकोसलो सुट्ठिओ उ पडिमाए।
नियग जणणीए खइओ वग्घीभावं उवगयाए ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 467)

(8) (ii) मुग्गिलगिरिम्मि सुकोसलो वि सिद्धत्थदइयओ।
वग्घीए खज्जंतो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥
(भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गाथा 161)

(8) (iii) पोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवंतो।
वग्घीए वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥
(भगवती आराधना, गाथा 1535)

(8) (iv) सुकोशलाभिधो रूपी बभूव तनयोऽयोः। ...
... चातुर्मासोपवासस्थौ मौण्डिल्य धरणीतले। ...
... उपसर्ग सहित्वाऽमुं ... निर्वाणं जग्मतुर्धीरौ तद्गिरौ तौ तपाधनौ॥
(सुकोशल मुनि कथानक, बृहत्कथाकोश, कथा 152, श्लोक 2-8)

(9) उज्जेणीनयरीए अवंतिनामेण विस्सुओ आसी।
पाओवगमनिवन्नो सुसाणमज्झम्मि एगंते॥

तिन्नि रयणीओ खइओ, भल्लुंकी रुट्ठिया विकड्ढंती।
सो वि तहखज्जमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 65, 66)

(10) जल्ल-मल-पंकधारी आहारो सीलसंजमगुणाणं।
अज्जीरणो उ गीओ कत्तियअज्जो सरवणम्मि॥

रोहीडगम्मि नयरे आहारं फासुयं गवेसंतो।
कोवेण खत्तिएण य भिन्नो सत्तिप्पहारेणं॥

एगंतमणावाए विच्छिन्ने थंडिले चइअ देहं।
सो वि तह भिन्नदेहो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 67-69)

(11) पाडलिपुत्तम्मि पुरे चंदगपुत्तस्स चेव आसीय।
नामेण धम्मसीहो चंदसिरिं सो पयहिऊणं॥

कोल्लयरम्मि पुरवरे अह सो अब्भुट्ठिओ, ठिओ धम्मे।
कासीय गिद्धपिट्ठं पच्चक्खाणं विगयसोगो॥

अह सो वि चत्तदेहो तिरियसहस्सेहिं खज्जमाणो य।
सो वि तहखज्जमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 70-72)

(9) (i) सोऊण निसासमए नलिणिविमाणस्स वण्णणं धीरो।
संभरिय देवलोओ उज्जेणि अवंति सुकुमालो॥

घित्तूण समणदिक्खं नियमुज्झियसव्वदिव्व आहारो।
बाहिं वंसकुडंगे पायवगमणं निवण्णो उ॥

वोसट्ठनिसट्ठगो तहिं सो भल्लुंकियाइ खइओ उ।
मंदरगिरिनिक्कंपं तं दुक्करकारयं वंदे॥

मरणम्मि जस्स मुक्कं सुकुसुमगंधोदयं च देवेहिं।
अज्ज वि गंधवई सा तं च कुडंगी सरट्ठाणं॥

जह तेण तत्थ मुणिणा सम्मं सुमणेण इंगिणी तिण्णा।
तह तरह उत्तिमट्ठं, तं च मणे सन्निवेसेह॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 436-440)

(9) (ii) भालुंकीए करुणं खज्जंतो घोरवेयणत्तो वि।
आराहणं पवन्नो झाणेण अवंतिसुकुमालो॥
(भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गाथा 160)

(9) (iii) भल्लुक्किए करुणं खज्जंतो घोरवेयणत्तो वि।
आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावंतिसुकुमालो॥
(भगवती आराधना, गाथा 1534)

(10) (i) रोहीडगम्मि सत्तीहओ वि कुंचेण अग्गिनिवदइओ
तं वेयणमहियासिय पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥
(भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गाथा 163)

(10) (ii) रोहिडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं॥
(भगवती आराधना, गाथा 1544)

(11) चंपाए मासखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए।
धोराए धम्मघोसो पडिवण्णं उत्तमं ठाणं॥
(भगवती आराधना, गाथा 1541)

(12) पाडलिपुत्तम्मि पुरे चाणक्को नामविस्सुओ आसी।
सव्वारंभनियत्तो इंगिणिमरणं अह निवन्नो ॥

अणुलोमपूयणाए अह से सत्तुंजओ डहइ देहं।
सो वि तहडज्झमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 73,74)

(13) कायंदीनयरीए राया नामेण अभयघोसो त्ति।
तो सो सुयस्स रज्जं दाऊणं अह चरे धम्मं ॥

आहिंडिऊण वसुहं सुत्तऽथविसारओ सुयरहस्सो।
कायंदी चेव पुरी अह सो पत्तो विगयसोगो ॥

नामेण चंडवेगो, अह सो पडिछिंदई तयं देहं।
सो वि तहछिज्जमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा-75-77)

(12) (i) गोट्ठे पाओवगओ सुबंधुणा गोमए पलिवियम्मि।
डज्झंतो चाणक्को पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥
(भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गाथा 162)

(12) (ii) गोब्बर पाओवगओ सुबुद्धिणा निग्घिणेण चाणक्को।
दड्ढो न य संचलिओ, सा हु धिई चिंतणिज्जा उ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 479)

(12) (iii) गोट्ठे पाओवगदो सुबंधुणा गोच्चरे पलिवदम्मि।
डज्झंतो चाणक्को पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं॥
(भगवती आराधना, गाथा 1551)

(12) (iv) चाणक्याख्यो मुनिस्तत्र शिष्यपञ्चशतैः सह।
पादोपगमनं कृत्वा शुक्लध्यानमुपेयिवान्॥
उपसर्ग सहित्वेमं सुबन्धुविहितं तदा।
समाधिमरणं प्राप्य चाणक्यः सिद्धिमीयिवान्॥
(चाणक्यमुनि कथानक; बृहत्कथाकोश, कथा 143, श्लोक 83-84)

(13) (i) काइंदि अभयघोसो वि चंडवेगेण छिण्ण सव्वंगो।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं॥
(भगवती आराधना, गाथा 1545)

(13) (ii) आसीदभयघोषाख्यः काकन्धाख्यपुरीभवः। ...
... चण्डवेगाभिधानेन तत्पुत्रेणास्य कोपतः।
पूर्ववैरेण संछिन्नं हस्तपादचतुष्टयम्॥
सहित्वाऽभयघोषोऽपि चण्डवेगोपसर्गकम्।
केवलज्ञानमुत्पाद्य प्रयया मोक्षमक्षयम्॥
(अभयघोष मुनि कथानक ; बृहत्कथाकोश, कथा 137, श्लोक 1-12)

(14) कोसंबीनयरीए ललियघडा नाम विस्सुया आसि।
पाओवगमनिवन्ना बत्तीसं ते सुयरहस्सा॥

जलमज्झे ओगाढ़ा नईइ पूरेण निम्ममसरीरा।
... वि हु जलवहमज्झे पडिवन्ना उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 78, 79)

(15) आसी कुणालनयरे राया नामेण वेसमणदासो।
तस्स अमच्चो रिट्ठो मिच्छद्दिट्ठी पडिनिविट्ठो॥

तत्थ य मुणिवरवसहो गणिपिडगधरो तहाऽऽसि आयरिओ।
नामेण उसहसेणो सुयसागरपारगो धीरो॥

तस्साऽऽसी य गणहरो नाणासत्थत्थगहियपेयालो।
नामेण सीहसेणो वायम्मि पराजिओ रुट्ठो॥

अह सो निराणुकंपो अग्गि दाऊण सुविहियपसंते।
सो वि तहडज्झमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा-80-83)

(14) (i) जह सा बत्तीसघडा वोसट्ठ - निसिट्ठ - चत्तदेहागा
धोरा वाएण उदीरिएण विगलिम्मि ओलाइया ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 481)

(14) (ii) कोसंबीललियघडा बूढा णइपूरएण जलमज्झे।
आराधणं पवण्णा पावोवगद। अमूढमदो ॥
(भगवती आराधना , गाथा 1540)

(15) (i) वसदीए पलविदाए रिट्ठामच्चेण उसहसेणो वि।
आराधणं पवण्णो सह परिसाए कुणालम्मि ॥
(भगवती आराधना, गाथा 1552)

(15) (ii) कुलालनगर तत्र राजा वैश्रवणोऽभवत् ...
.... गणी वृषभसेनाख्यो मुनिसंघसमावृतः ..
... जितोऽयं मुनिनाऽनेन वादेन नयशालिना।
नक्तमग्निसमूहेन ज्वालिता वसतिः क्रुधा ॥
मुनि वृषभसेनाख्यो मुनीभिः सहसा सह।
उपसर्ग सहित्वाऽसौ कृतकालो दिवं ययौ ॥
(वृषभसेन मुनि कथानक, बृहत्कथाकोश, कथा 144, श्लोक 2-11)

(16) कुरुदत्तो वि कुमारो सिंबलिफालि व्व अग्गिणा दड्ढो।
सो वि तहडज्झमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 84)

(17) आसी चिलाइपुत्तो मूइंगलियाहिं चालणि व्व कओ।
सो वि तहखज्जमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 85)

(16) (i) गयपुर कुरुदत्तसुओ 'निसीहिया' अडविदेस पडिमाए।
गावि कुढिएण दड्ढो, गयसुकुमालो जहा भगवं॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 493)

(16) (ii) हत्थिणपुरगुरुदत्तो संबलिथाली व ढोणिमंतम्मि।
उज्झंतो अधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं॥
(भगवती आराधना, गाथा 1547)

(16) (iii) गुरुदत्तपंडवेहिं य गयवरकुमरेहिं तह य अवरेहिं।
माणुसकओ उवसग्गो सहिओ हु महाणुभावेहिं॥
(आराधनासार, गाथा 50)

(17) (i) जो तिहिं पएहिं धम्मं समभिगओ संजमं समारुढो।
उवसम 1 विवेग 2 संवर 3 चिलाइपुत्तं नमंसामि॥
सोएहिं अइगमाओ लोहियगंधेण जस्स कोडीओ।
खायंति उत्तिमंगं तं दुक्करकारयं वंदे॥
देहो पिपीलियाहिं चिलाइपुत्तस्स चालणि व्व कओ।
तणुओ वि मणपओसो न य जाओ तस्स ताणुवरिं॥
धीरो चिलाइपुत्तो मूइंगलियाहिं चालणी व्व कओ।
न य धम्माओ चलिओ तं दुक्करकारयं वंदे॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 428-431)

(17) (ii) अहवा चिलाइपुत्तो नाणं तहाऽमरत्तं च।
उवसम - विवेग - संवरपयसुमरणमेत्तसुयनाणो॥
(भक्तपरिज्ञा प्रकर्णक, गाथा 88)

(17) (iii) गाढप्पहारविद्धो पूइंगलियाहिं चालणीव कदो।
तध वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं॥
(भगवती अराधना , गाथा 1548)

(17) (iv) ज्ञात्वा चिलातमित्रं च कायोत्सर्ग व्यवस्थितम् ...
... दीर्घमस्तकयुक्ताभिः कोटिकाभिः पुनः पुनः।
... अहोरात्रद्वयं सार्धमुपसर्गमिमं द्रुतम सोढा
चिलातमित्रोऽआत् सिद्धि सर्वार्थपूर्वकाम्।
(चिलातमित्र कथानक ; बृहत्कथाकोश, कथा 140, श्लोक 31-36)

(18) आसी गयसुकुमालो अल्लयचम्मं व कीलयसएहिं।
धरणियले उव्विद्धो तेण वि आराहियं मरणं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 86)

(19) धीरपुरिस पण्णत्तं सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं।
धन्ना सिलायलगया साहंती उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 92)

(20) नरयगई-तिरियगई-माणुस-देवत्तणे वसंतेणं।
जं पत्तं सुह - दुक्खं, तं अणुरिते अणन्नमणो॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 93)

(21) नरएसु वेयणाओ अणोवमाओ असायबहुलाओ।
कायनिमित्तं पत्तो अणंतखुत्तो बहुविहाओ॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 94)

(22) सुविहिय! अईयकाले अणंतकालं तु आगय - गएणं।
जम्मण - मरणमणंतं अणंतखुत्तो समणुभूयं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 97)

(23) नत्थि भयं मरणसमं, जम्मणसरिसं न विज्जए दुक्खं।
जम्मण - मरणायंकं छिंद ममत्तं सरीराओ॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 98)

(24) अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवो त्ति निच्छयमईओ।
दुक्खपरिकिलेसकरं छिंद ममत्तं सरीराओ॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 99)

(18) (i) गयसुकुमालमहेसी जहदड्ढो पिइवणंसि ससुरेणं।
न य धम्माओ चलिओ तं दुक्करकारयं वंदे॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 432)

(ii) भूमीए समं कीला कोडिददेहो वि अल्लचम्मं व।
भयवं पि गयकुमारी पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं॥
(भगवती आराधना, गाथा 1536)

(19) धीरपुरिस पण्णत्तं सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं।
धन्ना सिलातलगया साहिंती अप्पणो अट्ठं॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 274)
(महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, गाथा 84)

(20) नरग-तिरिक्खगईसु य माणुसदेवत्तणे वसंतेणं।
जं सुहदुक्खं पत्तं, तं अणुचिंतिज्ज संथारे॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 381)

(21) णरएसु वेयणाओ अणोवमा सीय - उण्हवेगाओ।
कायनिमित्तं पत्ता अणंतखुत्तो बहुविहाओ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 382)

(22) सुविहिय! अईयकाले अणंतकाएसु तेण जीवेणं।
जम्मण - मरणमणंत्तं बहुभवगहणं समणुभूयं॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 385)

(23) (i) नत्थि भयं मरणसमं, जम्मण सरिसं न विज्जए दुक्खं।
तम्हा जर - मरणकरं छिंद ममत्तं सरीराओ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 402)

(23) (ii) नत्थि भयं मरणसमं, जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं।
जम्मणमरणादंकं छिंदिं ममत्तिं सरीराओ॥
(भगवती आराधना, गाथा 119)

(24) (i) अन्नं इमं सरीरं अण्णो जीवो त्ति निच्छियमईओ।
दुक्खपरिक्केसकरं छिंद ममत्तं सरीराओ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 403)

(24) (ii) अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति एव कामबुद्धी।
दुक्खपरिकीलेसकरं छिंद ममत्तं सरीराओ॥
(आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1566)

(25) जावंति केइ दुक्खा सरीरा माणसा व संसारे।
पत्तो अणंतखुत्तो कायस्स ममत्त दोसेणं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 100)

(26) तम्हा सरीरमाई ... सब्भितर - बाहिरं निरवसेसं।
छिद ममत्तं सुविहिय! जइ इच्छसि उत्तिमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 101)

(27) आयरिय उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुल गणे य।
जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 103)

(28) सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे।
सव्वं खमावइत्ता अहमवि खामेमि सव्वस्स॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 104)

(29) धीधणियबद्धकच्छा अणुत्तरविहारिणो समक्खाया।
सावयदाढगया वि हु साहंती उत्तमं अट्ठं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 110)

(30) जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमेत्तेणं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 114)

(31) अट्ठविहकम्ममूलं बहुएहिं भवेहिं संचियं पावं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं॥
(संस्तारक प्रकीर्णक, गाथा 115)

(25) जावइयं किंचि दुहं सारीरं माणसं च संसारे।
पत्तं अणंतखुत्तो कायस्स ममत्तदोसेणं ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 404)

(26) तम्हा सरीरमाई अब्भिंतर बाहिर निरवसेसं।
छिंद ममत्तं सुविहिय ! जइ इच्छासि मुच्चिउ दुहाणं ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 405)

(27) आयरिय उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुल गणे य।
जम्मि कसाओ कोइ वि सव्वे तिविहेण खामेमि ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 336)

(28) सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलि करे सीसे।
सव्वं खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 337)

(29) धीधणियबद्धच्छा अणुत्तरविहारिणो सुहसहाया।
साहिंति उत्तिमट्ठ सावयदाढंतरगया वि।
(आराधनापताका प्रकीर्णक, गाथा 741)

(30) (i) जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमेत्तेणं ॥
(मरणविभक्ति प्रकीर्णक, गाथा 135)
(महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, गाथा 101)
(तित्थोगाली प्रकीर्णक, गाथा 1223)

(ii) जं अन्नाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥
(प्रवचनसार, गाथा 3। 38)

(31) अट्ठविहं कम्मरयं बहुएहि भवेहिं संचिअं जम्हा।
तवसंजमेण धुव्वइ तम्हा तं भावओ तित्थं ॥
(आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1081)

इस तुलनात्मक अध्ययन में हम देखते हैं कि ग्रंथ की कुल 122 गाथाओं में से 48 गाथाएँ हमें विविध प्रकीर्णकों एवं भगवती आराधना आदि ग्रंथों में मिलती है। जिन प्रकीर्णकों की गाथाएँ हमें इस ग्रंथ में उपलब्ध हो रही हैं, उनमें चन्द्रवेध्यक, भक्तपरिज्ञा, महाप्रत्याख्यान और मरणविभक्ति मुख्य हैं। उनमें से भी सर्वाधिक 30 गाथाएँ मरणविभक्ति से मिलती हैं। जहाँ तक दिगम्बर परंपरा के ग्रंथों का प्रश्न है, इसकी कुछ गाथाएँ मूलाचार, प्रवचनसार, भगवती आराधना आदि में मिलती हैं। इनमें से भी सर्वाधिक 15 गाथाएँ भगवती आराधना के समरूप हैं। जैसा कि हम पूर्व में ही यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि जिन ग्रंथों में समाधिमरण की गाथाएँ/दृष्टांत मिलते हैं, वे सभी ग्रंथ निश्चय ही सातवीं शताब्दी के पूर्व के हैं। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये गाथाएँ / दृष्टांत मिलते हैं, वे सभी ग्रंथ निश्चय ही सातवीं शताब्दी से पूर्व के हैं। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये गाथाएँ संस्तारक प्रकीर्णक से उन ग्रंथों में ली गई हैं अथवा उन ग्रंथों से संस्तारक प्रकीर्णक में ली गई हैं ? चूँकि चन्द्रवेध्यक, महाप्रत्याख्यान और मरणविभक्ति आदि प्रकीर्णकों के नाम नन्दीसूत्र की सूची में उल्लिखित हैं, अतः संभावना यही है कि संस्तारक प्रकीर्णक के कर्ता ने इन गाथाओं को अमूक ग्रंथों से लिया हो और वह इनसे परवर्ती हो।

ऊपर एक अन्य तालिका में हमने आपत्तिकाल में समाधिमरण ग्रहण करने वाले कुछ व्यक्तियों के जो दृष्टांत दिये हैं, वे दृष्टांत यापनीय परंपरा मान्य भगवती आराधना में भी यथावत रूप से मिलते हैं। किन्तु यह मानना है कि इन दृष्टांतों को संस्तारककर्ता ने भगवती आराधना से लिया है, इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता है कि भगवती आराधना में समाधिमरण ग्रहण करने वालों के जोदृष्टांत दिये गये हैं वे दृष्टांत मरणविभक्ति प्रकीर्णक में भी यथावत रूप से मिलते हैं। अतः संभावना यह है कि संस्तारक और भगवती आराधना दोनों के कर्ताओं ने इन दृष्टांतों को मरणविभक्ति से ग्रहीत किया होगा। पुनः मरणविभक्ति, संस्तारक और भगवती आराधना में समाधिमरण संबंधी जो-जो दृष्टांत दिये गये हैं, वे तीनों ग्रंथों में लगभग समान हैं, इससे यह भी प्रतीत होता है कि संस्तारक प्रकीर्णक मरणविभक्ति और भगवती आराधना के या तो समकालिक होगा या इनसे किंचित परवर्ती।

संस्तारक प्रकीर्णक में आपत्तिकाल में मृत्यु सन्निकट जानकर अकस्मात्

समाधिमरण ग्रहण करने वाले जिन 15 व्यक्तियों के दृष्टांत दिये गये हैं उनमें से 9 दृष्टांत मरणविभक्ति में और प्रायः सभी दृष्टांत भगवती आराधना में उपलब्ध होते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मरणविभक्ति में इनके अतिरिक्त भी ऐसे ही कुछ और व्यक्तियों के दृष्टांत हमें मिलते हैं। जिनमें जिनधर्म श्रेष्ठी, मेतार्य, सागरचन्द्र, चन्द्रवतंसक नृप, दमदान्त महर्षि, धन्य शालिभद्र, पाँच पाण्डव, इलापुत्र और अर्हन्नक के दृष्टांत महत्वपूर्ण हैं।[1] संस्तारक, मरणविभक्ति और भगवती आराधना-इन तीनों ग्रंथों में उपलब्ध दृष्टांतों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम ये दृष्टांत मरणविभक्ति में ही दिये गये होंगे क्योंकि ये दृष्टांत श्वेताम्बर परंपरा द्वारा मान्य आगमिक व्याख्या साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। चूँकि मरणविभक्ति का उल्लेख नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्र में मिलता है[2], अतः यह मानना होगा कि मरणविभक्ति नंदीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र की रचना के पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् की पाँचवीं-छठीं शताब्दी पूर्व की रचना है। यह संभव है कि कुछ निर्युक्तियाँ जिनमें संस्तारक प्रकीर्णक के समरूप दृष्टांत उपलब्ध होते हैं वो मरण विभक्ति के पूर्व की हों, किन्तु इतना निश्चित है कि जीतकल्पभाष्य, वृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, आवश्यकचूर्णी, निशीथचूर्णी, उत्तराध्ययनचूर्णी, नन्दीचूर्णी आदि ग्रंथ जिनमें ये दृष्टांत उपलब्ध होते हैं, निश्चय ही छठीं-सातवीं शताब्दी के हैं। इस प्रकार इन कथाओं/दृष्टांतों का स्रोत तो निश्चित ही पूर्ववर्ती है। एक-दो दृष्टांतों, जैसे- कार्तिकार्य, धर्मसिंह और अभयघोष को छोड़कर शेष सभी दृष्टांत निर्युक्ति, भाष्य अथवा चूर्णी साहित्य में हमें उपलब्ध हो जाते हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्तारक प्रकीर्णक में उपलब्ध कथाए / दृष्टांत उनमें श्वेताम्बर आगमिक व्याख्या साहित्य अथवा मरणविभक्ति से ही ग्रहीत हैं।

यद्यपि अर्निकापुत्र, कार्तिकार्य, धर्मसिंह, अभयघोष और ऋषभसेन की कथाएँ हमें मरणविभक्ति में उपलब्ध नहीं हुई हैं, किन्तु इनमें से अर्निकापुत्र, अभय घोष और ऋषभसेन की कथाएँ तो भगवती आराधना में इन्हीं नामों से उपलब्ध होती हैं तथा कार्तिकार्य का नामोल्लेख वहाँ अग्निराजा के पुत्र रूप में हुआ है और धर्मसिंह का कथानक वहाँ धर्मघोष के नाम से मिलता है। अतः इस संभावना को भी हम पूरी तरह निरस्त नहीं कर सकते कि संस्तरक के लेखक के समक्ष भगवती आराधना भी रही हो।

.....

1. मरणविभक्तिपइण्णयं - पइण्णयसुत्ताइं, भाग 1, गाथा 426-485
2. (क) नन्दीसूत्र, सूत्र 73, 79-81
   (ख) पाक्षिक सूत्र, पृष्ठ 76

भगवती आराधना और संस्तारक प्रकीर्णक में उपलब्ध होने वाली एक कथा से स्पष्ट रूप से भिन्नता है। संस्तारक प्रकीर्णक में धर्मसिंह मुनि द्वारा गृद्धपृष्ठमरण नामक संथारा ग्रहण करके हजारों तिर्यंचों द्वारा खाये जाने पर भी समाधिमरणपूर्वक शरी त्याग कर उत्तम अर्थ प्राप्त करने का कथानक है, इसके स्थान पर भगवती आराधना में धर्मघोषमुनि के नाम से जो कथानक मिलता है, उस अनुसार चंपानगरी में गंगा तीर पर मासखमण की तपस्या करते हुए तृषा (प्यास) सहन करते हुए भी समाधिमरणपूर्वक शरीर त्याग कर धर्मघोष मुनि उत्तमअर्थ को प्राप्त हुए। इस प्रकार धर्मघोष और धर्मसिंह इस नाम में आंशिक समानता होते हुए भी कथा में भिन्नता है।

संस्तारक प्रकीर्णक में महावीर के दो शिष्यों को मंखलिपुत्र गोशालक के द्वारा तेजोलेश्या में जलाये जाने का दृष्टांत उपलब्ध होता है। जहाँ तक इस दृष्टांत का प्रश्न है, यह दृष्टांत श्वेतांबर परंपरा मान्य पाँचवें अंग आगम भगवतीसूत्र के पंद्रहवें शतक और आगमिक व्याख्या साहित्य में विस्तारपूर्वक मिलता है। इनमें इन दोनों शिष्यों के नाम मुनि सर्वानुभूति और मुनि सुनक्षत्र बताये गये हैं[1] किन्तु भगवती आराधना में यह कथा हमें उपलब्ध नहीं होती है। यदि संस्तारक के लेखन का आधार भगवती आराधना होता तो संस्तारक के ग्रंथकर्ता को इस कथा को संस्तारक में नहीं लेना चाहिए था, क्योंकि महावीर के दो शिष्यों को गोशालक द्वारा तेजोलेश्या से जलाये जाने का यह दृष्टांत श्वेताम्बर परंपरा में ही प्रचलित एवं मान्य है। दिगम्बर परंपरा तो केवलि में परिषहों का अभाव मानकर इस दृष्टांत को अमान्य कर देती है।

गजसुकुमाल का जो दृष्टांत संस्तारक और भगवती आराधना में उपलब्ध होता है, वह इन दोनों ग्रंथों में समान है किन्तु आगमिकधारा और मरणविभक्ति से सर्वथा भिन्न है। संस्तारक और भगवती आराधना के अनुसार गीले चमड़े की तरह सैकड़ों किलों से भू-तल पर वींध दिये जाने पर भी गजसुकुमाल समाधिमरण को प्राप्त हुए। श्वेताम्बर परंपरा में संस्तारक को छोड़कर अन्यत्र गजसुकुमाल का दृष्टांत दूसरे रूप में मिलता है। अन्तकृतदशासूत्र के अनुसार गजसुकुमाल के सिर पर उसके श्वसूर द्वारा गीली मिट्टी की पाल बाँधकर उसमें दहकते हुए अंगारे रखकर उनके सिरोभाग को जला

.....

1. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र : सम्पा. मुनि मधुकर, प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, शतक 15 सूत्र - 71-76

दिया गया किन्तु तब भी गजसुकुमाल ने समाधिभाव से उत्तम-अर्थ को प्राप्त किया।[1] इस प्रकार संस्तारक प्रकीर्णक की यह कथा श्वेताम्बर परंपरा से भिन्न किन्तु दिगम्बर परंपरा के समान है। मरणविभिक्ति में गजसुकुमाल का उदाहरण तो दिया है, किन्तु वह आगमिक परंपरा अर्थात् अन्तकृतदशासूत्र के अनुरूप ही है। इससे यह फलित होता है कि संस्तारक प्रकीर्णक में गजसुकुमारल की कथा का आधार आगमिकधारा से भिन्न कोई अन्य स्त्रोत है और यह हम पूर्व में ही निर्देश कर चुके हैं कि संस्तारक में उपलब्ध होने वाली ये कथाएँ श्वेताम्बर आगमिक व्याख्या साहित्य में उपलब्ध होती है। अचेल परंपरा में ये कथाएँ भगवती आराधना के पश्चात् हरिषेण के बृहत्कथाकोश में उपलब्ध होती हैं, किन्तु यह स्पष्ट है कि हरिषेण के बृहत्कथाकोश का आधार भगवती आराधना ही है। अतः भगवती आराधना में उपलब्ध होने वाली ये कथाएँ बृहत्कथाकोश में यथावत् मिलें, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इससे केवल इतना ही प्रतिफलित होता है कि अचेल एवं सचेल दोनों ही धराओं में ये कथाएँ समान रूप से प्रचलित रही हैं। दोनों परंपराओं में इन गाथाओं की उपलब्धि यह भी सूचित करती है कि इन दोनों का मूलस्त्रोत एक ही रहा है।

इन कथाओं/दृष्टांतों में चाणक्य का उल्लेख होने से यह भी स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि इनमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी छिपे हुए हैं। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परंपराओं में चन्द्रगुप्त और उनके प्रधान आमात्य चाणक्य को जेन परंपरा का अनुयायी बतलाया जाता है। शेष कथाओं के भी ऐतिहासिक होने की संभावना तो पूरी है किन्तु जैनेतरर अन्य स्त्रोतों से उसकी कोई पुष्टि कर पाना कठिन है। सामान्यतया यह भी स्पष्ट है कि मरणविभक्ति से उद्धृत इन कथाओं में से कोई भी कथा ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसी नहीं है जो भद्रबाहु के पश्चात् की हो। मरणविभक्ति और भगवती आराधना दोनों ग्रंथों में कथाओं की संख्या संस्तारक की अपेक्षा अधिक है। अतः इन दोनों ग्रंथों में उपलब्ध होने वाले इन कथा/दृष्टांतों का संपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है।

.....

1. अन्तगडदसाओ : सम्पा. मुनि मधुकर, प्रका. आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 8।3।22।

भगवती आराधना मूलतः यापनीय परंपरा का ग्रंथ है और यापनीय परंपरा आगमों को मान्य करती रही है। अतः भगवती आराधना में उपलब्ध होने वाली इन कथाओं का मूलस्त्रोत को मरणविभक्ति ही प्रतीत होता है। हो सकता है कि कुछ कथाओं में परंपरागत मान्यता भेद हो, किन्तु ऐसे भेद अधिक नहीं है। यह तो निश्चित है कि मरण विभक्ति भगवती आराधना से पूर्ववर्ती है क्योंकि उसमें गुण स्थान जैसा परवर्ती काल में विकसित सिद्धांत अनुपस्थित है, जबकि भगवती आराधना में यह सिद्धांत उपलब्ध है। किन्तु यह निर्णय कर पाना कठिन है कि भगवती आराधना और सस्तारक प्रकीर्णक में से कौन प्राचीन है। यद्यपि संस्तारक में हमें कहीं भी गुणस्थान की अवधारणा का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु मात्र इसी आधार पर संस्तारक को भगवती आराधना से पूर्ववर्ती कहना कठिन है।

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह भी फलित होता है कि संस्तारक की जो 48 गाथाएँ भक्तपरिज्ञा, मरणविभक्ति आदि प्रकीर्णकों एवं भगवती आराधना में समान रूप से मिलती है उनमें दृष्टांत संबंधी जो गाथाएँ हैं, वे पूर्णतः समान नहीं हैं। कहीं-कहीं तो यह देखा गया है कि जो दृष्टान्त/गाथाएँ मरणविभक्ति में विस्तारपूर्वक हैं, वे संस्तारक में अत्यंत संक्षिप्त रूप में दी गई हैं। साथ ही कुछ दृष्टांत ऐसे भी हैं जो संस्तारक में विस्तारपूर्वक हैं तो मरणविभक्ति में संक्षेप में उपलब्ध हैं। अतः विस्तार और संक्षिप्तता के आधार पर इन कथा/दृष्टांतों का पूर्वापरत्व का निश्चय कर पाना अत्यंत कठिन है, किन्तु इस प्रकार गाथाओं की विषयवस्तु की समानता होते हुए भी गाथाओं के स्वरूप में भेद होने से अथवा कहीं-कहीं एक-एक, दो-दो चरणों में स्पष्ट भेद होने से ऐसा लगता है कि संस्तारक प्रकीर्णक की रचना का आधार चाहे मरणविभक्ति आदि प्रकीर्णक रहे हों, किन्तु यह ग्रंथ मात्र संकलन नहीं है, वरन् एक स्वतंत्र रचना है।

जैन परंपरा में साधना की पूर्णता समाधिमरण में ही मानी गई है। जैसे एक विद्यार्थी वर्ष पर्यंत अभ्यास करता रहे, किन्तु परीक्षा के अवसर पर यदि वह प्रश्नों का सम्यक् उत्तर देने में असफल रहता है तो उसका वर्ष भर का परिश्रम निरर्थक हो जाता है उसी प्रकार जो साधक समाधिमरण के अवसर पर यदि असफल हो जाता है तो उसकी जीवन पर्यंत की साधना निर्मूल्य बन जाती है। यही कारण रहा कि जैनाचार्यों ने समाधिमरण की साधना को अत्यंत महत्वपूर्ण बताया और इसे पूर्ण

करने हेतु अनेक ग्रंथों की रचना की। इन ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन और अध्यापन

साधकों को न केवल समाधिमरण की दिशा में प्रेरित करेगा अपितु यह भी स्पष्ट करेगा कि वे समाधिमरण के द्वारा किस प्रकार अपनी साधना को पूर्ण बना सकें।

समाधि मरण संबंधी विविध प्रकीर्णक ग्रंथ वस्तुतः उन कुंजियों के समान हैं जो साधक को साधना की परीक्षा में सफल बना देती हैं। वस्तुतः ये ग्रंथ अनासक्त जीवन जीने की वह विधि प्रस्तुत करते हैं जिसके द्वारा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समत्व और शांति की अनुभूति की जा सकती है।

संवत्सर महापर्व

भाद्रपद शुक्ला पंचमी

23 अगस्त, 1995

सागरमल जैन

सहयोगी - सुरेश सिसोदिया

9. चउसरणपइण्णयं

पइण्णयसुत्ताइं भाग - 1 एवं 2 में कुल 27 प्रकीर्णक एवं 5 कुलक प्रकाशित हैं। इनमें चतुःशरण नामक दो प्रकीर्णक, आतुरप्रत्याख्यान नामक तीन प्रकीर्णक और आराधना नामक सात प्रकीर्णक एवं एक कुलक है। एक नाम से प्रकाशित एकाधिक प्रकीर्णकों में से आराधनापताका, चतुःश रण और आतुर प्रत्याख्यान को यदि एक-एक ही माना जाये तो कुल अठारह प्रकीर्णक होते हैं तथा दोनों भागों में अप्रकाशित अंगविज्जा[2], अजीवकम्प, सिद्धपाहुड एवं जिनविभक्ति ये चार नाम जोड़ने पर प्रकीर्णकों की कुल संख्या 22 होती है।

यद्यपि आगमों की श्रृंखला में प्रकीर्णकों का स्थान द्वितीयक है किन्तु यदि हम भाषागत प्राचीनता और अध्यात्मपरक विषयवस्तु की दृष्टि से विचार करें तो कुछ प्रकीर्णक आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन प्रतीत होते हैं। प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित आदि कुछ ऐसे प्रकीर्णक हैं जो उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगमों से भी प्राचीन हैं।[1]

प्रकीर्णक नाम से वर्गीकृत प्रायः सभी सूचियों में चतुःशरण प्रकीर्णक को स्थान मिला है। जैसा कि हम पूर्व में ही उल्लेख कर चुके हैं कि चतुःशरण प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य जिनप्रभकृत विधिमार्गप्रपा में उपलब्ध होता है। आचार्य जिनप्रभ के दूसरे ग्रंथ सिद्धान्तागमस्तव की विशाल राजकृत वृत्ति में भी चतुःशरण का स्पष्टउल्लेख मिलता है।[3] इस प्रकार जहां नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र की सूचियों में चतुःशरण

.....

1. यद्यपि मुनि श्री पुण्यविजयजी ने प्रस्तुत ग्रंथ में अंगविद्या को स्थान नहीं दिया है किन्तु "अंगविद्या", उन्हीं के द्वारा संपादित होकर प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद से प्रकाशित हो चुकी है।
2. डॉ. सागरमल जैन - ऋषिभाषित एक अध्ययन
3. वन्दे मरणसमाधि प्रत्याख्याने "महा - ऽऽतुरो" प्रपदे।
   संस्तार - चन्द्रवेध्यक - भक्तपरिज्ञा - चतुःशरणम्॥32॥
   वीरस्तव - देवेन्द्रस्तव - गच्छाचारमपि च गणिविद्याम्।
   द्वीपाब्धिप्रज्ञप्ति तण्डुलवैतालिकं च नमुः॥33॥
   उद्धृत् - H.R. Kapadia, The Canonical Literature of the Jainas, Page 51

का उल्लेख नहीं है, वहाँ आचार्य जिनप्रभ की सूचियों में चतुःशरण का स्पष्ट उल्लेख है । इसका फलितार्थ यह है कि चतुःशरण प्रकीर्णक नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र के परवर्ती किन्तु विधि मार्गप्रपा से पूर्ववर्ती है।

चतुःशरण प्रकीर्णक

पइण्णयसुत्ताइं भाग 1 को आधार बनाकर प्रस्तुत कृति में कुशलाबुबंधी चतुःशरण और चतुःशरण इन दो प्रकीर्णकों का गाथानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। कुशलानुबन्धी चतुःशरण भी चतुःशरण प्रकीर्णक का ही अपरनाम है । दोनों ही प्रकीर्णकों की यद्यपि एक भी गाथा शब्द रूप में समान नहीं है तथापि भाव रूप में दोनों प्रकीर्णकों की विषयवस्तु प्रायः समान ही है। इनमें चार गति, चार शरणा, दुष्कृत्य की निन्दा और सुकृत्य की अनुमोदना का निरूपण हुआ है।

कुशलानुबंधी चतुःशरण एवं चतुःशरणप्रकीर्णक में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियाँ

प्रस्तुत संस्करणों का मूल पाठ मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा संपादित एवं श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित ''पइण्णयसुत्ताइं'' ग्रंथ से लिया गया है। मुनिश्री पुण्यविजयजी ने इस ग्रंथ के पाठ निर्धारण में निम्नलिखित प्रतियों का उपयोग किया है-

इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से ''पइण्णयसुत्ताइं'' ग्रंथ की प्रस्तावना के पृष्ठ 23-27 देख लेने की अनुशंसा करते हैं ।

.....

1. जे. : आचार्यश्री जिनभद्रसूरि जैन ज्ञान भंडार की ताडपत्रीय प्रति।
2. हं. : श्री आत्मारामजी जैन ज्ञान मंदिर, बड़ौदा में उपलब्ध प्रति। यह प्रति मुनि श्री हंसराजजी के हस्तलिखित ग्रंथ संग्रह की है।
3. सा. : आचार्य श्री सागरानन्दसूरिश्वरजी द्वारा सम्पादित एवं वर्ष 1927 में आगमोदय समिति, सूरत द्वारा प्रकाशित प्रति।
4. ला. : लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद में संग्रहित प्रति।
5. सं. : संघ वीपाड़ा जैन ज्ञान भंडार की उपलब्ध ताड़पत्रीय प्रति।
6. पु. मुनि श्री पुणविजयजी के हस्तलिखित ग्रंथ संग्रह की प्रति।

कुशलानुबंधी चतुःशरण एवं चतुःशरण प्रकीर्णक के प्रकाशित संस्करण :

अर्धमागधी आगम साहित्य के अंतर्गत अंग, उपांग, निर्युक्ति, भाष्य, टीका आदि के साथ अनेक प्राचीन एवं अध्यात्मप्रधान प्रकीर्णकों का निर्देश भी प्राप्त होता है कि किन्तु व्यवहार में इन प्रकीर्णकों के प्रचलन में नहीं रहने के कारण अधिकांश प्रकीर्णक जन-साधारण को अनुपलब्ध ही रहे और कुछ प्रकीर्णकों को छोड़कर अन्य का प्रकाशन भी नहीं हुआ है । कुशलानुबंधी चतुःशरण प्रकीर्णक के उपलब्ध प्रकाशित संस्करणों का विवरण इस प्रकार है-

(1) चउसरण पयन्ना - जैन सिद्धांत स्वाध्याय माला, प्रकाराव जीवन श्रेयस्कर - ग्रंथमाला, रॉगडी चौक, बीकानेर, ई.सं. 1941।

(2) चउसरणपइन्नयं - प्रकरणमाला - प्रका॰ श्री जैन विद्याशाला, अहमदाबाद, ई. सं. 1905 D

(3) चउसरणपइण्णं - जैन स्वाध्यायमाला, प्रका. श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, (म.प्र.) ई.स. 1965

(4) चउसरणपइण्णयं - प्रकीर्णकदशकं, प्रका. श्री आगमोदय समिति, सूरत, ई.सं. 1927

विगत कुछ वर्षों से प्राकृत भाषा में निबद्ध कुछ प्रकीर्णकों का, संस्कृत, गुजराती और हिन्दी आदि विविध भाषाओं में अनुवाद सहित प्रकाशन हुआ है। चतुःशरण प्रकीर्णक के विविध भाषाओं में निम्नलिखित संस्करण प्रकाशित हुए हैं -

1. चतुःशरण- प्रकाशक - तत्व विवेचक सभा, वर्ष 1901, भाषा- प्राकृत, गुजराती। 2. चतुःशरण - प्रकाशक - देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार संघ, बम्बई, भाषा - प्राकृत, संस्कृत। 3. चतुःशरण - प्रकाशक - हीरालाल हंसराज, जामनगर, भाषा-प्राकृत, गुजराती। 4. चतुःशरण - प्रकाशक - मनमोहन यश स्मारक, वर्ष 1950, भाषा - प्राकृत, हिन्दी तथा वर्ष 1934, भाषा - प्राकृत।

कुशलानुबंधी चतुःशरण एवं चतुःशरण प्रकीर्णक के कर्ता

प्रकीर्णकों में चन्द्रकवैद्यक, तन्दुलवैचारिक, महाप्रत्याख्यान, मरण-विभक्ति, गच्छाचार, संस्तारक आदि अनेक प्रकीर्णकों के रचयिता के नामों का कहीं कोई निर्देश नहीं मिलता है। प्रकीर्णक ग्रंथों के रचयिताओं के संदर्भ में मात्र देवेन्द्रस्तव और ज्योतिषकरण्डक ये दो ग्रंथ ही ऐसे हैं जिनमें स्पष्ट रूप से इनके रचयिताओं के

नामोल्लेख उपलब्ध है।[4] परवर्ती प्रकीर्णकों में भक्तपरिज्ञा, कुशलानुबंधी अध्ययन, चतुःशरण् और आराधनापताका ये तीन प्रकीर्णक ही ऐसे हैं जिनमें इनके रचयिता वीरभद्र का उल्लेख मिलता है।[5] भक्त परिज्ञा और कुशलानुबंधी चतुःशरण प्रकीर्णक में लेखक का स्पष्ट नामोल्लेख हुआ है। यद्यपि आराधनापताका प्रकीर्णक में लेखक का स्पष्ट नामोल्लेख तो नहीं हुआ है तथापि इस ग्रंथ की गाथा 51 में यह कहर कि आराधना विधि का वर्णन मैंने पहले भक्तपरिज्ञा में कर दिया है, यह स्पष्ट करता है कि यह ग्रंथ भी उन्हीं वीरभद्र के द्वारा रचित है।[6] इस प्रकार कुशलानुबंधी प्रकीर्णक के रचयिता के रूप में हमें वीरभद्र का, जो स्पष्ट नामोल्लेख मिलता है, वस्तुतः वे वीरभद्र कौन थे, यह जिज्ञासा की जा सकती है। जैन परंपरा में वीरभद्र को महावीर के साक्षात् शिष्य के रूप में उल्लिखित किया जाता है। किन्तु प्रकीर्णक ग्रंथों के विषयवस्तु का अध्ययन करने से यह फलित होता है कि वे भगवान महावीर के समकालीन नहीं है। एक अन्य वीरभद्र का उल्लेख वि.सं. 1008 का मिलता है।[1] संभवतः कुशलानुबंधी चतुःशरण की रचना इन्हीं वीरभद्र के द्वारा हुई हो। हमारे इस कथन की पुष्टि इस कारण भी होती है कि कुशलानुबंधी चतुःशरण का उल्लेख नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में वर्गीकृत आगमों की सूची में नहीं है।[7]

कुशलानुबंधी चतुःशरण एवं चतुःशरण प्रकीर्णक का रचनाकाल

नंदीसूत्र और पाक्षिक सूत्र में आगमों का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें कुशलानुबंधी चतुःशरण प्रकीर्णक का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। तत्वार्थ भाष्य और दिगंबर परंपरा की सर्वार्थसिद्धि टीका में भी कुशलानुबंधी चतुःशरण प्रकीर्णक का कहीं कोई उल्लेख नहीं हुआ है। इसी प्रकार यापनीय परंपरा के ग्रंथों में भी कहीं भी कुशलानुबंधी चतुःशरण प्रकीर्णक का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। इससे यही फलित होता है कि छठी शताब्दि से पूर्व इस ग्रंथ का कोई अस्तित्व नहीं था। कुशलानुबंधी चतुःशरण प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख विधिमार्गप्रपा में मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि कुशलानुबंधी चतुःशरण प्रकीर्णक नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्र के परवर्ती अर्थात् छठी शताब्दी के पश्चात् तथा विधिमार्गप्रपा अर्थात् 14वीं शती से पूर्व अस्तित्व में आ चुका था। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि ग्रंथ की गाथा में ग्रंथ के रचयिता के रूप में जिन वीरभद्र का नामोल्लेख हुआ है, वे भी ग्यारहवीं शताब्दि के आचार्य रहे हैं। अतः यदि हम रचनाकाल को और सीमित करना चाहें तो यह कालावधि ग्यारहवीं शताब्दि से चौदहवीं शताब्दि के मध्य कभी मानी जा सकती है।

विषय वस्तु :

''चतुःशरण'' नामक प्रस्तुत कृति में कुशलानुबंधी चतुःशरण एवं चतुःशरण प्रकीर्णक की क्रमशः 63 एवं 27 कुल 90 गाथाओं का अनुवाद किया गया है। ये सभी गाथाएँ सामायिक से चारित्र की शुद्धि, चतुर्विंशति, जिनस्तवन से दर्शन विशुद्धि, वंदन से ज्ञान की निर्मलता, प्रतिक्रमण से ज्ञान-दर्शन और चारित्र की विशुद्धि, कायोत्सर्ग से तप की विशुद्धि तथा प्रत्याख्यान से वीर्य की विशुद्धि का विवेचन प्रस्तुत करती हैं।

कुशलानुबंधी चतुःशरण नामक ग्रंथ में निम्नलिखित विवरण उपलब्ध होता है-

सर्वप्रथम लेखक अर्थाधिकार में सावद्ययोगविरति, उत्कीर्तन, गुणव्रत अंगीकार, स्खलित की निंदा, व्रण चिकित्सा तथा गुणधारण इन छः आवश्यकों का नामोल्लेख करता है। (1) तत्पश्चात् इन छः आवश्यकों का विस्तार निरुपण करते हुए ग्रंथकार कहता है कि सामायिक के द्वारा सावद्ययोग आदि पापकर्मों का परित्याग कर एवं उनके असेवन से व्यक्ति सम्यक् चारित्र की विशुद्धि प्राप्त करता है (2)।

ग्रंथानुसार जिनेन्द्र देवों के अतिशय युक्त गुणों के संकीर्तन के द्वारा व्यक्ति सम्यक् दर्शन की विशुद्धि प्राप्त करता है (3)। तथा आचार्य, उपाध्याय आदि के प्रति समर्पण एवं उन्हें विधिपूर्वक वंदन करने से व्यक्ति सम्यक् ज्ञान की विशुद्धि प्रापत करता है (4)।

प्रतिक्रमण का महत्व एवं लाभ निरुपित करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने दोषों की विधि पूर्वक आलोचना और प्रतिक्रमण करता है, वह व्यक्ति प्रतिक्रमण द्वारा अपनी आत्म विशुद्धि करता है (5)।

तत्पश्चात् ग्रंथकार कहता है कि जिस प्रकार चिकित्सा के द्वारा व्रण अर्थात् घाव का उपचार होता है, उसी प्रकार यथाक्रम से प्रतिक्रमण तथा कायोत्सर्ग के द्वारा चारित्र की शुद्धि होती है (6)। गुणधारणा नामक छठे आवश्यक का विस्तार से निरुपण करते हुए कहा गया है कि गुणधारण तथा प्रत्याख्यान के द्वारा तपाचार तथा वीर्याचार की शुद्धि की जा सकती है।

प्रस्तुत ग्रंथ में निम्नलिखित चौदह स्वप्नों का नामोल्लेख हुआ है - 1. हाथी, 2. वृषभ, 3. सिंह, 4. अभिषेक युक्त लक्ष्मी, 5. फूलों की माला, 6. चन्द्रमा, 7. सूर्य, 8. ध्वजा, 9. कुंभ, 10. पद्मसरोवर, 11. सागर (क्षीर समुद्र), 12. देव विमान या भवन, 13. रत्नराशि और 14. निधूर्म अग्नि।

ग्रंथकार ग्रंथ के प्रारंभ में मंगल स्वरूप अमरेन्द्र, नरेन्द्र और मुनिन्द्र के द्वारा वंदित, महावीर को नमन करता है (9)। आगे की गाथा में ग्रंथकार कहता है कि साधु-समूह को कुशलता के लिए चतुःशरण गमन, दुष्कृत की निंदा और सुकृत की अनुमोदना करनी चाहिए (10)। चतुःशरण गमन की चर्चा करते हुए कहा गया है कि चतुर्गति का नाश करने वाला तथा अरहंत, सिद्ध, साधु और केवलिकथित सुखप्रद धर्म- इन चार शरणों को प्राप्त करने वाला व्यक्ति धन्य है (11)।

अरहंत की विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि वे राग-द्वेष तथा मोह का हरण करने वाले, आठ कर्मों तथा विषय-कषाय रूपी दुश्मनों का नाश करने वाले, अमरेन्द्र एवं नरेन्द्र द्वारा पूजित, स्तुतित, वंदित और शाश्वत सुख देने वाले, मुनि जोगेन्द्र तथा महेन्द्र के ध्यान को तथा दूसरे के मन को जानने वाले, धर्मकथा कहने वाले, सभी जीवों की रक्षा करने वाले, सत्य वचन बोलने वाले, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, चौंतीस अतिशयों को धारण करने वाले, तीनों लोकों को अनुशासित करने वाले, लोक में स्थित जीवों का उद्धार करने वाले, अत्यद्भूत गुण वाले, चन्द्रमा के समान अपने यश को प्रकाशित करने वाले, अहिंसादि पाँच महाव्रतों का पालन करने वाले, वृद्धावस्था तथा मृत्यु से विमुक्त, समस्त दुःखों से पीड़ित जीव के लिए शरणभूत तथा समस्त प्राणियों के लिए त्रिभुवन के समान मंगलकारी है। (12-22)।

सिद्धों की शरण अंगीकार करने हेतु सिद्धों की विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि वे अष्ट कर्मों का क्षय करने वाले, ज्ञान से युक्त, दर्शन से समृद्ध तथा सर्वार्थलब्धि से सिद्ध, परमतत्व के जानकार, चिंता रहित, सामर्थ्यवान, मंगलकारी, निर्वाण प्राप्त, वस्तु स्वरूप को यथार्थ रूप में जानने वाले, मनः व्यापार का त्याग करने वाले, प्रतिकूलता में प्रेरणा देने वाले, बीज रूप संसार को ध्यानरूपी अग्नि से समग्रतया दग्ध करने वाले, परमानंद को प्राप्त, गुण सम्पन्न, भव सागर से पार कराने वाले, समस्त द्वन्द्वों का क्षय करने वाले, हिंसा आदि से विमुक्त तथा संपूर्ण जगत को स्तंभ की तरह धारण करने वाले हैं (23-28)।

ग्रंथकार साधु शरण ग्रहण करने हेतु साधु शरण की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं कि साधुजन नवकोष्टि ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, पृथ्वी की तरह शांत, समस्त जीवलोक के बांधव, दुर्गति रूप समुद्र से पार उतारने वाले, मोक्षसुख प्राप्त कराने वाले, केवली के समान उत्कृष्ट ज्ञान वाले, श्रुतधर के समान विपुल बुद्धि वाले, पूर्व अंग एवं

उपांग ग्रंथों के ज्ञाता, क्षीराश्रव, मध्वाश्रव, संभिन्नस्रोत लब्धिवाले, कोष्ठ बुद्धि वाले, चारण शक्ति वाले, वैक्रिय शरीर वाले, पादगमन करने वाले, वैर-विरोध से मुक्त, कभी द्वेष नहीं करने वाले, प्रशांत मुख-मुद्रा वाले, इष्ट गुणों से युक्त, मोह का नाश करने वाले, स्नेहरूपी बंधन को नष्ट करने वाले, अहंकार से रहित, परमसुख की कामना करने वाले, मनोरम आचरण करने वाले, विषय-कषाय से मुक्त, घर-परिवार से रहित, विषय-भोगों से रहित, हर्ष, विषाद, कलह एवं शोक से रहित, हिंसादि दोष से रहित, करुणा करने वाले, स्वयंभू के समान सुंदर, अजर-अमर पद से परिवेष्ठित, सुकृत पुण्य करने वाले, काम-विकार से घृणा, चोर वृत्ति एवं संभोग से रहित तथा गुण रूपी रत्नों से विभूषित हैं (30-39)। साधुओं की चर्चा के प्रसंग में ही आगे एक गाथा में यह भी कहा गया है कि वे ही साधु उत्तम हैं जो आचार्यों को भी सम्यक् रूप से स्थिर रखते हैं। ग्रंथकार ने यहाँ इसी रूप में साधु शब्द का अर्थ ग्रहित किया है और ऐसे साधुओं की ही शरण में जाने का कथन किया है (40)।

केवलि प्ररुपित धर्म की शरण अंगीकार करने हेतु ग्रंथकार कहता है कि मैं साधु शरण अंगीकार कर जिनधर्म की शरण में जाता हूँ। यह जिनधर्म निश्चय ही आनंद, रोमांच, प्रपंच और कंचुक आदि को कृश करने वाला है। ग्रंथकार आगे यह भी कहता है कि जिसके द्वारा मनुष्य और देवताओं के सुखों को प्राप्त कर लिया गय है, वह सुख मुझे प्राप्त हो या न हो, किन्तु मैं मोक्ष सुख प्राप्त करने वाला जिनधर्म की शरण में जाता हूँ। तदुपरान्त जिनधर्म को पापकर्मों को गलाने वाला, शुभ कर्म उत्पन्न कराने वाला, कुकर्मो का तिरस्कार करने वाला, जन्म-जरा-मरण और व्याधि आदि में साथ रहने वाला, काम और प्रमोद को शांत करने वाला, जाने - अनजाने में वैर-विरोध नहीं कराने वाला, मोक्ष दिलाने वाला, नरकगति में जाने से रोकने वाला, कामरूपी योद्धा को मारने वाला तथा दुर्गति को हरण करने वाला कहा गया है (41-48)।

चारशरण की चर्चा करने के पश्चात् ग्रंथकार दुष्कृत की गर्हा के प्रसंग में कहता है कि दुष्कृत की गर्हा करने वाला अशुभ कर्मों का क्षय करता है। ग्रंथकार यह भी कहता है कि इस भव और परभव में मिथ्यात्व की प्ररुपण करने वाले, पापजनक क्रिया करने वाले, जिनवचन के प्रतिकूल आचरण करने वालों की तथा उनके पापों की मैं गर्हा अर्थात् निंदा करता हूँ। (49-50)।

आगे की गाथाओं में ग्रंथकार कहता है कि मिथ्यात्व और अज्ञात से अरहंत

आदि के प्रति जो निंदनीय वचन मैंने कहे हैं तथा अज्ञान के द्वारा जो कुछ मैंने कहा है, उन सब पापों की मैं इस समय गर्हा करता हूँ। श्रुत, धर्म, संघ और साधुओं के प्रति जो पाप और प्रतिकूल आचरण मैंने किये हैं उनकी और अन्य दूसरे पापों की मैं इस समय गर्हा करता हूँ। अन्य जीवों के प्रति मैत्री और करुणा रखते हुए भी भिक्षाचार्या में मैंने इन जीवों को जो परिताप और दुःख पहुँचाया है, उन पापों की मैं इस समय निंदा करता हूँ। ग्रंथकार दुष्कृत गर्हा की चर्चा यह कहकर पूर्ण करता है कि मन-वचन-काया तथा कृत-कारिता और अनुमोदन पूर्वक जो धर्म विरुद्ध अशुद्ध आचरण मैंने किया है उन सब पापों की मैं गर्हा करता हूँ (51-54)।

दुष्कृत गर्हा के पश्चात् सुकृत अनुमोदना की चर्चा करते हुए ग्रंथकार कहता है कि अरहंतों में अरहंतत्व, सिद्धों में सिद्धत्व, आचार्यों में आचार्यत्व, उपाध्यायों में उपाध्यायतत्व, साधुओं में साधुत्व, श्रावकजनों में श्रावकत्व और सम्यक् दृष्टियों में सम्यकत्व इन सबका मैं अनुमोदन करता हूँ तथा वीतराग के वचनानुसार जो कुछ भी सुकृत है, उनकी सर्वे समय में त्रिविध रूप से मैं अनुमोदना करता हूँ (55-58)।

ग्रंथ में चतुःशरण गमन आदि का फल निरुपण करते हुए कहा गया है कि चतुःशरण गमन का आचरण करने वाला जीव नित्य शुभ परिणाम वाला होता है। कुशल स्वभावी जीव शुभ अनुभाव का बंधन करता है। आगे कहा गया है कि मंद अनुभाव से बद्ध जीव मंद अशुभ बंधन बांधता है। आगे ग्रंथकार कहता है कि नित्य संक्लेश में बंधकर त्रिकाल में भी सुकृत फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु असंक्लेश में सुकृत फल की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा विज्ञजनों ने कहा है।

चतुःशरण गमन नहीं करने वाले जीव के लिए कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप चतुर्विध धर्म-जिनधर्म का अनुपालन नहीं करने वाला, चतुःशरण गमन नहीं जाने वाला तथा जिसने नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवता ऐसे चतुर्गति रूप संसार का छेदन नहीं किया है, ऐसा जीव मनुष्य जन्म को हार जाता है (59-62)।

ग्रंथकार ग्रंथ का समापन यह कहकर करता है कि हे जीव! वीरभद्र रचित इस अध्ययन का प्रमाद रहित होकर जो तीनों समय में ध्यान करता है, वह निर्वाण सुख प्राप्त करता है (63)।

चतुःशरण प्रकीर्णक की विषयवस्तु का निरुपण निम्न चार परिच्छेदों में हुआ है-

1. अर्थाधिकार, 2. चतुःशरण गमन, 3. दुष्कृत गर्हा और 4. सुकृत अनुमोदना।

कुशलानुबंधी चतुःशरण की तरह ही चतुःशरण प्रकीर्णक के अर्थाधिकार में कहा गया है कि समान आचार वाले साधु समूह को कुशलता के लिए चतुःशरण गमन, दुष्कृत की निंदा और सुकृत की अनुमोदना करनी चाहिये। चतुःशरण गमन नामक परिच्छेद में कुशलानुबंधी चतुःशरण की तरह ही अरहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म इन चारशरणों की अनुमोदना का संक्षिप्त विवेचन है (2-6)।

कुशलानुबंधी चतुःशरण में विवेचित दुष्कृत गर्हा परिच्छेद की तरह भावगत समानता होते हुए भी चतुःशरण प्रकीर्णक की गाथाओं में आंशिक भिन्नता है।

दुष्कृत गर्हा परिच्छेद में ग्रंथकार कहता है कि अनंत संसार में अनादि मिथ्यात्व, मोह और अज्ञान के द्वारा जो - जो कुतीर्थ मेरे द्वारा किये गये, उन सबको मैं त्रिविध रूप से त्यागता हूँ। रति पूर्वक जीवोत्पत्ति, जीवाघात अथवा कलह आदि जो कुछ भी मेरे द्वारा किया गया, उन सबको मैं आज त्रिविध रूप से त्यागता हूँ। वैर - परंपरा, कषाय -कलुषता और अशुभ लेश्या के द्वारा जीवों के प्रति मेरे द्वारा जो कुछ भी पाप किया गया है, उनको मैं त्यागता हूँ। इष्ट शरीर, कुटुम्ब, उपकरण और जीवों के उपघात की जनक जो भी मनोवृत्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, उन सबकी मैं निंदा करता हूँ। अनवरत पापकर्मों में आसक्त रहने के कारण जन्म-मरण के निमित्त से शरीर का ग्रहण और परित्याग करते हुए मैं जो पापों में आसक्त हुआ हूँ तो उसका त्रिविध रूप से परित्याग करता हूँ। आगे ग्रंथकार कहता है कि लोभ, मोह और अज्ञान के द्वारा सम्पत्ति को प्राप्त कर तथा उसे धारण कर जिस अशुभ स्थान को मैंने प्राप्त किया है उसको मन, वचन एवं काया के द्वारा त्यागता हूँ। जो गृह, कुटुम्ब और स्वजन मेरे हृदय को अतिप्रिय रहे किन्तु फिर भी मुझे उनका परित्याग करना पड़ा, उन सभी के प्रति अपने अपने ममत्व का परित्याग करता हूँ। आगे ग्रंथकार कहता है कि हल, ऊँखल, शस्त्र, यंत्र आदि का इन्द्रियों के द्वारा रतिपूर्वक परिभोग किया हो, मिथ्यात्व भाव से कुशास्त्रों, पापीजनों और दुराग्रहियों को उत्पन्न किया हो तो उन सबकी मैं लोक में निंदा करता हूँ। अज्ञान, प्रमाद, अवगुण, मूर्खता और पापबुद्धि के द्वारा अन्य जो कुछ भी पाप कर्म मैंने किये हों, उन सबका त्रिविध रूप से मैं प्रतिक्रमण करता हूँ (7-10)।

दुष्कृत गर्हा के पश्चात् सुकृत अनुमोदना की चर्चा करते हुए ग्रंथकार कहता है कि देह, स्वजन, व्यापार, धन-सम्पत्ति तथा ज्ञान और कौशल इनका जो उपयोग सद्धर्म में हुआ हो तो उन सबका मैं अनुमोदन करता हूँ। आगे ग्रंथकार कहता है कि

उत्तम संतदेशना सुनी हो, जीवों को सुख पहुँचाया हो तथा और भी जो कुछ सद्धर्म किया हो, उन सबका मैं त्रिविध रूप से बहुमान करता हूँ। धर्मकथा के द्वारा परोपकार करने वाले, ज्ञान के द्वारा मोह को जीतने वाले, गुणों के प्रकाशक जिन भगवान् की त्रिविध रूप से मैं अनुमोदना करता हूँ। दर्शन, ज्ञान और चारित्र के द्वारा सभी कर्मों के क्षय से शुभभाव और सिद्धों के सिद्ध भाव की त्रिविध रूप से मैं अनुमोदना करता हूँ। तत्पश्चात् आगे की गाथाओं में आचार्य, उपाध्याय, साधु और श्रावकजनों के शुभ कार्यों की ग्रंथकार द्वारा अनुमोदना करने का विवेचन है। ग्रंथकार सुकृत अनुमोदना का विवेचन यह कहकर पूर्ण करता है कि सद्कर्मों के द्वारा अन्य बहुत से भव्य जीवों ने अनुरुप मार्ग अर्थात् मोक्ष मार्ग को प्राप्त किया है, उन सबकी मैं अनुमोदना करता हूँ (18-26)।

ग्रंथकार ने ग्रंथ का समापन यह कहकर किया है कि यह चतुःशरण जिसके मन में सदाकाल स्थित रहता है वह इस लोक तथा परलोक दोनों को लाँघकर कल्याण प्राप्त करता है (27)।

चतुःशरण की इस परंपरा का विकास जैन धर्म में भक्ति मार्ग के बीज वपन के साथ-साथ हुआ। भक्ति की अवधारणा भारतीय चिंतन में अति प्राचीन काल से चली आ रही है। यहाँ तक कि ऋग्वेद के अनेक मन्त्र स्तुतिपरक हैं। हिन्दू परंपरा में गीता मुख्यतः भक्तिमार्ग का ग्रंथ कहा जा सकता है। उसमें कृष्ण अपने भक्त को आश्वस्त करते हुए कहते हैं कि तू मेरी शरण में आ जा, मैं तुझ मुक्त कर दूँगा। शरणागति की यह अवधारणा हिन्दू धर्म में अपनी संपूर्णता के साथ विकसित हुई है। यद्यपि गीता में ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग का प्रतिपादन है फिर भी हमें यह मानने में संकोच नहीं है कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति है। भारतीय भक्तिमार्ग की यह परंपरा श्रीमद् भागवत में अपने पूर्ण विकास पर प्रतीत होती है। यद्यपि भारतीय श्रमण परंपरा अनीश्वरवादी परंपरा होने के कारण मूलतः भक्तिमार्गी परंपरा नहीं है। बुद्ध अथवा तीर्थंकर कोई भी अपने उपासक को यह आश्वासन देता प्रतीत नहीं होता कि तुम मेरी भक्ति करो, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा। फिर भी श्रमण परंपरा में इन धर्मों में किसी न किसी रूप में भक्ति मार्ग का प्रवेश हो गया। यद्यपि जैन और बौद्ध, दोनों ही धर्म ईश्वरीय कृपा की अवधारणा को अस्वीकार करते हैं, फिर भी इन दोनों परंपराओं में अपनी सहवर्ती हिन्दू परंपरा के प्रभाव से भक्ति मार्ग ने अपना स्थान बनाया। बौद्ध परंपरा में इसी आधार पर त्रिशरण की अवधारणा विकसित हुई, जिसके अंतर्गत साधक संघ, धर्म औरबुद्ध की

शरण ग्रहण करता है। बौद्ध धर्म में शरण ग्रहण की यह परंपरा संघ अर्थात् समूह से प्रारभ होकर बुद्ध अर्थात् व्यक्ति पर समाप्त होती है। यद्यपि बुद्ध को एक पद के साथ-साथ एक व्यक्ति भी माना जा सकता है। जैन धर्म में भी लगभग इसी के समरूप चतुःशरण की अवधारणा का विकास हुआ। जहाँ बौद्ध धर्म में संघ, धर्म और बुद्ध को शरणभूत माना गया, वहाँ जैन धर्म में अरहंत, सिद्ध, साधु और जिन द्वारा प्रतिपादित धर्म मार्ग को शरणभूत माना गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन परंपरा ने अपनी पंच परमेष्ठि की अवधारणा में से आचार्य, उपाध्याय और साधु को मूलतः एक ही ''साधु'' पद के अंतर्गत ग्रहित करके तीन पद को ही शरणभूत माना। फिर उसमें बौद्ध परंपरा के समान धर्म को स्थान देकर चतुःशरण की अवधारणा का विकास किया। यद्यपि इस चतुःशरण की अवधारणा के विकास का सुनिश्चित समय बता पाना तो कठिन है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी तक जैन परंपरा में भी चतुःशरण की अवधारणा का विकास हो गया था।

जैन तथा बौद्ध धर्म में जो त्रिशरण माने गये हैं उनमें धर्म दोनों में ही समान है। अरहंत को किसी सीमा तक बुद्ध का ही पर्यायवाची मानकर अरहंत की शरण को बुद्ध की शरण माना जा सकता है। ज्ञातव्य है कि उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन आगम में ''जिन'' या ''अरहंत'' के लिए ''बुद्ध' शब्द का बहुतायत से प्रयोग हुआ है। बौद्ध धर्म में जहाँ संघ को शरणभूत बतलाया गया वहाँ जैन धर्म में साधु को शरणभूत माना गया। यद्यपि किसी सीमा तक साधु भी संघ के प्रतिनिधि हैं फिर भी संघ की सर्वोपरिता को जो स्थान बौद्ध परंपरा में प्राप्त हुआ वह स्थान आगे चलकर जैन परंपरा में प्राप्त नहीं हो सका। यद्यपि प्राचीनकाल में तीर्थंकर भी ''नमो तित्थरस्स'' कहकर तीर्थ को वंदना करते थे और उसकी सर्वोपरिता मान्य की गई थी, किन्तु जैन धर्म में जब आचार्य को संघ प्रमुख मानकर संघ को उसके अधीन कर दिया गया तो संघ का स्थान निम्न हो गया और साधु को प्रमुखता मिली। स्वयं प्रस्तुत प्रकीर्णक में भी इस बात को स्वीकार किया गया है कि साधु के अंतर्गत आचार्य और उपाध्याय का भी ग्रहण होता है। बौद्धों के त्रिशरण और जैनों के चतुःशरण में सबसे प्रमुख अंतर यह है कि जहाँ जैन परंपरा में सिद्धों के रूप में मुक्त आत्माओं को भी शरणभूत माना गया, वहाँ बौद्ध परंपरा में स्पष्ट रूप से निर्वाण प्राप्त व्यक्तियों को शरणभूत नहीं माना गया, यद्यपि बौद्ध परंपरा में स्पष्ट रूप से निर्वाण प्राप्त व्यक्तियों को शरणभूत नहीं माना गया, यद्यपि बौद्ध धर्म की ओर से

यह कहा जा सकता है कि बुद्ध शब्द से भूतकालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यत्कालिक तीनों ही प्रकार के बुद्धों का अवग्रहण हो जाता है। यहाँ यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि शरण तो उनकी ग्रहण की जा सकती है जो हमारा कल्याण कर सके अथवा कल्याण मार्ग का पथ निर्देशित कर सकें। यह सत्य है कि सिद्धों में सीधे रूप से हमारा मंगल या अमंगल करने की कोई सामर्थ्य नहीं है। जैनों के चतुःशरण में भी तीन ही पद अरहंत, साधु और धर्म हमारे कल्याण के पथ का निर्देशन करने वाले होते हैं। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि बौद्धों के त्रिशरण और जैनों के चतुःशरण उद्देश्य की समरुपता की दृष्टि से प्रायः एक-दूसरे के सन्निकट ही हैं।

कुशलानुबंधी प्रकीर्णक और चतुःशरण प्रकीर्णक दोनों को चतुःशरण की जो प्राचीन परंपरा और उसका जो प्राचीन पाठ रहा है उसकी व्याख्या रूप ही कहा जा सकता है। चतुःशरण का मूल पाठ जिसे ''चत्तारि मंगल पाठ'' अथवा ''मंगल पाठ'' के नाम से आज भी जाना जाता है और जिसका आज भी जैन समाज में प्रचलन है, प्रस्तुत दोनों की प्रकीर्णक उसकी व्याख्या कहे जा सकते हैं। कुशलानुबन्धी चतुःशरण में तो इन चारों पदों के विशिष्ट गुणों के पृथक-पृथक विवेचन के साथ आलोचना को जोड़कर ग्रंथ पूर्ण किया गया है।

चतुःशरण प्रकीर्णक भी यद्यपि इसी विषय से संबंधित है फिर भी उसमें चतुःशरणभूत जो विशिष्ट पद या व्यक्ति हैं उनके गुणों का पृथक-पृथक रुप से विवेचन नहीं किया है, किन्तु भावना की दृष्टि से दोनों ग्रंथों में समरूपता है। चतुःशरण के अंत में भी कुशलानुबंधी अथवा चतुःशरण प्रकीर्णक में आलोचना को जो स्थान दिया गया है वह आत्मविशुद्धि के निमित्त ही माना जाना चाहिए। यद्यपि वीरभद्र गणि का कुशलानुबंधी मूलतः प्राचीन परंपरागत मंगल पाठ का ही एक विस्तृत संस्करण है फिर भी इसकी विशिष्टता यह है कि यह अपने युग की तांत्रिक मान्यताओं और स्थापनाओं से सर्वथा अप्रभावित है। ज्ञातव्य है कि दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में जैन परंपरा पर तंत्र का व्यापक प्रभाव आ गया था फिर भी उससे कुशलानुबंधी और चतुःशरण का अप्रभावित रहना एक महत्वपूर्ण घटना है।

जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया कि जैन धर्म में हिन्दू परंपरा के प्रभाव से जो भक्ति मार्ग का विकास हुआ था और शरणप्राप्ति को साधना का एक आवश्यक अंग मान लिया गया था। यही कारण है कि चत्तारि मंगल का पाठ आवश्यक सूत्र का एक

अंग बन गया है और दैनंदिनी साधना में शरणगमन को एक महत्वपूर्ण स्थान मिला। यद्यपि जैन परंपरा ईश्वरीय कृपा की अवधारणा को अस्वीकार करती है फिर भी शरणप्राप्ति को व्यक्ति के जीवन में समत्व की उपलब्धि का एक महत्वपूर्ण साधन माना गया। शरण प्राप्ति तभी संभव है जब जिसके प्रति शरणागत होना है उसके प्रति मन में अहोभाव उत्पन्न हो और इसके लिए प्राचीन काल में शक्रस्तव (णमोत्थुणं) और चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) के पाठ विकसित हुए। हम देखते हैं कि वीरभद्र ने कुशलानुबंधी एवं चतुःशरण में भी मात्र शरणागति की चर्चा ही नहीं कि अपितु शरणाभूत आराध्यों के गुणों का संस्तवन भी किया है। वस्तुतः ज्ञानमार्ग और चारित्रमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग सामान्य व्यक्तियों के लिए सहज साध्य होता है यही कारण था कि जैन परंपरा में सम्यक्दर्शन शब्द जो आत्म-साक्षी भाव या ज्ञाता दृष्टा भाव का पर्यायवाची था, वही सम्यक् दर्शन शब्द पहले तत्व श्रद्धा का और उसके पश्चात् देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा का आधार बना।

चाहे हम ईश्वरीय कृपा के सिद्धांत को स्वीकार करें या न करें, किन्तु इतना निश्चित है कि शरणप्राप्ति की अवधारणा के फलस्वरूप व्यक्ति विकलताओं से बचता है और कठिन क्षणों में उसके मन में साहस का विकास होता है, जो सामान्य जीवन में ही नहीं साधना के क्षेत्र में भी आवश्यक है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत प्रकीर्णक साधकों को अपनी साधना में स्थिर रहने के लिए एक आधारभूत संबल का कार्य करता है।

सागरमलजैन

सहयोगी - सुरेश सिसोदिया

.....

4. (क) देविंदत्थओ-पइण्णयसुत्ताइं, भाग 1, गाथा 310
   (ख) जोइसकरण्डगं पइण्णयं, वही, भाग 1, गाथा 405
5. (क) भत्तपइण्णापइण्णयं, वही, भाग 1, गाथा 172
   (ख) कुशलानुबंधी अज्जयणं ''चउसरणपइण्णयं'', वही, भाग 1, गाथा 63
   (ग) सिरिवीरभद्धायरियाविरइया ''आराहणापडाया'' वही, भाग 2, गाथा 51
6. आराहणविहिं पुण भत्तपरिण्णाइ वण्णिमो पुव्वं।
   उस्सण्णं स च्चेव 3 सेसाण वि वण्णणा होइ।।
   - सिरिवीरभद्धायरियाविरइया ''आराहणापडाया'' वही, भाग 2, गाथा 51
7. The Canonical Literature of the Jainas, Page - 51-52.

10. सारावली पइण्णयं

दस प्रकीर्णकों को श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय आगमों की श्रेणि में मानता है। मुनि श्री पुण्यविजयजी के अनुसार प्रकीर्णक नाम से अभिहित इन ग्रंथों का संग्रह किया जाय तो निम्न बावीस नाम प्राप्त होते हैं- (1) चतुःशरण (2) आतुरप्रत्याख्यान (3) भक्तपरिज्ञा (4) संस्तारक (5) तन्दुलवैचारिक (6) चन्द्रकवैद्यक (7) देवेन्द्रस्तव (8) गणिविद्या (9) महाप्रत्याख्यान (10) वीरस्तव (11) ऋषिभाषित (12) अजीवकल्प (13) गच्छाचार (14) मरणसमाधि (15) तीर्थोद्गालिक (16) आराधनापताका (17) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (18) ज्योतिषकरण्डक (19) अंगविद्या (20) सिद्धप्राभृत (21) सारावली और (22) जीवविभक्ति।

इस प्रकार मुनिश्री पुण्यविजयजी ने बावीस प्रकीर्णकों में **सारावली प्रकीर्णक** का भी उल्लेख किया है। नन्दीसूत्र, पाक्षिकसूत्र तथा आचार्य जिनप्रभ के ग्रंथों में सारावली प्रकीर्णक के नामोल्लेख का अभाव यही सूचित करता है कि यह प्रकीर्णक ग्रंथ इन ग्रंथों से परवर्ती है। अर्थात् चौदहवीं शती के पश्चात् कभी यह ग्रंथ रचा गया है।

सारावली प्रकीर्णक के सम्पादन में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियाँ :-

हमने प्रस्तुत संस्करण का मूल पाठ मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा सम्पदित एवं श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित **''पइण्णयसुत्ताइं''** ग्रंथ से लिया है। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने इस ग्रंथ के पाठ निर्धारण में निम्नलिखित प्रतियों का उपयोग किया है :-

(1) हं : मुनि श्री हंसविजयजी महाराज की हस्तलिखित प्रति।

(2) पु 1 : लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद।
में सुरक्षित मुनि श्री पुण्यविजयजी म.सा. की प्रति, क्रमांक 1471।

(3) पु. 2 : लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद में संग्रहित प्रति, क्रमांक 5628

(4) प्र.3 : मुनि श्री पुण्यविजयजी महाराज द्वारा उपरोक्त प्रकीर्णक की किसी हस्तलिखित प्रति की कालान्तर में प्रयुक्त प्रतिलिपि

हमने क्रमांक 1 से 4 तक की इन पाण्डुलिपियों के पाठभेद मुनिश्री पुण्यविजयजी द्वारा संपादित पइण्णयसुत्ताइं नामक ग्रंथ से लिये हैं इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से पइण्णयसुत्ताइं ग्रंथ की प्रस्तावना के पृष्ठ 23-27 देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

सारावली प्रकीर्णक के कर्ता :-

जहाँ तक सारावली प्रकीर्णक के रचयिता का प्रश्न है, हमें इस संदर्भ में न तो कोई अंतर साक्ष्य उपलब्ध होता है और न ही कोई बाह्य साक्ष्य। अतः इस प्रकीर्णक के रचयिता के अंतर - बाह्य साक्ष्यों के पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में कुछ भी कह पाना कठिन है। प्रकीर्णक ग्रंथों के रचयिताओं के संदर्भ में मात्र देवेन्द्रस्तव और ज्योतिषकरण्डक ये दो ग्रंथ ही ऐसे हैं जिनमें स्पष्ट रूप से उनके रचयिताओं के नामोल्लेख हैं।[1] परवर्ती प्रकीर्णकों में वीरभद्र द्वारा रचित भक्त परिज्ञा, कुशलानुबन्धी चतुःशरण और आराधनापताका- ये तीन प्रकीर्णक ही ऐसे हैं जिनमें इनके रचयिता वीरभद्र का उल्लेख मिलता है।[2] भक्तपरिज्ञा और कुशलानुबंधी चतुःशरण प्रकीर्णक में लेखक का स्पष्ट नामोल्लेख हुआ है। आराधनापताका प्रकीर्णक की गाथा 51 में भी परोक्ष रूप से लेखक के रूप में वीरभद्र का ही उल्लेख हुआ है।[3] प्रकीर्णकों में चन्द्रवैद्यक, तन्दुलवैचारिक, महाप्रत्याख्यान, मरणविभक्ति, गच्छाचार आदि अनेक प्रकीर्णकों के रचयिता के नाम का कही कोई निर्देश नहीं मिलता है। यही स्थिति सारावली प्रकीर्णक की भी है। अतः सारावली प्रकीर्णक के रचयिता कौन हैं, इस संदर्भ में प्रामाणिक रूप से कुछ भी बता पाना कठिन है।

.....

1. (क) देविंदत्थओ - पइण्णयसुत्ताइं, भाग - 1, गाथा 310
   (ख) जोइसकरण्डगं पइण्णय, वही, भाग-1, गाथा 405
2. (क) भत्तपइन्ना पइण्णयं, पइण्णयसुत्ताइ, भाग 1, गाथा 172
   (ख) कुशलानुबंधी अज्झयणं, ''चउसरणपइण्णयं'', वही, भाग 1, गाथा 63
   (ग) सिरिवीरभद्दायरियाविरइया 'आराहणापडाया', वही, भाग 2, गाथा 51
3. आराहणाविहिं पुण भत्तपरिण्णइ वण्णिमो पुव्वं।
   उस्सणं स च्चेव उ सेसाण वि वण्णणा होई॥

ग्रंथ का रचनाकाल :

नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्र में आगमों का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें सारावली प्रकीर्णक का कोई उल्लेख नहीं है। तत्वार्थ भाष्य और दिगंबर परंपरा की सर्वार्थसिद्धि टीका में भी सारावली प्रकीर्णक का कहीं कोई उल्लेख नहीं हुआ है। इसी प्रकार यापनीय परंपरा के ग्रंथों में भी सारावली प्रकीर्णक का उल्लेख अनुपलब्ध है। इससे यह फलित होता है कि छठी शताब्दी से पूर्व इस प्रकीर्णक का कोई अस्तित्व नहीं था। यदि हम इस ग्रंथ के रचनाकाल की उत्तर सीमा को और सीमित करें तो स्पष्ट होता है कि आचार्य जिनप्रभ की विधिमार्गप्रपा और सिद्धान्तागमस्तव ग्रंथों में भी सारावली प्रकीर्णक का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि चौदहवीं शताब्दी तक भी सारावली प्रकीर्णक अस्तित्व में नहीं आया था।

सारावली प्रकीर्णक के रचयिता ने जिस प्रकार ग्रंथ के ग्रंथकर्ता के रूप में कहीं भी अपना नामोल्लेख नहीं किया है, उसी प्रकार इस ग्रंथ के रचनाकाल के संदर्भ में भी उसने ग्रंथ में कहीं कोई संकेत नहीं दिया है। अतः चौदहवी शती के पश्चात् भी यह ग्रंथ कब रचा गया, इस संदर्भ में निश्चय पूर्वक कुछ कहना दुराग्रह होगा। ग्रंथ के रचनाकाल के संदर्भ में मात्र यही कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ चौदहवीं शती के पश्चात् कभी रचा गया है। प्रस्तुत ग्रंथ की भाषा पर अपभ्रंश का भी पर्याप्त प्रभाव है। अतः इसकी रचना 10वीं शती के पश्चात् तथा 15वीं शती के पूर्व कभी हुई होगी। इसी प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ में गच्छ शब्द का प्रयोग है। (गच्छ शब्द का प्रयोग 10वीं शती के पूर्व नहीं देखा जाता। अतः यह प्रकीर्णक 10वीं शती से परवर्ती है।

विषयवस्तु :-

(सारावली प्रकीर्णक में कुल 116 गाथाएँ हैं और ये सभी गाथाएँ पुण्डरिक पर्वत की महिमा का निरुपण करती है।) सर्वप्रथम पंचपरमेष्ठी माहत्म्य की चर्चा करते हुए अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को वंदन किया गया है। (1-2)।

ग्रन्थानुसार पंचपरमेष्ठी स्वयं की योग्यता एवं निज गुणों से वंदन के योग्य हैं। ये पंचपरमेष्ठी संसार के समस्त जीवों के बांधव, प्रिय और अपतिप्रिय हैं (3-4)। आगे की गाथाओं में कहा गया है कि पंचपरमेष्ठी समस्त महान गुणों से विभूषित हैं तथा ये गुण नित्य ही देवों तथा मनुष्यों के द्वारा पूजित हैं। आगे यह भी कहा गया है कि जो-जो भूमि प्रदेश पांचों ही उत्तम पुरुषों के द्वारा पावन है, वह-वह प्रदेश देवों तथा मनुष्यों के लिए पूजनीय है (5-6)।

नारदऋषि प्रति अतिमुक्तक केवली के वक्तव्य में पुण्डरिकगिरी तीर्थ की उत्पत्ति एवं फल की चर्चा करते हुए कहा गया है कि संपूर्ण पुण्डरिक शिखर देवों और मनुष्यों के द्वारा पूजा गया है तथा नित्य ही उसका आश्रय लिया गया है (7)।

पुण्डरिक तीर्थ की उत्पत्ति और इस तीर्थ की यात्रा एवं दान-पुण्य के फल की चर्चा करते हुए कहा गया है कि महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न तीर्थंकर अरिहंत को देखकर धातकीखण्ड में उत्पन्न नारदऋषि दक्षिण भारत क्षेत्र के मध्य में स्थित पुण्डरिक शिखर पर देवों का प्रकाश देखते हैं और वहाँ जाकर चतुर्विध देवों के द्वारा परिवेष्ठित अतिमुक्तक ऋषि को देखकर वे आश्चर्य करते हैं। नारद ऋषि द्वारा पुण्डरिक शिखर के नाम एवं इसके पूज्य होने के कारण जानने की जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर अतिमुक्तक कुमार केवलि यह वृत्तान्त नारदऋषि को सुनाते हैं (8-16)।

ग्रंथानुसार वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का पौत्र पुण्डरिक था, जो उनके प्रथम समवसरण में प्रतिबुद्ध हुआ (17-18)।

संसारविरक्ति की प्रेरणा देते हुए कहा है कि तिर्यंचों को अधिक दुःख होता है। नरकवासियों को जो बहुत अधिक दुःख होता है और दुश्चरित्र मनुष्य को उससे भी अधिक दुःख होता है। देवताओं को भी मरने का दुःख होता है। संसार में स्थित माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पत्नी, स्वजन-संबंधी, मित्र, नौकर तथा भौग्य पदार्थ आदि सभी अनित्य हैं। इस प्रकार की धर्म चर्चा को सुनकर पुण्डरिक अपने दादा ऋषभदेव के पास धर्म में स्थित हुआ तथा सावद्ययोग पाप से निवृत्त होकर उसने साधुधर्म को अंगीकार किया (19-23)।

आगे की गाथाओं में पुण्डरीक अणगार द्वारा श्रुतज्ञानियों से संपूर्ण श्रुत का अध्ययन करने का उल्लेख है। ग्रंथकार चारित्रवान पुण्डरीक अणगार श्रुतागार को प्राप्त करने के पश्चात् गुरु के वचन को मान्य करके अर्द्धभरत क्षेत्र में विचरण करते हुए सौराष्ट्र देश में आए।

सौराष्ट्र देश में विचरण करते हुए पुण्डरीक अणगार पेड़ों से ढंके हुए एक पर्वत को देखते हैं (24-28)।

ग्रंथानुसार नव प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्तियों से गुप्त, दस प्रकार के धर्मों के पालन में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्त, सत्रह प्रकार के संयम से युक्त, बारह प्रकार के तप से

शरीर को कृश किये हुए तथा जिनेन्द्र देवों द्वारा प्ररुपित अठारह हजार शीलांग को, जो सुविहित (मुनि) धारण करते हैं, वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र से विशुद्ध होते हैं। ऐसे सुविहित मुनिगण पुण्डरीक (शत्रुंजय) पर्वत को निहारते हुए सामायिक आदि अंगसूत्रों और चतुर्दश पूर्वों का स्वाध्याय करते हुए वहाँ अवस्थित रहे। (29-32)।

आगे की गाथाओं में सौराष्ट देश में स्थित पुण्डरिक पर्वत की महिमा निरुपित करते हुए कहा गया है कि पुण्डरिक पर्वत दस प्रकार के कल्पवृक्षों, विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों, स्वादिष्ट रसों, आभूषणों, वस्त्रों, विलेपनों तथा विविध प्रकार की शय्याओं से युक्त हैं। देवताओं और मनुष्यों के लिए यह भू-भाग नित्य ही रमणीय है, देव समूह के लिए नृत्य, गीत, वादित यंत्र आदि भोग्य पदार्थ यहा प्रचूर मात्रा में उपलब्ध हैं (33-38)।

पुण्डरिक पर्वत का विस्तार परिमाण बतलाते हुए कहा गया है कि यह श्रेष्ठ पर्वत भू-भाग से आठ योजन ऊँचा, शिखर तल पर दस योजन तथा मूल में पचास योजन विस्तार वाला है (39)। आगे ग्रंथ में यह भी कहा गया है कि चैत्र मास की पूर्णिमा पर मासखमण की तपस्या के द्वारा सर्वप्रथम वहाँ पुण्डरिक को भी केवलज्ञान की प्राप्ति हुई (41)।

ग्रंथानुसार शत्रुंजय पर्वत के अग्रभाग पर आरुढ हो, पुण्डरिक के सानिध्य में अन्य अनेक साधु मोक्ष को प्राप्त हुए तथा पुण्डरिक साधु की तरह वे भी सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए (43)। आगे की गाथा में सिद्धी प्राप्त समस्त साधुओं की देवों के द्वारा महिमा करने एवं विविध प्रकार से पुण्डरिक केवलि की शरीर पूजा करने का विवेचन है (44)।

ग्रंथ में उल्लेख है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने कहा था कि इस अवसर्पिणी काल में भव्य जीवों के लिए सर्व तीर्थों में पुण्डरिक प्रथम तीर्थ होगा। देवों द्वारा इस प्रकार घोषणा करने पर भव्य जीवों की परिषद् आई और आकर उन्होंने इस पुण्यशाली पर्वत का नाम पुण्डरिक रखा (45-48)।

शत्रुंजय पर्वत पर सिद्धी प्राप्त करने वाले साधकों का नामोल्लेख करते हुए कहा गया है कि नमि और विनमि विद्याधर चक्रवर्ती राजाओं ने वैताढ्य पर्वत पर सिद्धी प्राप्त की (50)। तदनन्तर इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न भरत तथा दशरथ के पुत्र राम द्वारा पुण्डरिक शिखर पर सिद्धी प्राप्त करने का विवेचन है। आगे की गाथा में यह भी कहा गया है कि प्रद्युम्न और साम्ब सहित साढ़े तीन करोड़ यादव कुमारों ने केवलज्ञान उत्पन्न होने पर पुण्डरिक पर्वत पर सिद्धी प्राप्त की। इसी क्रम में यह भी कहा गया है कि पाँचों पाण्डुपुत्र

तथा द्रविड़ राजाओं के पाँच करोड़ मनुष्यों ने केवलि होकर शत्रुंजय पर्वत पर सिद्धी प्राप्त की (51-53)।

शत्रुंजय पर्वत के तीर्थफल की चर्चा करते हुए कहा है कि अन्य तीर्थ पर उग्र तप एवं ब्रह्मचर्य के द्वारा व्यक्ति जो पुण्य प्राप्त करता है, शत्रुंजय पर्वत पर पहुँचा हुआ व्यक्ति वह सब अल्पमत साधना से प्राप्त कर लेता है। तदनंतर कहा है कि आहार, भोजन आदि में आसक्त रहने वाला व्यक्ति जो पुण्य करोड़ दिनों में प्राप्त करता है वह पुण्य शत्रुंजय पर्वत पर एक उपवास मात्र से प्राप्त कर लेता है। गौदान, स्वर्णदान तथा भू-दान के द्वारा जो पुण्य प्राप्त होता है वह पुण्य शत्रुंजय पर्वत पर पूजा करने मात्र से प्राप्त होता है। इतना ही नहीं आगे यह भी कहा गया है कि शत्रुंजय पर्वत के अग्रभाग पर स्थित चैत्यग्रह में जो व्यक्ति प्रतिमा स्थापित करता है वह भरत खण्ड को भोगकर उपसर्ग रहित स्वर्ग में निवास करता है (54-60)।

शत्रुंजय पर्वत अर्थात् पुण्डरिक तीर्थ के फल का विस्तार से निरूपण करते हुए ग्रंथकार कहता है कि जो तीनों समय में शत्रुंजय पर्वत पर वंदना करने का स्मरण करता है उसे भाव विशुद्धि से पुण्डरिक तीर्थ प्राप्त होता है। ग्रंथकार यह भी कहता है कि स्व-स्थान पर स्थित होकर भी जो मनुष्य शत्रुंजय पर्वत को स्मरण कर अपने पुण्य को बढ़ाता है, वह भाव विशुद्धि के द्वारा शत्रुंजय तीर्थ फल को प्राप्त करता है (61-64)।

प्रस्तुत ग्रंथानुसार मनुष्य लोक में तीर्थयात्रा तब तक सफल नहीं होती, जब तक किसी सौराष्ट देश में स्थित पुण्डरिक पर्वत की यात्रा नहीं कर ली जाती। स्वर्ग-नरक और मनुष्य लोक में जो कुछ भी तीर्थ हैं ये सब भी वंदन करने के लिए पुण्डरिक तीर्थ को ही देखते हैं अर्थात् सभी तीर्थों में पुण्डरिक तीर्थ ही विशेष वंदनीय है। आगे कहा है कि पुण्डरिक पर्वत को वंदना करने से सभी तीर्थ भी वंदित हो जाते हैं (65-67)।

पुण्डरिक पर्वत को सभी तीर्थों में सर्वश्रेष्ठ निरुपण करने के क्रम में ग्रंथकार कहता है कि कैलाश-पर्वत, सम्मेद शिखर, पावापुरी, चंपानगरी तथा उज्जिल पर्वत पर वंदना करने से जो पुण्य फल प्राप्त होता है उससे सौ गुणा पुण्य फल पुण्डरिक पर्वत पर वंदना करने से प्राप्त होता है (68-69)।

आगे कहा है कि छत्र, ध्वज, पताका, चंवर, स्नान कलश (आठ) तथा पूजा की थाल, इन्हें जो शत्रुंजय पर्वत को प्रस्तुत करता है वह विद्याधर होता है। ग्रंथकार आगे यह भी कहता है कि जो व्यक्ति शत्रुंजय तीर्थ पर रथदान देकर वैताढ्य और

गुणाढ्य पर्वत पर पंक्तिबद्ध होकर चढ़ता है वह दोनों ही पक्ष में परितसंसारी अर्थात् शीघ्र मोक्ष में जाने वाला होता है (70-72)।

ग्रंथकार पुण्डरीकगिरि तीर्थ की उत्पत्ति और उसके फल की महिमा यह कहकर पूर्ण करता है कि नवकारसी, पोरसी, पूर्वार्द्ध, एकासन और आयंबिल में जो पुण्डरीक तीर्थ को स्मरण करता है वह फलाकांक्षी अष्टभक्त को करता है तथा छः, आठ, दस, बारह दिन, अर्धमास तथा मासखमण के द्वारा तीन करण से शुद्ध हो शत्रुंजय पर्वत को स्मरण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है (73-74)।

प्रस्तुत ग्रंथ में नारदऋषि आदि की दीक्षा, केवलज्ञान की प्राप्ति तथा सिद्धीगमन आदि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि लोक में निर्मित विशुद्ध लेश्या के द्वारा नारदऋषि को त्रिभुवन के स्तर रूप दिव्य केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई। आगे कहा है कि सभी एक करोड़ व्यक्तियों ने शत्रुंजय पर्वत के अग्रभाग पर कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान उत्पन्न होने पर सिद्धी प्राप्त की (75-83)।

पुण्डरीक पर्वत की महिमा का निरूपण करते हुए कहा है कि दुर्गम जंगल के मार्ग, भीषण वन तथा शमशान के मध्य में भी पुण्डरिक पर्वत को स्मरण करता हुआ मनुष्य विघ्न रहित हो जाता है। आगे कहा गया है कि नदी तथा समुद्र के मध्य में नाव पर आरुढ़ व्यक्ति नाव को टुटी हुई जानकार शत्रुंजय पर्वत को स्मरण कर उस टुटी हुई नाव को भी कुशलता पूर्वक खेता हुआ पार उतर जाता है। उत्पत्ति और विनाश तथा मरण और व्याधि से ग्रस्त मनुष्य भी पुंडरिक पर्वत को स्मरण करता हुआ मृत्यु से मुक्त हो जाता है (85-92)।

ग्रंथकार कहता है कि जो मनुष्य एकाग्रचित्त होकर सदा शत्रुंजय पर्वत का स्मरण करता है, धन सम्पत्ति से रहित वह मनुष्य मुहूर्तभर में समृद्धि प्राप्त कर लेता है। आगे कहा है कि पुण्डरी पर्वत को स्मरण करते हुए कुँवारी लड़की अच्छे वर को प्राप्त करती है। पुत्राकांक्षी माता पुत्र प्राप्त करती है तथा दुःखी व्यक्ति सुखी हो जाता है। ऐसी अनेक उपमाओं के द्वारा पुण्डरीक पर्वत की महिमा बतलाते हुए ग्रंथकार कहता है कि शत्रुंजय पर्वत पर दस पुष्पमाला देकर व्यक्ति एक उपवास का फल, बीस पुष्पमाला देकर दो उपवास का फल, तीस पुष्पमाला देकर तीन उपवास का फल, चालीस पुष्पमाला देकर चार उपवास का फल, पचास पुष्पमाला देकर पाँच उपवास का फल तथा वहाँ दान देकर पंद्रह उपवास का फल प्राप्त करता है (93-97)।

ग्रंथानुसार शत्रुंजय पर्वत पर कर्पूर, अगरु, लोबान और धूप के दान से व्यक्ति मासखमण का फल प्राप्त करता है तथा वहाँ साधु को दान देने से मासखमण का फल प्राप्त होता है। शत्रुंजय पर्वत पर जिनभवन निर्माण कराने का फल बतलाने हेतु कहा है कि वैशाख मासखमण करके जो व्यक्ति पुण्डरिक पर्वत पर जिनभवन बनवाता है वह चौसठ हजार व्रतधारी युवतियों का चक्रवर्ती सम्राट होता है (98-99)।

शत्रुंजय पर्वत पर जिनभवन में प्रतिमा स्थापित करने का फल बतलाने हेतु ग्रंथकार कहता है कि जिनभवन में लाख बार जाने से जो पुण्य प्राप्त होता है वह पुण्य शत्रुंजय पर्वत पर हजार दान के द्वारा प्रतिमा स्थापित करने से होता है। दान की महत्ता बतलाने हेतु ग्रंथकार कहता है कि उत्तम दान देता हुआ पुरुष अन्य भव में उत्तम पुरुष, मध्यम दान देता हुआ मध्यम पुरुष तथा हीन दान देता हुआ हीन पुरुष होता है (100-102)।

ज्ञान और जीवदया का फल निरुपण करने हेतु ग्रंथ में कहा गया है कि भोगी अर्थात् गृहस्थ व्यक्ति भी दान और तप के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करता है तथा आगम निरुपित विविध प्रकार का व्यवहार करता हुआ भाव विशुद्धि के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। आगे की गाथाओं में कहा गया है कि तप, संयम, समिति और गुप्ति से युक्त व्यक्ति अवश्य ही स्वर्ग प्राप्त करता है तथा दस प्रकार के धर्म में स्थित व्यक्ति उपसर्ग रहित स्वर्ग प्राप्त करता है (103-107)।

ग्रंथकार कहता है कि स्वर्ग में स्थित व्यक्ति जिनेन्द्र देवों द्वारा निर्दिष्ट धर्म को स्पष्ट सुनता है तथा जो व्यक्ति जिनवचन पर श्रद्धा नहीं रखता वह स्वर्ग को प्राप्त नहीं कर सकता। जिनेन्द्र देवों द्वारा प्ररुपित वचनों पर श्रद्धा नहीं करता हुआ जो व्यक्ति तप करता है उस अज्ञानी और मूर्ख व्यक्ति का वह तप तप नहीं, शारीरिक क्लेश मात्र है (108-109)।

आगे की गाथाओं में ज्ञान की महत्ता बतलाते हुए कहा गया है कि जिसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती हो वही श्रेष्ठ ज्ञान है। शेष सभी ज्ञान कुज्ञान हैं और वे ज्ञान मोक्ष मार्ग को नष्ट करते हैं (110-112)।

अदान के द्वारा दुःख और दान के द्वारा सुख की चर्चा करते हुए ग्रंथकार कहता है कि शत्रुंजय पर्वत पर चढ़ता हुआ जो पुरुष इच्छित दान देता है उसके समान दानी पुरुष लोक में दुर्लभ होता है (113-114)।

अंत में प्रस्तुत पुस्तक के लेखन का फल बताते हुए ग्रंथकार कहता है कि

सारावली नामक इस पुस्तक की प्रतिलिपि कराने वाला अत्यधिक सम्मान, यश और कीर्ति प्राप्त करे और पाप का भागी नहीं हो (116)।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रस्तुत सारावली प्रकीर्णक शत्रुंजय (पालीताना) महातीर्थ के महात्म्य को प्रस्तुत करता है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में जैन परंपरा में चतुर्विध संघ रूप तीर्थ और कल्याणक क्षेत्र, सिद्ध क्षेत्र एवं अतिशय क्षेत्र रुप तीर्थ की अवधारणा का विकास कैसे हुआ इस पर विचार कर लेना अपेक्षित है।

जैन धर्म में तीर्थ का महत्व :

समग्र भारतीय परंपराओं में ''तीर्थ'' की अवधारणा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है फिर भी जैन परंपरा में तीर्थ को जो महत्व दिया गया है वह विशिष्ट ही है, क्योंकि इसमें धर्म को ही तीर्थ कहा गया है और धर्म प्रवर्तक तथा उपासना एवं साधना के आदर्श को तीर्थंकर कहा गया है। अन्य धर्म परंपराओं में जो स्थान ईश्वर का है, वही स्थान जैन परंपरा में तीर्थंकर का है। तीर्थंकर को धर्मरुपी तीर्थ का संस्थापक माना जाता है। दूसरे शब्दों में जो तीर्थ अर्थात् धर्म मार्ग की स्थापना करता है, वहीं तीर्थंकर है। इस प्रकार जैन धर्म में तीर्थ एवं तीर्थंकर की अवधारणाएँ परस्पर जुड़ी हुई है और वे जैन धर्म की प्राण हैं।

जैन धर्म में तीर्थ का सामान्य अर्थ

जैनाचार्यों ने तीर्थ की अवधारणा पर विस्तार से प्रकाश डाला है। तीर्थ शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करते हुए कहा गया है- ''तीर्यते अनेनेति तीर्थः''[4] अर्थात् जिसके द्वारा पार हुआ जाता है वह तीर्थ कहलाता है। इस प्रकार सामान्य अर्थ में नदी, समुद्र आदि के वे तट जिनसे उस पार जाने की यात्रा प्रारंभ की जाती थी तीर्थ कहलाते थे, इस अर्थ में जैनागम जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में मागध तीर्थ, वरदान तीर्थ और प्रभास तीर्थ का उल्लेख मिलता है।[5]

तीर्थ का लाक्षणिक अर्थ

लाक्षणिक दृष्टि से जैनाचार्यों ने तीर्थ शब्द का अर्थ लिया- जो संसार समुद्र पार करता है, वह तीर्थ है और ऐसे तीर्थ की स्थापना करने वाला तीर्थंकर है। संक्षेप में मोक्ष

.....

4. (क) अभिधानराजेन्द्रकोष, चतुर्थ भाग, पृ. 2242
   (ख) स्थानांग टीका।
5. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, 3 / 57, 81, 62 (सम्पा. मधुकर मुनि)

- मार्ग को ही तीर्थ कहा गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में श्रुतधर्म, साधना मार्ग, प्रावचन, प्रवचन और तीर्थ - इन पाँचों को पर्यायवाची बताया गया है।[6] इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन परंपरा में तीर्थ शब्द केवल पवित्र या पूज्य स्थल के अर्थ में प्रयुक्त न होकर एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तीर्थ से जैनों का तात्पर्य मात्र किसी पवित्र स्थल तक ही सीमित नहीं है वे तो समग्र धर्ममार्ग और धर्म साधकों के समूह को ही तीर्थ रूप में व्याख्यायित करते हैं।

तीर्थ का आध्यात्मिक अर्थ

जैनों ने तीर्थ के लौकिक और व्युत्पत्तिपरक अर्थ से ऊपर उठकर उसे आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया है। उत्तराध्ययन सूत्र में चाण्डाल - कुओत्पन्न हरकेशी नामक महान निर्ग्रन्थ साधक से जब यह पूछा गया कि आपका सरोवर कौन-सा है ? आपका शांतितीर्थ कौन-सा है ? तो उसके प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि धर्म ही मेरा सरोवर है और ब्रह्मचर्य ही शांति तीर्थ है जिसमें स्नान करके आत्मा निर्मल और विशुद्ध हो जाती है।[7] विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि सरिता आदि द्रव्यतीर्थ तो मात्र बाह्यमल अर्थात् शरीर की शुद्धि करते हैं अथवा वे केवन नदी, समुद्र आदि के पार पहुँचाते हैं, अतः वे वास्तविक तीर्थ नहीं है। वास्तविक तीर्थ तो वह है जो जीव को संसार-समुद्र से उस पार मोक्षरूपी तट पर पहुँचाता है।[8] विशेषावश्यकभाष्य में न केवल

.....

6. सुयधम्मतित्थमग्गो पावयणं पवयणं च एगट्ठा।
सुत्तं तंत गंथो पाढो सत्थं पवयणं च एगट्ठा॥

- विशेषावश्यकभाष्य, 1378

7. के ते हरए ? के य ते सन्तितित्थे ?
कहिसि णहाओ व रयं जहासि ?
धम्मे हरये बंभे सन्तितित्थे
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो
सुसीइभूओ पजहामि दोसं॥

- उत्तराध्ययन सूत्र, 12/45-46

8. देहाइतारयं जं बज्झमलावणयणाइमेत्तं च।
णेगंताणच्चंतियफलं च तो दव्वतित्थं तं॥
इह तारणाइफलयंति ण्हाण - पाणा - ऽवगाहणईहि।
भवतारयंति केई तं नो जीवोवधायाओ॥

- विशेषावश्यकभाष्य

लौकिक तीर्थस्थलों (द्रव्यतीर्थ) की अपेक्षा आध्यात्मिक तीर्थ (भावतीर्थ) का महत्व बतलाया मया है, अपितु नदियों के जल में स्नान और उसका पान अथवा उनमें अवगाहन मात्र से संसार से मुक्ति मान लेने की धारणा का खण्डन भी किया गया है। भाष्यकार कहता है **''दाह की शांति, तृषा का नाश''** इत्यादि कारणों से गंगा आदि के जल को शरीर के लिए उपकारी होने से तीर्थ मानते हो तो अन्य खाद्य, पेय एवं शरीर-शुद्धि करने वाले द्रव्य इत्यादि भी शरीर के उपकारी होने के कारण तीर्थ माने जायेंगे किन्तु इन्हें कोई भी तीर्थरूप स्वीकार नहीं करता है''।' वास्तव में तो तीर्थ वह है जो हमारे आत्मा के मल को धोकर हमें संसारसागर से पार कराता है। जैन परंपरा की तीर्थ की यह अध्यात्मपरक व्याख्या हमें वैदिक परंपरा में भी उपलब्ध होती है। उसमें कहा गया है- ''सत्य तीर्थ है, क्षमा और इन्द्रिय - निग्रह भी तीर्थ है। समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव, चित्त की सरलता, दान, संतोष, ब्रह्मचर्य का पालन, प्रियवचन ज्ञान और धैर्य और पुण्य कर्म-ये सभी तीर्थ हैं''।[10]

द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ

जैनों ने तीर्थ के जंगम तीर्थ और स्थावरतीर्थ ऐसे दो विभाग भी किये है।[11] इन्हें हम क्रमश चेतनतीर्थ और जड़तीर्थ अथवा भावातीर्थ और द्रव्यतीर्थ भी कह सकते हैं। वस्तुतः नदी, सरोवर आदि तो जड़ या द्रव्य तीर्थ हैं, जबकि श्रुतविहित मार्ग पर चलने वाला संघ भाव-तीर्थ है और वही वास्तविक तीर्थ है।

.....

9. देहोवगारि वा तेण तित्थमिह दाहनासणाईहिं।
महू-गज-भंस-वेस्सादओ वि तो तित्थभावन्नं॥

-विशेषावश्यकभाष्य, 1031

10. सत्य तीर्थ क्षमा तीर्थ तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदयातीर्थ सर्वत्रार्जवमेव च॥
दानं तीर्थ दमस्तीर्थ संतोपस्तीर्थमुच्यते॥
ब्रह्मचर्य परं तीर्थ तीर्थ च प्रियवादिता॥
तीर्थानामपि तत्तीर्थ विशुद्धिमनसः परा॥

-शब्दकल्पद्रुम- ''तीर्थ'' पृ. 626

11. भावे तित्थं संघो सुयविहियं तारओ तहिं साहू।
नाणाइतियं तरणं तरियव्वं भवसमुद्दो य॥

- विशेषावश्यकभाष्य, 1032

उसमें साधुजन पार कराने वाले हैं, ज्ञानादि रत्नत्रय नौका-रुप तैरने के साधन हैं और संसार-समुद्र ही पार करने की वस्तु है। जिनज्ञान दर्शन - चारित्र आदि द्वारा अज्ञानादि सांसारिक भावों से पार हुआ जाता है वे ही भावतीर्थ हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मल हैं, इनको जो निश्चय ही दूर करता है वहीं वास्तव में तीर्थ है।[12] जिनके द्वारा क्रोधादि की अग्नि को शांत किया जाता है वही संघ वस्तुतः तीर्थ है। इस प्रकार हम देखते है कि प्राचीन जैन परंपरा में आत्मशुद्धि की साधना आर जिस संघ में स्थित होकर यह साधना की जा सकती है, वह संघ ही वास्तविक तीर्थ माना गया है।

''तीर्थ'' के चार प्रकार

विशेषावश्यकभाष्य में चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख - नामतीर्थ, स्थापनातीर्थ, द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ।[13] जिन्हें तीर्थ नाम दिया गया है वे नामतीर्थ हैं। वे विशेष स्थल जिन्हें तीर्थ मान लिया गया है, वे स्थापनातीर्थ हैं। अन्य परंपराओं में पवित्र माने गये नदी, सरोवर आदि अथवा जिनेन्द्रदेव के जन्म, दीक्षा, कैवल्य-प्राप्ति एवं निर्वाण के स्थल द्रव्यतीर्थ हैं, जबकि मोक्षमार्ग और उसकी साधना करने वाला चतुर्विधसंघ भावतीर्थ है। इस प्रकार जैनधर्म में सर्वप्रथम तो जिनोपदिष्ट धर्म, उस धर्म का पालन करने वाले साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विध संघ को ही तीर्थ और उसके संस्थापक को तीर्थंकर कहा जाता है। यद्यपि परवर्ती काल में पवित्र स्थल भी द्रव्य तीर्थ के रूप में स्वीकृत किये गये है।

.....

12. जं माण - दंसण - चरितभावओ तव्विवक्खभावाओ।
भव भावओ य तोरइं तेणं तं भावओ तित्थं॥
तह कोह-लोह-कम्मगयदाह - तण्हा - मलावणयणाइं।
एगंतेणच्चंतं च कुणइ य सुद्धिं भवोघाओ॥
दाहोवसमाइसु वा जं तिसु थियमहव दंसगाईसु।
तो तित्थं संधोच्चिय उभयं व विसेसणविसेस्सं॥
कोहग्गिदाहसमणादओ व ते चेव जस्स तिण्णत्था।
होइ तियत्थं तित्थं तमत्थवद्दो फलत्थोऽयं॥

- विशेषावश्यकभाष्य, 1033-1039

13. नामं ठवणा - तित्थं, दव्वातित्थं चेव भावतित्थं च।

- अभिधानराजेन्द्रकोष, चतुर्थ भाग, पृ. 2242

तीर्थ शब्द धर्मसंघ के अर्थ में

प्राचीन काल में श्रमण परंपरा के साहित्य में ''तीर्थ'' शब्द का प्रयोग धर्मसंघ के अर्थ में होता रहा है। प्रत्येक धर्मसंघ या धार्मिक साधकों का वर्ग तीर्थ कहलाता था, इसी आधार पर अपनी परंपरा से भिन्न लोगों को तैर्थिक या अन्यतैर्थिक कहा जाता था। जैन साहित्य में बौद्ध आदि अन्य श्रमण परंपराओं को तैर्थिक या अन्यतैर्थिक के नाम से अभिहित किया गया है।[14] बौद्ध ग्रंथ दीर्घ दीर्घनिकाय के सामञ्जफलसुत्त में भी निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर के अतिरिक्त मंखलिगोशालक, अजितकेशकम्बल, पूर्णकाश्यप, प्रबुधकात्यायन आदि को भी तित्थकर (तीर्थंकर) कहा गया है।[15] इससे यह फलित होता है कि उनके साधकों का वर्ग भी तीर्थ के नाम से अभिहित होता था। जैन परंपरा में तो जैन संघ या जैन साधकों के समुदाय के लिए तीर्थ शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से लेकर वर्तमान युग तक यथावत प्रचलित है। आचार्य समन्तभद्र ने महावीर की स्तुति करते हुए कहा कि हे भगवन्! आपका यह तीर्थ सर्वोदय अर्थात् सबका कल्याण करने वाला है।[16]

साधना की सुकरता और दुष्करता के आधार पर तीर्थों का वर्गीकरण

विशेषावश्यकभाष्य में साधना पद्धति के सुकर या दुष्कर होने के कारण महावीर का धर्मसंघ सदैव ही तीर्थ के नाम से अभिहित किया जाता रहा है। आधार पर भी इन संघरूपी तीर्थों का वर्गीकरण किया गया है।

भाष्यकार ने चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख किया है।[17]

.....

14. 'परतित्थिया' - सूत्रकृतांग, 1 / 6 / 1

15. एवं वुत्ते, अन्नतरो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहि - पुत्तं एतदवोच - ''अयं, देव, पूरणो कस्सपो संघडी चेव गणी च गणाचारियो च, नातो, असस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मती बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो वयोअनुप्पत्तो।
- दीघनिकाय (साम-जफलसुत्त) 2/2

16. सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥
- महावीर का सर्वोदय तीर्थ, पृ. 12

17. अहवा सुहोत्तारूत्तारणाइ दव्वे चउव्विहं तित्थं।
एवं चिय भावम्मिवि तत्थाइमयं सरक्खाणं॥
- विशेषावश्यकभाष्य, 1041-42

1. सर्वप्रथम कुछ तीर्थ (तट) ऐसे होते है जिनमें प्रवेश भी सुखकर होता है और जहाँ से पार करना भी सुखकर होता है; इसी प्रकार कुछ तीर्थ या साधक - संघ ऐसे होते है, जिनमें प्रवेश भी सुखद होता है और साधना भी सुखद होती है। ऐसे तीर्थ का उदाहरण देते हुए भाष्यकार ने शैव मत का उल्लेख किया है, क्योंकि शैव सम्प्रदाय में प्रवेश और साधना दोनां ही सुखकर माने गये है।

2. दूसरे वर्ग में वे तीर्थ (तट) आते हैं जिनमें प्रवेश तो सुखरूप होता है किन्तु जहाँ से पार होना दुष्कर या कठिन होता है। इसी प्रकार कुछ धर्मसंघों में प्रवेश तो सुखद होता है किन्तु साधना कठिन होती है। ऐसे संघ का उदाहरण बौद्ध - संघ के रूप में दिया गया है। बौद्ध संघ में प्रवेश तो सुलभतापूर्वक संभव था, किन्तु साधना उतनी सुखरूप नहीं थी, जितनी की शैव सम्प्रदाय की थी।

3. तीसरे वर्ग में ऐसे तीर्थ का उल्लेख हुआ है जिसमें प्रवेश तो कठिन है किन्तु साधना सुकर है। भाष्यकार ने इस संदर्भ में जैन के ही अचेल-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। इस संघ में अचेलकता अनिवार्य थी, अतः इस तीर्थ को प्रवेश की दृष्टि से दुष्कर, किन्तु अनुपालन की दृष्टि से सुकर माना गया है।

4. ग्रंथकार ने चौथे वर्ग में उस तीर्थ का उल्लेख किया है जिसमें प्रवेश और साधना दोनों दुष्कर है और स्वयं इस रूप में अपने ही सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। यह वर्गीकरण कितना समुचित है यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु इतना निश्चित है कि साधना मार्ग की सुकरता या दुष्करता के आधार पर जैन परंपरा में विविध प्रकार के तीर्थों की कल्पना की गई है और साधना मार्ग को ही तीर्थ के रूप में ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परंपरा में तीर्थ से तात्पर्य मुख्य रूप से पवित्र स्थल की अपेक्षा साधना विधि से लिया गया है और ज्ञान, दर्शन और चारित्र - रुप मोक्षमार्ग को ही भावतीर्थ कहा गया है, क्योंकि ये साधक के विषय - कषायरूपी मल को दूर करके समाधि रूपी आत्मशांति को प्राप्त करवाने में समर्थ हैं। भगवतीसूत्र में तीर्थ आत्मशांति को प्राप्त करवाने में समर्थ है। प्रकारान्तर से साधकों के वर्ग को भी

तीर्थ कहा गया है। भगवतीसूत्र में तीर्थ की व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चतुर्विध श्रमणसंघ ही तीर्थ है।[18] श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकाएँ इस चतुर्विध श्रमणसंघ के चार अंग हैं। इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि प्राचीन जैन ग्रंथों में तीर्थ शब्द को संसार-समुद्र से पार कराने वाले साधन के रूप में ग्रहीत करके त्रिविध साधना मार्ग और उसके अनुपालन करने वाले चतुर्विध श्रमण संघ को ही वास्तविक तीर्थ माना गया है।

निश्चयतीर्थ और व्यवहारतीर्थ

जैनों की दिगमबर परंपरा में तीर्थ का विभाजन निश्चयतीर्थ और व्यवहारतीर्थ के रूप में हुआ है। निश्चयतीर्थ के रुप में सर्वप्रथम तो आत्मा के शुद्ध-बुद्ध स्वभाव को ही निश्चयतीर्थ कहा गया है। उसमें कहा गया है कि पंचममहाव्रतों से युक्त, सम्यक्त्व से विशुद्ध, पाँच इन्द्रियों से संयत निरपेक्ष आत्मा ही ऐसा तीर्थ है जिसमें दीक्षा और शिक्षा रुप स्नान करके पवित्र हुआ जाता है।[19] पुनः निर्दोष सम्यक्त्व, क्षमा आदि धर्म, निर्मल, संयम, उत्तम तप और यथार्थज्ञान - ये सब भी कषायभाव से रहित और शांतभाव से युक्त होने पर निश्चयतीर्थ माने गये हैं।[20] इसी प्रकार मूलाचार में श्रुतधर्म को तीर्थ कहा गया है,[21] क्योंकि वह ज्ञान के माध्यम से आत्मा को पवित्र बनाता है। सामान्य निष्कर्ष यह है कि वे सभी साधन जो आत्मा के विषय - कषायरुपी मल को दूर कर उसे संसार-समुद्र से पार उतारने में सहायक होते या पवित्र बनाते हैं, वे निश्चयतीर्थ हैं। यद्यपि बोधपाहुड की टीका (लगभग 11वीं शती) में यह भी स्पष्ट रुप से उल्लेख मिलता है कि जो निश्चयतीर्थ की प्राप्ति का कारण है ऐसे जगत - प्रसिद्ध मुक्तजीवों के

.....

18. तित्थं भंते तित्थं तित्थगरे तित्थ ? गोयमा ! अरहा ताव णियमा तित्थगरे, तित्थं पुण चाउव्वणाइणं समणसंघे। तं जहा-समणा, समणीओ, सावया, साावियाओ य।

- भगवतीसूत्र, शतक 20, उद्देशक 8,

19. "वयसंमत्तविसुद्धे पंचेंदियसंजदे णिरावेक्खो।
णहाए उ मुणी तित्थदिक्खासिक्खा सुण्हाणेण।"

- बोधपाहुड, मू. 26-27

20. बोधपाहुड, टीका 26/91/21

21. सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं। मूलाचार, 557

चरणकमलों से संस्पर्शित उर्जयंत, शत्रुंजय, पावागिरि आदि तीर्थ हैं और कर्मक्षय का कारण होने से वे व्यवहारतीर्थ भी वंदनीय माने गये हैं।[22] इस प्रकार दिगम्बर परंपरा में भी साधना मार्ग और आत्मविशुद्धि के कारणों को निश्चयतीर्थ और पंचकल्याणक भूमियों को व्यवहार तीर्थ माना गया है। मूलाचार में यह भी कहा गया है कि दाहोपशमन, तृषानाश और मल की शुद्धि ये तीन कार्य जो करते हैं वे द्रव्वतीर्थ हैं किन्तु जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र से मुक्त जिनदेव हैं वे भावतीर्थ हैं। यह भावतीर्थ ही निश्चयतीर्थ है। कल्याणक भूमि तो व्यवहारतीर्थ है।[23] इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परंपराओं में प्रधानता तो भावतीर्थ या निश्चयतीर्थ को ही दी गई है, किन्तु आत्मविशुद्धि के हेतु या प्रेरक होने के कारण द्रव्यतीर्थों या व्यवहारतीर्थों को भी स्वीकार किया गया है। स्मरण रहे कि अन्य धर्म परंपराओं में जो तीर्थ की अवधारणा उपलब्ध है, उसकी तुलना जैनों के द्रव्य-तीर्थ से की जा सकती है।

जैन परंपरा में तीर्थ शब्द का अर्थविकास

जैन परंपरा में तीर्थ शब्द का अर्थ - विकास श्रमण परंपरा में प्रारंभ में तीर्थ की इस अवधारणा को एक आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया गया था। विशेषावश्यकभाष्य जैसे प्राचीन आगमिकव्याख्या ग्रंथों में भी वैदिक परंपरा में मान्य नदी, सरोवर आदि स्थलों को तीर्थ मानने की अवधारणा का खण्डन किया गया और उसके स्थान पर रत्नत्रय से युक्त साधनामार्ग अर्थात् उस साधन से चल रहे साधक के संघ को तीर्थ के रुप में अभिनिहित किया गया है। यही दृष्टिकोण अचेल परंपरा के ग्रंथ मूलाचार में भी देखा जाता है, जिसका उल्लेख पूर्व में हम कर चुके हैं।

परवर्ती काल में जैन परंपरा में तीर्थ संबंधी अवधारणा में परिवर्तन हुआ और द्रव्यतीर्थ अर्थात् पवित्र स्थलों को भी तीर्थ माना गया। सर्वप्रथम तीर्थंकरों को जन्म, दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण से संबंधित स्थलों को पूज्य मानकर उन्हें तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया।

.....

22. 'तज्जगत्प्रसिद्ध निश्चयतीर्थ प्राप्तिकारणं
मुक्तमुनिपादस्पृष्टं तीर्थउर्जयन्तशत्रुंजयला देशपावागिरि.....।
- बोधपाहुड, टीका, 27 / 13 / 7

23. दुविहं च होई तित्थं णादव्वं दव्वभावसंजुत्तं।
एदेसिं दोण्हपि य पत्तेय परुवणा होदि॥

आगे चलकर तीर्थंकरों के जीवन की प्रमुख घटनाओं से संबंधित स्थल ही नहीं अपितु गणधर एवं प्रमुख मुनियों के निर्वाण-स्थल और उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटना से जुड़े हुए स्थल भी तीर्थ के रूप में स्वीकार किये गये। इससे भी आगे चलकर वे स्थल भी, जहाँ कलात्मक मंदिर बने या जहाँ की प्रतिमाएँ चमत्कारपूर्ण मानी गई, तीर्थ कहे गये।

हिन्दू और जैन तीर्थ की अवधारणाओं में मौलिक अंतर

यह सत्य है कि कालान्तर में जैनों ने हिन्दू परंपरा के समान ही कुछ स्थलों को पवित्र और पूज्य मानकर उनकी पूजा और यात्रा को महत्व दिया, किन्तु फिर भी दोनों अवधारणाओं में मूलभूत अंतर है। हिन्दू परंपरा नदी, सरोवर आदि को स्वतः पवित्र मानती है, जैसे- गंगा। यह नदी किसी ऋषि-मुनि आदि के जीवन की घटना से संबंधित होने के कारण नहीं, अपितु स्वतः ही पवित्र है। ऐसे पवित्र स्थल पर स्नान, पूजा अर्चना, दान-पुण्य एवं यात्रा आदि करने को एक धार्मिक कृत्य माना जाता है। इसके विपरीत जैन परंपरा में तीर्थ स्थल को अपने आप में पवित्र माना गया, अपितु यह माना गया है कि तीर्थंकर अथवा अन्य त्यागी-तपस्वी महापुरुषों के जीवन से संबंधित होने के कारण वे स्थल पवित्र बने हैं। जैनों के अनुसार कोई भी स्थल अपने आप में पवित्र या अपवित्र नहीं होता, अपितु वह किसी महापुरुष से संबंद्ध होकर या उनका सानिध्य पाकर पवित्र माना जाने लगता है, यथा-कल्याणक, भूमियाँ; जो तीर्थंकर के जन्म, दीक्षा, कैवल्य या निर्वाणस्थल होने से पवित्र मानी जाती है। बौद्ध परंपरा में भी बुद्ध के जीवन से संबंधित स्थलों को पवित्र माना गया है।

हिन्दू और जैन परंपरा में दूसरा महत्वपूर्ण अंतर यह है कि जहाँ हिन्दू परंपरा में प्रमुखतया नदी-सरोवर आदि को तीर्थ रुप में स्वीकार किया गया है वहीं जैन परंपरा में सामान्यतया किसी नगर अथवा पर्वत को भी तीर्थस्थल के रूप में स्वीकार किया गया। यह अंतर भी मूलतः तो किसी स्थल को स्वतः पवित्र मानना या किसी प्रसिद्ध महापुरुष के कारण पवित्र मानना, इसी तथ्य पर आधारित है। पुनः इस अंतर का एक प्रसिद्ध कारण यह भी है कि जहाँ हिन्दू परंपरा में बाह्य शौच (स्नादि शारीरिक शुद्धि) की प्रधानता थी, वहीं जैन परंपरा में तप और त्याग द्वारा आत्मशुद्धि की प्रधानता थी, स्नानादि तो वर्ज्य ही माने गये थे। अतः यह स्वाभाविक था कि जहाँ हिन्दू परंपरा में नदी-सरोवर तीर्थ रुप में विकसित हुए वहाँ जैन परंपरा में साधना-स्थल के रुप में वन-पर्वत आदि तीर्थों के रुप में विकसित हुए। यद्यपि आपवादिक रुप में हिन्दू परंपरा में भी

कैलाश आदि पर्वतों को तीर्थ माना गया, वहीं जैन परंपरा में शत्रुंजय नदी आदि को पवित्र या तीर्थ के रुप में माना गया है, किन्तु यह इन परंपराओं के पारस्परिक प्रभाव का परिणाम था। पुनः हिन्दू परंपरा में जिन पर्वतीय स्थलों जैसे कैलाश आदि को तीर्थ रुप में माना गया उनके पीछे भी किसी देव का निवास स्थान या उनकी साधनास्थली होना ही एकमात्र कारण था, किन्तु यह निवृत्तिमार्गी परंपरा का ही प्रभाव था। दूसरी ओर हिन्दू परंपरा के प्रभाव से जैनों में भी यह अवधारणा बनी कि यदि शत्रुंजय नदी में स्नान नहीं किया तो मानव जीवन ही निरर्थक है।

''सतरूंजी नदी नहायो नहीं, तो गया मिनख जमारो हार''॥

तीर्थ और तीर्थयात्रा

पूर्व विवरण से स्पष्ट है कि जैन परंपरा में ''तीर्थ'' शब्द के अर्थ का ऐतिहासिक विकास-क्रम है। सर्वप्रथम जैन धर्म में गंगा आदि लौकिक तीर्थों की यात्रा तथा वहाँ स्नान, पूजन आदि को धर्म साधना की दृष्टि से अनावश्यक माना गया और तीर्थ शब्द को आध्यात्मिक अर्थ प्रदान कर आध्यात्मिक साधना-मार्ग को तथा उस साधना का अनुपालन करने वाले साधकों के संघ को ही तीर्थ के रुप में स्वीकार किया गया किन्तु कालान्तर में जैन परंपरा में भी तीर्थंकरों की कल्याणक भूमियों को पवित्र स्थानों के रूप में मान्य करके तीर्थ तीर्थ की लौकिक अवधारणा का विकास हुआ। ई.पू. में रचित अति प्राचीन जैन आगमों जैसे आचारांग आदि में हमें जैन तीर्थस्थलों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, यद्यपि उनमें हिन्दू परंपरा के तीर्थस्थलों पर होने वाले महोत्सवों तथा यात्राओं का उल्लेख मिलता है परंतु आध्यात्ममार्गी जैन परंपरा वाले मुनि के लिए इन तीर्थमेलों और यात्राओं में भाग लेने का भी निषेध करती थी।[25] ईसा की प्रथम शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी के मध्य निर्मित परवर्ती आगमिक साहित्य में भी यद्यपि जैन तीर्थस्थलों और तीर्थयात्राओं के स्पष्ट संकेत तो नहीं मिलते है, फिरभी इनमें तीर्थंकरों की कल्याणकारीभूमियों, विशेष रुप से जन्म एवं निर्वाण स्थलों की चर्चा है।[26]

.....

25. से भिक्खु वा भिक्खु वा ..... थूम महेसु वा, चेतिय महेसु वा, तडाग महेसु वा, दहमहेगु वा, णई महेसु वा, सरमहेसु या ..... णो पडिगाहेज्जा।
- आचारांग 2 / 1 / 24

26. (अ) समवायांग प्रकीर्णक, समवाय 225/1
(ब) आवश्यक निर्युक्ति, 382-84

साथ ही तीर्थंकरों की चिता - भस्म एवं अस्थियों को क्षीरसमुद्रादि में प्रवाहित करने तथा देवलोक में उनके रखे जाने के उल्लेख भी मिलते हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में ऋषभ के निर्वाण-स्थल पर स्तूप बनाने का उल्लेख है।[27] इस काल के आगम ग्रंथों में हमें देवलोक एवं नंदीश्वर द्वीप में निर्मित चैत्य आदि के उल्लेखों के साथ-साथ यह भी वर्णन मिलता है कि पर्व-तिथियों में देवता नंदीश्वरद्वीप जाकर महोत्सव आदि मनाते हैं।[28] यद्यपि इस काल के आगमों में अरिहंतों के स्तूपों एवं चैत्यों के उल्लेख तो हैं किन्तु उन पवित्र स्थलों पर मनुष्यों द्वारा आयोजित होने वाले महोत्सवों और उनकी तीर्थ यात्राओं पर जाने का कोई उल्लेख नहीं है। विद्वानों से हमारी अपेक्षा है कि यदि उन्हें इस तरह का कोई उल्लेख मिले तो वे सूचित करें।

लोहानीपुर और मथुरा में उपलब्ध जिन-मूर्तियों, आयाग-पटों, स्तूपांकनों तथा पूजा के निमित्त कमल लेकर प्रस्थान आदि के अंकनों से यह तो निश्चित हो जाता है कि जैन परंपरा में चैत्यों के निर्माण और जिनप्रतिमा के पूजन की परंपरा ई.पू. की तीसरी शताब्दी में भी प्रचलित थी। किन्तु तीर्थ और तीर्थयात्रा संबंधि उल्लेखों का आचारांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगमों में अभाव हमारे सामने एक प्रश्न चिन्ह तो अवश्य ही उपस्थित करता है।

तीर्थ और तीर्थयात्रा संबंधी समस्त उल्लेख निर्युक्ति, भाष्य और चुर्णी साहित्य में उपलब्ध होते हैं। आचारांग निर्युक्ति में अष्टापद, उर्जयन्त, गजाग्रपद, धर्मचक्र और अहिच्छत्रा को वंदन किया गया है।[29] इससे स्पष्ट होता है कि निर्युक्ति काल में तीर्थस्थलों के दर्शन, वंदन एवं यात्रा की अवधारणा स्पष्ट रूप से बन चुकी थी और इसे पुण्य कार्य माना जाता था। निशीथचूर्णी में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तीर्थंकरों की कल्याणक भूमियों की यात्रा करने से दर्शन की विशुद्धि होती है, अर्थात् व्यक्ति की श्रद्धा पुष्ट होती है।[30]

.....

27. (अ) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, 2/111
    (ब) आवश्यकनिर्युक्ति, 48
    (स) समवायांग, 34/3
28. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जबुद्दीवपण्णत्ति), 2/114-22
29. अट्ठावय उज्जिंते गयग्गपए धम्मचक्के य।
    पासरहावतनगं व मरुप्पायं च वंदामि
30. निशीथचूर्णि भाग 1 पृ. 24

इस प्रकार जैनों में तीर्थंकरों की कल्याणक - भूमियों को तीर्थरूप में स्वीकार कर उनकी यात्रा के स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम लगभग छठी शती से मिलने लगते हैं। यद्यपि इसके पूर्व भी यह परंपरा प्रचलित तो अवश्य ही रही होगी।

इस काल में कल्याणक भूमियों के अतिरिक्त वे स्थल जो मंदिर और मूर्तिकला के कारण प्रसिद्ध हो गये थे, उन्हें भी तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया और उनकी यात्रा एवं वंदन को भी बोधिलाभ और निर्जरा का कारण माना गया। निशीथचूर्णी में तीर्थंकरों की जन्म कल्याणक आदि भूमियों के अतिरिक्त उत्तरापथ में धर्मचक्र, मथुरा में देवनिर्मित स्तूप और कोशल की जीवन्त स्वामी की प्रतिमा का पूज्य बताया गया है।[31] इस प्रकार वे स्थल, जहाँ कलात्मक एवं भव्य मंदिरों का निर्माण हुआ अथवा किसी जिन प्रतिमा को चमत्कारी मान लिया गया, तीर्थ रूप में मान्य हुए। उत्तरापथ, मथुरा और कोशल आदि की तीर्थ रुप में प्रसिद्धि इसी कारण थी। हमारी दृष्टि में संभवतः आगे चलकर तीर्थों का जो विभाजन कल्याणक क्षेत्र, सिद्धक्षेत्र और अतिशय क्षेत्र के रुप में हुआ उसका भी यही कारण था।

तीर्थ क्षेत्र के प्रकार - जैन परंपरा में तीर्थ स्थलों का वर्गीकरण मुख्य रुप से तीन वर्गों में किया जाता है-

1. कल्याणक क्षेत्र, 2. निर्वाण क्षेत्र और, 3. अतिशय क्षेत्र।

1. कल्याणक क्षेत्र -

जैन परंपरा में सामान्यतया प्रत्येक तीर्थंकर के पाँच कल्याणक माने गये हैं। कल्याणक शब्द का तात्पर्य तीर्थंकर के जीवन की महत्वपूर्ण घटना से संबंधित पवित्र दिन से है। जैन परंपरा में तीर्थंकरों के गर्भ-प्रवेश, जन्म, दीक्षा (अभिनिष्क्रमण), कैवल्य (बोधिप्राप्ति) और निर्वाण दिवसों को कल्याणक दिवस के रूप में माना जाता है। तीर्थंकर के जीवन की ये महत्वपूर्ण घटनाएँ जिस नगर या स्थल पर घटित होती हैं उसे कल्याणक-भूमि कहा जाता है। हम तीर्थंकरों की इन कल्याणक भूमियों का एक संक्षिप्त विवरण निम्नतालिका में प्रस्तुत कर रहे हैं-

.....

31. उत्तरावहे, धम्मचक्कं, महुरए देवणिम्मिय थूभो कोसलाए व जियंतपडिमा, तित्थकराण वा जम्मभूमीओ।

कल्याणक

तीर्थंकर का नाम	च्यवन	जन्म	दीक्षा	कैवल्य	निर्वाण
ऋषभ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	पुरिमताल (प्रयाग?)	अष्टापद (कैलाश)
अजीत	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	सम्मेदशिखर
संभव	श्रावस्ती	श्रावस्ती	सहेतुक (अयोध्या)	श्रावस्ती	सम्मेदशिखर
अभिनंदन	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	सम्मेदशिखर
सुमति	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	सम्मेदशिखर
पद्मप्रभ	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	सम्मेदशिखर
पुष्पदंत	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	सम्मेदशिखर
शीतल	भद्रिल	भद्रिल	भद्रिल	भद्रिल	सम्मेदशिखर
श्रेयांस	सिंहपुर	सिंहपुर	सिंहपुर	सिंहपुर	सम्मेदशिखर
वासुपूज्य	चम्पा	चम्पा	चम्पा	चम्पा	चम्पा
विमल	काम्पिल	काम्पिल	काम्पिल	काम्पिल	सम्मेदशिखर

तीर्थंकर का नाम	च्यवन	जन्म	दीक्षा	कैवल्य	निर्वाण
अनंत	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	सम्मेदशिखर
धर्म	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	सम्मेदशिखर
शान्ति	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	सम्मेदशिखर
कुन्थु	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	सम्मेदशिखर
अर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	सम्मेदशिखर
मल्लि	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिला	सम्मेदशिखर
मुनिसुव्रत	राजगृह	राजगृह	राजगृह	राजगृह	सम्मेदशिखर
नमि	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिला	सम्मेदशिखर
नेमि	शौरीपुर	शौरीपुर	उर्जयन्त	उर्जयन्त	उर्जयन्त
पार्श्व	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	सम्मेदशिखर
वर्द्धमान	श्रत्रियकुण्ड	श्रत्रियकुण्ड	श्रत्रियकुण्ड	ऋजुवालिका	पावा

तीर्थंकरों के कुल कल्याण क्षेत्र निम्नलिखित हैं- अयोध्या, पुरिमताल, अष्टापद, सम्मेदशिखर, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, चन्द्रपुरी, काकन्दी, भद्दिलपुर, सिंहपुर, चम्पा, काम्पिल्य, रत्नपुर, हस्तिनापुर, मिथिला, राजगृह, शौरीपुर, उर्जयन्त, ऋजुवालिका और पावा।

2. निर्वाण क्षेत्र -

निर्वाण क्षेत्र को सामान्यतया सिद्ध क्षेत्र भी कहा जाता है। जिस स्थल से किसी मुनि को निर्वाण प्राप्त होता है, वह स्थल सिद्ध क्षेत्र या निर्वाण स्थल के नाम से जाना जाता है। सामान्य मान्यता तो यह है कि इस भूमंडल पर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ से कोई न कोई मुनि सिद्धि को प्राप्त न हुआ हो। अतः व्यावहारिक दृष्टि से तो समस्त भूमण्डल ही सिद्धक्षेत्र या निर्वाण क्षेत्र है फिर भी सामान्यतया जहाँ से अनेक सुप्रसिद्ध मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया हो, उसे निर्वाण क्षेत्र कहा जाता है। जैन परंपरा में शत्रुंजय, पावागिरि, तुंगीगिरि, सिद्धवरकूट, चूलगिरि, रेशन्दगिरि, सोनागिरि आदि सिद्धक्षेत्र माने जाते हैं। सिद्धक्षेत्रों की विशिष्ट मान्यता तो दिगंबर परंपरा में प्रचलित है, किन्तु श्वेताम्बर परंपरा में भी शत्रुंजयतीर्थ सिद्धक्षेत्र ही है।

3. अतिशय क्षेत्र -

वे स्थल, जो न तो किसी तीर्थंकर की कल्याणक-भूमि हैं, न किसी मुनि की साधना या निर्वाण-भूमि हैं किन्तु जहाँ की जिन-मूर्तियाँ चमत्कारी हैं अथवा जहाँ के मंदिर भव्य हैं , वे अतिशय क्षेत्र कहे जाते हैं। आज जैन परंपरा में अधिकांश तीर्थ अतिशय क्षेत्र के रूप में ही माने जाते हैं। उदाहरण के रूप में आबू, रणकपूर, जैसलमेर, श्रवणबेलगोला आदि इसी रूप में प्रसिद्ध हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैनों के कुछ तीर्थ न केवल तीर्थंकरों की मूर्तियों को चमत्कारिता के कारण, अपितु उस तीर्थ के अधिष्ठायक देवों की चमत्कारिता के कारण भी प्रसिद्ध है। उदाहरण के रुप में नाकोड़ा और महुड़ी की प्रसिद्धि उन तीर्थों के अधिष्ठायक देवों के कारण ही हुई है। इसी प्रकार हुम्मच की प्रसिद्धि पार्श्व की यक्षी - पद्मावती की मूर्ति के चमत्कारिक होने के आधार पर ही है।

इन तीन प्रकार के तीर्थों के अतिरिक्त कुछ तीर्थ ऐसे भी हैं जो इस कल्पना पर आधारित हैं कि यहाँ पर किसी समय तीर्थंकर का पदार्पण हुआ था या उनकी धर्मसभा (समवसरण) हुई थी। इसके साथ-साथ वर्तमान में कुछ जैन-आचार्यों के जीवन से संबंधित स्थलों पर गुरु मंदिरों का निर्माण कर उन्हें भी तीर्थ रुप में माना जाता है।

तीर्थ यात्रा -

जैन परंपरा में तीर्थयात्राओं का प्रचलन कब से हुआ, यह कहना अत्यंत कठिन हैं, क्योंकि चूर्णीसाहित्य के पूर्व आगमों में तीर्थ स्थलों की यात्रा करने का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। सर्वप्रथम निशीथचूर्णी में स्पष्ट रुप से यह उल्लेख है कि तीर्थंकरों की कल्याणक भूमियों की यात्रा करता हुआ जीव, दर्शन-विशुद्धि को प्राप्त करता है।[32] इसी प्रकार व्यवहारभाष्य और व्यवहार चूर्णी में यह उल्लेख है कि जो मुनि अष्टमी और चतुर्दशी को अपने नगर के समस्त चैत्यों और उपाश्रयों में ठहरे हुए मुनियों को वंदन नहीं करता है तो वह मासलघु प्रायश्चित का दोषी होता है।[33]

तीर्थयात्रा का उल्लेख महानिशीथसूत्र में भी मिलता है यद्यपि इस ग्रंथ का रचनाकाल विवादास्पद है। हरिभद्र एवं जिनदासगणि द्वारा इसके उद्धार की कथा तो स्वयं ग्रंथ में ही वर्णित है। नन्दीसूत्र में आगमों की सूची में महानिशीथ का उल्लेख है। अतः यह स्पष्ट है कि इसका रचनाकाल पाँचवीं से आठवीं शताब्दी के मध्य ही रहा होगा। इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि जैन परंपरा में तीर्थ यात्राओं को इसी कालावधि में विशेष महत्व प्राप्त हुआ होगा।

महानिशीथ में उल्लेख है कि "हे भगवन्! यदि आप आज्ञा दें तो हम तीर्थयात्रा करते हुए चन्द्रप्रभ स्वामी को वंदन कर और धर्मचक्र तीर्थ की यात्रा करके वापस आयें।[34]

.....

32. निशीथचूर्णी, भाग - 3, पृ. 24

33. निस्सकडमनिस्सकडे चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि। वेलंब चेइआणि व नाउं रविकक्किक आवि', अट्ठमीचउदसी सुंचेइय सव्वाणि साहुणो सव्वे वन्देयव्वा नियमा अवसेस - तिहीसु जहसत्ति॥" एएसु अट्ठमीमादीसु चेइयाइं साहुणो वा जे अणणाए पसहीए ठिआते न वंदंति मास लहु॥

- व्यवहारचूर्णी - उद्धृत जैनतीर्थोनो इतिहास, भूमिका, पृ. 10

34. जहन्नया गोयमा ते साहुणो तं आयरियं भणंति जहा - णं जइ भयवं तुमे आणांवेहि ताणं अम्हेहि तित्थयत्तं करि (2) या चंदप्पहंसामियं वंदि (3) या धम्मचक्कं गंतूणमागच्छामो॥

- महानिशीथ, उद्धृत, वही, पृ. 10

जिन - यात्रा के संदर्भ में हरिभद्र के पंचाशक (8वीं शती) में विशिष्ट विवरण उपलब्ध होता है। हरिभद्र ने नवें पंचाशक में जिन-यात्रा के विधि विधान का निरूपण किया है किन्तु ग्रंथ को देखने से ऐसा लगता है कि वस्तुतः यह विवरण दूरस्थ तीर्थों में जाकर यात्रा करने की अपेक्षा अपने नगर में ही जिन - प्रतिमा की शोभा - यात्रा से संबंधित है। इसमें यात्रा के कर्तव्यों एवं उद्देश्यों का निर्देश है। उसके अनुसार जिनयात्रा में जिनधर्म की प्रभावना हेतु यथाशक्ति दान, तप, शरीर-संस्कार, उचित गीत-वादित्र, स्तुति आदि करना चाहिए।[35] तीर्थ यात्राओं में श्वेताम्बर परंपरा में छह-री पालक संघ यात्रा की जो प्रवृत्ति प्रचलित है, उसके पूर्व - बीज भी हरिभद्र के इस विवरण में दिखाई देते हैं। आज भी तीर्थयात्रा में इन छह बातों का पालन अच्छा माना जाता है-

1. दिन में एक बार भोजन करना (एकाहारी)
2. भूमिशयन (भू-आधारी)
3. पैदल चलना (पादचारी)
4. शुद्ध श्रद्धा रखना (श्रद्धाकारी)
5. सर्वसचित्त का त्याग (सचित्त परिहारी)
6. ब्रह्मचर्य का पालन (ब्रह्मचारी)

तीर्थों के महत्व एवं यात्राओं संबंधी विवरण हमें मुख्य रूप से परवर्ती काल के ग्रंथों में ही मिलते हैं। सर्वप्रथम प्रस्तुत ''सारावली'' नामक प्रकीर्णक में शत्रुंजय - ''पुण्डरीक तीर्थ'' की उप्पत्ति कथा, उसका महत्व एवं उसकी यात्रा तथा वहाँ किये गये तप, पूजा, दान आदि के फल विशेष रुप से उल्लिखित हैं।[36]

.....

35. श्री पंचाशक प्रकरणम् - हरिभद्रसूरि जिनयात्रा पंचाशक, पृ. 248-63
अभयदेव सूरि की टीका सहित - प्रकाशक - ऋषभदेव - केशरीमल (श्वे. संस्था. रतलाम)

36. पइण्णयसुत्ताइं - सारावली पइण्णयं, पृ. 350 - 60
सम्पादक - मुनि पू. विजयजी, प्रकाशक श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई।

इसके अतिरिक्त विविध तीर्थ - कल्प (13वीं शती) और तीर्थ मालाएँ भी जो कि 12वीं - 13वीं शताब्दी से लेकर परवर्ती काल में पर्याप्त रुप में रची गई, तीर्थों की महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती हैं। जैन साहित्य में तीर्थयात्रा संघों के निकाले जाने संबंधि विवरण भी 13वीं शती के पश्चात् रचित अनेक तीर्थमालाओं एवं अभिलेखों में यंत्र-तंत्र मिल जाते हैं, जिनकी चर्चा आगे की गई है।

तीर्थयात्रा का उद्देश्य न केवल धर्म साधना है, अपितु इसका व्यावहारिक उद्देश्य भी है, जिसका संकेत निशीथचूर्णी में मिलता है, उसमें कहा गया है कि जो एक ग्राम का निवासी हो जाता है और अन्य ग्राम-नगरों को नहीं देखता, वह कूपमंडूक होता है। इसके विपरीत जो भ्रमणशील होता है वह अनेक प्रकार के ग्राम-नगर, सन्निवेश, जनपद राजधानी आदि में विवरण कर व्यवहार - कुशल हो जाता है तथा नदी, गुहा, तालाब, पर्वत आदि को देखकर चक्षु सुख को भी प्राप्त करता है। साथ ही तीर्थंकरों की कल्याणक भूमियों को देखकर दर्शन विशुद्धि भी प्राप्त करता है। पुनः अन्य साधुओं के समागम का भी लाभ लेता है और उनकी समाचारी से भी परिचित होता है। परस्पर दानादि द्वारा विविध प्रकार के घृत, दही, गुड़, क्षीर आदि नाना व्यंजनों का रस भी ले लेता है।[37]

निशीथ चूर्णी (7वीं शती) के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार्य तीर्थयात्रा की आध्यात्मिक मूल्यवत्ता के साथ-साथ उसकी व्यावहारिक उपादेयता भी स्वीकारते थे।

.....

37. अहाव : तस्स भावं पाऊण भणेज्जा - "सो वत्थव्वो एगगामणिवासी कूवमंडुक्को इव ण गामण गरादी पेच्छति। अम्हे पुण अणियतवासी, तुमं पि अम्हे हि समाणं हिडंतो णाणाविध-गाम-णगरागर-सन्निवेस-रायहाणि जणवदे य पेच्छंतो अभिधाकुसलो भविस्ससि, तहा सरवादि-वप्पिणि-णदि-कूप-तडाग-काणणुज्जोण कंदर-दरि-कुहर- पव्वतेय णाणाविह - रुक्खसोभिए पेच्छंतो चक्खुसुहं पाविहिसि, तित्थकराण य तिलोगपुइयाण जम्मण विहार केवलुप्पाद निव्वाणभूमीओ य पेच्छंतो दंसणसुद्धि काहिसिं तहा अण्णेण्ण साहुसमागमेण य सामायारि कुसलो भविस्ससि, सुव्वापुव्वे य चेइए वंदंतो बोहिलाभं निज्जित्तेहिसि, अण्णोण्ण सुय दाणाभिगमसड्ढे सु संजमाविरुद्धं विविध - वंजणोववेयमण्यं घय - गुल - दधि क्षीरमादियं च विगतिवरिभोगं पाविहिसं॥2716॥

- निशीथचूर्णी, भाग 3, पृ. 24, प्रकाशक - सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा

तीर्थविषयक श्वेताम्बर जैन साहित्य

तीर्थविषयक साहित्य में कुछ कल्याणक भूमियों के उल्लेख समवायांग, ज्ञाता और पर्युषणकल्प में हैं। कल्याणक भूमियों के अतिरिक्त अन्य तीर्थक्षेत्रों के जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं उनमें श्वेताम्बर परंपरा में सबसे पहले महानिशीथ और निशीथचूर्णी में हमें मथुरा, उत्तरापथ और चम्पा के उल्लेख मिलते हैं। निशीथचूर्णी, व्यवहारभाष्य, व्यवहारचूर्णी आदि में नामोल्लेख के अतिरिक्त इन तीर्थों के संदर्भ में विशेष कोई जानकारी नहीं मिलती ; मात्र यह बताया गया है कि मथुरा स्तूपों के लिए उत्तरापथ धर्मचक्र के लिए और चम्पा जीवन्तस्वामी की प्रतिमा के लिए प्रसिद्ध थे। तीर्थ संबंधी विशिष्ट साहित्य में तित्थोगालिय, प्रकीर्णक, सारावली प्रकीर्णक के नाम महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं किन्तु तित्थोगालिय प्रकीर्णक में तीर्थस्थलों का विवरण न होकर साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रुप चतुर्विध तीर्थ की विभिन्न कालों में विभिन्न तीर्थंकरों द्वारा जो स्थापना की गई, उसके उल्लेख मिलते हैं, उसमें जैन संघ रुपी तीर्थ के भूत और भविष्य के संबंध में कुछ सूचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। उसमें महावीर के निर्वाण के बाद आगमों का विच्छेद किस प्रकार से होगा ? कौन-कौन प्रमुख आचार्य और राजा आदि होंगे, इसके उल्लेख हैं । इस प्रकीर्णक में श्वेताम्बर परंपरा को अमान्य ऐसे आगम आदि के उच्छेद के उल्लेख भी हैं । यह प्रकीर्णक मुख्यतः महाराष्टी प्राकृत में उपलब्ध होता है, किन्तु इस पर शैरसेनी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इसका रचनाकाल निश्चित करना तो कठिन है, फिर भी यह लगभग दसवीं शताब्दी के पूर्व का होना चाहिए, ऐसा अनुमान किया जाता है।

तीर्थ संबंधी विस्तृत विवरण की दृष्टि से आगमिक और प्राकृत भाषा के ग्रंथों में ''सारावली'' को मुख्य माना जा सकता है। इसमें मुख्य रूप से शत्रुंजय अपरनाम पुण्डरिक तीर्थ की उत्पत्ति - कथा दी गई है। इस प्रकीर्णक में शत्रुंजय तीर्थ का निर्माण कैसे हुआ और उसका पुण्डरिक नाम कैसे पड़ा ? ये दो बाते मुख्य रूप से विवेचित हैं और इस संबंध में कथा भी दी गई है। यह संपूर्ण ग्रंथ लगभग 116 गाथाओं में पूर्ण हुआ है। यद्यपि यह ग्रंथ प्राकृत भाषा में लिखा गया है, किन्तु भाषा पर अपभ्रंश के प्रभाव को देखते हुए इसे परवर्ती ही माना जायेगा। इसका काल दसवीं शताब्दी के लगभग रहा होगा।

इस प्रकीर्णक में इस तीर्थ पर दान, तप, साधना आदि के विशेष फल की चर्चा हुई है। ग्रंथ के अनुसार पुण्डरिक तीर्थ की महिमा और कथा अतियुक्त नामक ऋषि ने नारद को सुनाई, जिसे सुनकर उसने दीक्षित होकर केवल ज्ञान और सिद्धि को प्राप्त

किया। कथानुसार ऋषभदेव के पौत्र पुण्डरिक के निर्वाण के कारण यह तीर्थ पुण्डरिक गिरि के नाम से प्रचलित हुआ। इस तीर्थ पर नमि, विनमि आदि दो करोड़, केवली सिद्ध हुए हैं । राम, भरत आदि तथा पंचपाण्डवों एवं प्रद्युम्न, शाम्ब आदि कृष्ण के पुत्रों के इसी पर्वत से सिद्ध होने की कथा भी प्रचलित है। इस प्रकार यह प्रकीर्णक पश्चिम भारत के सर्वविश्रुत जैन तीर्थ की महिमा का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रंथ माना जा सकता है। इस प्रकीर्णक ग्रंथ की विषयवस्तु की विस्तृत चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। श्वेताम्बर परंपरा के प्राचीन आगमिक साहित्य में इसके अतिरिक्त अन्य कोई तीर्थ संबंधी स्वतंत्र रचना हमारी जानकारी में नहीं है।

इसके पश्चात् तीर्थ संबंधि साहित्य में प्राचीनतम जो रचना उपलब्ध होती है, वह बप्पभट्टिसूरि की परंपरा के यशोदेवसूरि के गच्छ के सिद्धसेनसूरि का सकलतीर्थ स्तोत्र है। यह रचना ई. सन् 1067 अर्थात् ग्यारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध की है। इस रचना में सम्मेत शिखर शत्रुंजय, उर्जयन्त, अर्बुद, चित्तौड़, जालपुर (जालौर) रणथम्भौर, गोपालगिरि (ग्वालियर), मथुरा, राजगृह, चम्पा, पावा, अयोध्या, काम्पिल्य, भद्दिलपुर, शौरीपुर, अंगइया (अंगदिका), कन्नोज, श्रावस्ती, वाराणसी, राजपुर, कुण्डनी, गजपुर, तलवाड़, देवराउ, खंडिल, डिण्डूवान (डिडवाना), नरान, हर्षपुर (षट्टउदेसे), नागपुर (नागौर-साम्भरदेश), पल्ली, सण्डेर, नाणक, कोरण्ट, भिन्नमाल (गुर्जर देश), आहड (मेवाड़ देश) उपकेसनगर (किराडउए) जयपुर (मरुदेश) सत्यपुर (साचौर), गुहुयराय, पश्चि वल्ली, थाराप्रद, वायण, जलिहर, नगर, भरुकच्छ (सौराष्ट) कुंकन, कलिकुण्ड, मानखेड़, (दक्षिण भारत) धारा, उज्जैनी (मालवा) आदि तीर्थों का उल्लेख है।

सम्भवतः समग्र जैन तीर्थों का नामोल्लेख करने वाली उपलब्धि रचनाओं में यह प्राचीनतम रचना है।[1] यद्यपि इसमें दक्षिण के उन दिगम्बर जैन तीर्थों के उल्लेख नहीं हैं जो कि इस काल में अस्तित्ववान थे। इस रचना के पश्चात् हमारे सामने तीर्थ संबंधि विवरण देने वाली दूसरी महत्वपूर्ण एवं विस्तृत रचना विविध तीर्थकल्प है, इस ग्रंथ में दक्षिण के कुछ दिगंबर तीर्थों को छोड़कर पूर्व, उत्तर, पश्चिम और मध्य भारत के लगभग सभी तीर्थों का विस्तृत एवं व्यापक वर्णन उपलब्ध होता है, यह ई. सन् 1332 की रचना है । श्वेताम्बर परंपरा की तीर्थ संबंधी रचनाओं में इसका अत्यंत महत्वपूर्ण

.....

1. **Discriptive Catalogue of Mss in the Jaina Bhandars at Pattan G.O.S. 73, Baroda, 1937, p 56**

स्थान माना जा सकता है। इसमें जो वर्णन उपलब्ध है, उससे ऐसा लगता है कि अधिकांश तीर्थस्थलों का उल्लेख कवि ने स्वयं देखकर किया है। यह कृति अपभ्रंश मिश्रित प्राकृत और संस्कृत में निर्मित है। इसमें जिन तीर्थों का उल्लेख है वे निम्न है :- शत्रुंजय, रैवतक गिरि, स्तम्भनकतीर्थ, अहिच्छत्रा, अर्बुद (आबू) अश्वावबोध, (भड़ौच), वैभारगिरि (राजगिररि), कौशाम्बी, लदद अयोध्या, अपापा, (पावा) कलिकुण्ड, हस्तिनापुर, सत्यपुर, (सौचार), अष्टापद (कैलाश), मिथिला, रत्नवाहपुर, प्रतिष्ठानपत्तन, (पैठन), काम्पिल्य, अवंतिदेशस्थ अभिनंदनदेव, नासिक्यपुर (नासिक), हरिकंखीनगर, अवंतिदेवस्थ, अभिनंदनदेव, चम्पा, पाटलिपुत्र, श्रावस्ति, वाराणसी, कोटिशिला, कोकावसति, ढिंपुरी, हस्तिनापुर, अंतरिक्षपार्श्वनाथ, फलवर्द्धि पार्श्वनाथ (फलौधी), आमरकुण्ड (हनमकोण्ड - आंध्रप्रदेश) आदि।

इन ग्रंथों के पश्चात् श्वेताम्बर परंपरा में अनेक तीर्थमालाएँ एवं चैत्यपरिपाटियाँ लिखी गई तो कि तीर्थ संबंधी साहित्य की महत्वपूर्ण अंग है। ये अधिकांशतः परवर्ती अपभ्रंश एवं प्राचीन मरू - गुर्जर में लिखी गई हैं। इन तीर्थमालाओं और चैत्यपरिपाटियों की संख्या शताधिक है और ये ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं - अठारहवीं शताब्दी तक निर्मित होती रही हैं। इन तीर्थमालाओं तथा चैत्यपरिपाटियों में कुछ तो ऐसो हैं जो किसी तीर्थ विशिष्ट से ही संबंधित हैं और कुछ ऐसी हैं जो सभी तीर्थों का उल्लेख करती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन चैत्यपरिपाटियों का अपना महत्व है, क्योंकि ये अपने-अपने काल में जैन तीर्थों की स्थिति का सम्यग् विवरण प्रस्तुत कर देती हैं। इन चैत्यपरिपाटियों में न केवल तीर्थक्षेत्रों का विवरण उपलब्ध होता है, अपितु वहाँ किस-किस मंदिर में कितनी-कितनी पाषाण और धातु की जिन प्रतिमाएँ रखी गई है, इसका भी विवरण उपलब्ध हो जाता है। उदाहरण के रुप में कटुकमति लाधाशाह द्वारा विरचित सूरतचैत्यरिपाटी में यह बताया गया है कि इस नगर के गोपीपुरा क्षेत्र में कुल 75 जिन मंदिर, 8 विशाल जिनमंदिर तथा 1325 जिनबिम्ब थे। संपूर्ण सूरत नगर में 10 विशाल जिन मंदिर, 235 देरासर (गृहचैत्य), 3 गर्भगृह, 3178 जिन प्रतिमाएं थी। इसके अतिरिक्त सिद्धचक्र कमल चौमुख, पंचतीर्थी, चौबीसी आदि को मिलाने पर 10041 जिनप्रतिमाएँ उस नगर में थी, ऐसा उल्लेख है। यह विवरण 1713 का है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि इन रचनाओं का ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से कितना महत्व है। संपूर्ण चैत्य परिपाटियों अथवा तीथमालाओं का उल्लेख अपने आप में एक स्वतंत्र शोध का विषय है। अतः हम उन सबकी चर्चा न करके मात्र उनकी एक संक्षिप्त सूची यहाँ प्रस्तुत कर रहें हैं-

रचना	रचनाकार	रचनाकाल
सकलतीर्थ स्तोत्र	सिद्धसेनसूरि	वि.सं. 1123
अष्टोत्तरीतीर्थमाला	महेन्द्रसूरि	वि.सं. 1241
कल्पप्रदीप अपरनाम		
विविधतीर्थकल्प	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1389
तीर्थयात्रास्तवन	विनयप्रभ उपाध्याय	वि.सं. 14वीं शती
अष्टोत्तरीतीर्थमाला	मुनिप्रभसूरि	वि.सं. 15वीं शती
तीर्थमाला	मेघकृत	वि.सं. 16वीं शती
पूर्वदेशीयचैत्यपरिपाटी	हंससोम	वि.सं. 1565
सम्मेतशिखर तीर्थमाला	विजयसागर	वि.सं. 1717
श्री पार्श्वनाथ नाममाला	मेघविजय उपाध्याय	वि.सं. 1721
तीर्थमाला	शील विजय	वि.सं. 1748
तीर्थमाला	सौभाग्य विजय	वि.सं. 1750
शत्रुंजयतीर्थपरिपाटी	देवचन्द्र	वि.सं. 1769
सूरतचैत्यपरिपाटी	घालासाह	वि.सं. 1793
तीर्थमाला	ज्ञानविमलसूरि	वि.सं. 1795
सम्मेतशिखरतीर्थमाला	जयविजय	-
गिरनार तीर्थ	रत्नसिंहसूरिशिष्य	-
चैत्यपरिपाटी	मुनिमहिमा	-
पार्श्वनाथ चैत्यपरिपाटी	कल्याणसागर	-
शास्वततीर्थमाला	वाचनाचार्य मेरुकीर्ति	-
जैसलमेरचैत्यपरिपाटी	जिनसुखसूरि	-
शत्रुंजयचैत्यपरिपाटी	-	-
शत्रुंजयतीर्थयात्रारास	विनीत कुशल	-
आदिनाथ रास	कविलावण्यसमय	-
पार्श्वनाथ संख्यास्तवन	रत्नकुशल	-
कावीतीर्थवर्णन	कविदीप विजय	वि.सं. 1886
तीर्थराज चैत्यपरिपाटी स्तवन	साधुचन्द्रसूरि	-
पूर्वदेश चैत्यपरिपाटी	जिनवर्धनसूरि	-
मंडपांचलचैत्यपरिपाटी	खेमराज	-

यह सूची ''प्राचीनतीर्थमालासंग्रह'' सम्पादक-विजयधर्मसूरिजी के आधार पर दी गई है।

दिगम्बर परंपरा का तीर्थ विषयक साहित्य

दिगम्बर परंपरा में प्राचीनतम ग्रंथ कसायपाहुड़, षट्खण्डागम, भगवती आराधना एवं मूलाचार हैं। किन्तु इनमें तीर्थ शब्द का तात्पर्य धर्मतीर्थ या चातुर्विधसंघ रूपी तीर्थ से ही है। दिगम्बर परंपरा में तीर्थक्षेत्रों का वर्णन करने वाले ग्रंथों में तिलोयपण्णति को प्राचीनतम माना जा सकता है। तिलोपयपण्णति (पांचवी शती) में मुख्य रुप से तीर्थंकरों की कल्याणक-भूमियों के उल्लेख मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उसमें क्षेत्रमंगल की चर्चा करते हुए पावा, उर्जयंत और चम्पा के नामों का उल्लेख भी किया गया है।[1] इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ति में राजगृह का पंचशौलनगर के रुप में उल्लेख हुआ है और उसमें पाचों शैलों का यथार्थ और विस्तृत विवेचन भी है। समन्तभद्र (5वीं शती) ने स्वयम्भू स्तोत्र में उर्ज्ययंत का विशेष विवरण प्रस्तुत किया है। दिगम्बर परंपरा में इसके पश्चात् तीर्थों का विवेचन करने वाले ग्रंथों के रुप में दशभक्तिपाठ प्रसिद्ध है। इनमें संस्कृतनिर्वाणभक्ति और प्राकृतनिर्वाणकाण्ड महत्वपूर्ण हैं। सामान्यतया संस्कृतनिर्वाणभक्ति और प्राकृतनिर्वाणकाण्ड महत्वपूर्ण हैं। सामान्यतया संस्कृतनिर्वाणभक्ति के कर्ता "पूज्यपाद" (6ठीं शती) और प्राकृतभक्तियों के कर्ता "कुंदकुंद" (6ठीं शती) को माना जाता है। पंडित नाथूरामजी प्रेमी ने इन निर्वाणभक्तियों के संबंध में इतना ही कहा है कि जब तक इन दोनों रचनाओं के रचयिता का नाम मालूम न हो तब तक इतना ही कहा जा सकता है कि वे निश्चय ही आशाधर से पहले की (अब से लगभग 700 वर्ष पहले की) है। प्राकृत भक्ति में नर्मदा नदी के तट पर स्थित सिद्धवरकूट, बड़वानी नगर के दक्षिण भाग में चूलगिरि तथा पावागिरि आदि का उल्लेख किया गया है किन्तु ये सभी तीर्थक्षेत्र पुरातात्विक दृष्टि से नवीं-दसवीं शती के पूर्व के सिद्ध नहीं होते इसलिए इन भक्तियों का रचनाकाल और इन्हें जिन आचार्यों से संबंधित किया जाता है वह संदिग्ध बन जाता है। निर्वाणकाण्ड से अष्टापद, चम्पा, उर्जयंत, सम्मेदगिरि, गजपंथ, तारापुर, पावागिरि, शत्रुंजय, तुंगीगिरि, सवनगिरि, सिद्धवरकूट, चुलगिरि, बड़वानी, द्रोणगिरि, मेढ़गिरि, कुंथुपुर, हस्तिनापुर, वाराणसी, मथुरा, अहिछत्रा, जम्बूवन, अर्गलदेश, णिवडकुंडली, सिरपुर, होलगिरि, गोम्मटदेव आदि तीर्थों के उल्लेख हैं। इस निर्माण भक्ति में आये हुए चुलगिरि, पावागिरि, गोम्मटदेव, सिरपुर आदि के उल्लेख ऐसे हैं, जो इस कृति को पर्याप्त परवर्ती सिद्ध कर देते हैं। गोम्मटदेव

(श्रवणबेलगोला) की बाहुबली की मूर्ति का निर्माण ई.सं. 183 में हुआ। अतः यह कृति उसके पूर्व की नहीं मानी जा सकती और इसके कर्ता भी कुंदकुंद नहीं माने जा सकते।

पाँचवीं से दसवीं शताब्दी के बीच हुए अन्य दिगम्बर आचार्यों की कृतियों में कुंदकुंद के पश्चात् पूज्यपाद का क्रम आता है। पूज्यपाद ने निर्वाणभक्ति में निम्न स्थलों का उल्लेख किया है -

कुण्डपुर, जुम्भिकाग्राम, वैभारपर्वत, पावानगर, कैलाश पर्वत, उर्जयंत, पावापुर, सम्मेदपर्वत, शुत्रंजयपर्वत, द्रोणीमत, सह्याचल आदि।

रविषेण ने ''पद्मचरित'' में निम्न तीर्थस्थलों की चर्चा की है :-

कैलाश पर्वत, सम्मेदपर्वत, वंशगिरि, मेघरव, अयोध्या, काम्पिल्य, रत्नपुर, श्रावस्ती, चम्पा, काकन्दी, कौशाम्बी, चन्द्रपुरी, भद्रिका, मिथिला, वाराणसी, सिंहपुर, हस्तिनापुर, राजगृह, निर्वाणगिरि आदि।

दिगंबर परंपरा के तीर्थ संबंधि शेष प्रमुख तीर्थवन्दनाओं की सूची इस प्रकार है :-

रचना	रचनाकार	समय
शासनचतुस्त्रिंशिका	मदनकीर्ति	12वीं-13वीं शती
निर्वाणकाण्ड	-	12-13वीं शती
तीर्थवन्दना	-	12वीं-13वीं शती
जीरावला पार्श्वनाथस्तवन	उदयकीर्ति	12वीं-13वीं शती
पार्श्वनाथस्तोत्र	पद्मनंदि	14वीं शती
माणिक्यस्वामीविनती	श्रुतसागर	15वीं शती
मांगीतुंगीगीत	अभयचन्द	15वीं शती
तीर्थवंदना	गुणकीर्ति	15वीं शती
तीर्थवंदना	मेघराज	16वीं शती
जम्बूद्वीपजयमाला तीर्थजयमाला	सुमतिसागर	16वीं शती
जम्बूस्वामिचरित	राजमल्ल	16वीं शती
सर्वतीर्थ वंदना	ज्ञानसागर	16वीं-17वीं शती
श्री पुरपार्श्वनाथविनती	लक्ष्मण	17वीं शती

पुष्पांजलिजयमाला	सोमसेन	17वीं शती
तीर्थजयमाला	जयसागर	17वीं शती
तीर्थवंदना	चिमणा पंडित जिनसेन	17वीं शती
सर्वत्रैलोक्याजिनालय जयमाला	विश्वभूषण	17वीं शती
बलिभद्र अष्टक	मेरुचन्द्र	17वीं शती
बलिभद्र अष्टक	गंगादास	17वीं शती
मुक्तागिरि जयमाला	धनजी	17वीं शती
रामटेक छंद	मकरंद	17वीं-18वीं शती
पद्मावती स्त्रोत	तोपकरि	18वीं शती
षट्तीर्थ वंदना	देवेन्द्रकीर्ति जिनसागर	17वीं शती
मुक्तागिरि आरती	राधव	18वीं-19वीं शती
अकृत्रिम चैत्यालयजयमाला	पं. दिलसुख	19वीं शती
पार्श्वनाथ जयमाला	ब्रह्मा हर्ष	19वीं शती
तीर्थवंदना	कवीन्द्रसेवक	19वीं शती

यह सूची डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर द्वारा संपादित **''तीर्थवंदनसंग्रह''** के आधार पर प्रस्तुत की गई है।

आधुनिक काल के जैन तीर्थ - विषयक ग्रंथ

1. जैन तीर्थोनो इतिहास (गुजराती) मुनि श्री न्यायविजयजी - श्री चारित्र स्मारक ग्रंथमाला, अहमदाबाद 1849 ई.।
2. जैन तीर्थसर्वसंग्रह, भाग - 1, (खण्ड 1-2), भाग - 2, पं. अम्बालाल पी. शाह, आनंदजी कल्याणजी की पेढ़ी, झवेरीवाड़, अहमदाबाद से प्रकाशित।
3. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ

   - डॉ. जगदीशचन्द्र जैन
4. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, 1, 2, 3, 4, 5 (सचित्र)

   - श्री बलभद्र जैन
5. तीर्थदर्शन, भाग 1 एवं 2, प्रकाशक - श्री महावीर जैन कल्याण संघ, मद्रास

इसके अतिरिक्त पृथक - पृथक तीर्थों पर भी कई महत्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हैं।

फिर भी इनमें से अधिकांश तीर्थ संबंधी ग्रंथ अनुश्रुतियों को अपेक्षा से अधिक महत्व दे देते है अतः उनकी ऐतिहासिक संदिग्ध बन जाती है।

शत्रुंजय संबंधी विशेष साहित्य

तीर्थों और तीर्थ संबंधी साहित्य की इस सामान्य चर्चा के पश्चात् हम यहाँ शत्रुंजय तीर्थ या पुण्डरिक गिरि के संबंध में कुछ विशेष चर्चा करना चाहेंगे, क्योंकि प्रस्तुत सारावली उसी तीर्थ से संबंधित है।

हम देखते हैं कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परंपराओं में तीर्थ संबंधी साहित्य मुख्यतः दो प्रकार का हैं- एक वह जो तीर्थों की चर्चा करता है। प्रथम वर्ग की जो रचनाएँ है उनमें दोनों ही परंपरा के आचार्यों ने रविषेण के पद्मचरित आदि के अपवाद को छोड़कर शत्रुंजय तीर्थ का उल्लेख किया। श्वेताम्बर परंपरा के सभी आचार्य तो शत्रुंजय का उल्लेख करते ही हैं, दिगम्बर परंपरा में भी निर्वाणकाण्ड और निर्वाणभक्ति में शत्रुंजय का उल्लेख है। यद्यपि पर्वत पर एक मध्यम आकार के परवर्ती कालीन दिगम्बर मंदिर को छोड़कर प्रायः सभी मंदिर श्वेताम्बर आम्नाय के ही हैं। शत्रुंजय तीर्थ का महत्व बताने वाला कोई विशिष्ट ग्रंथ दिगंबर परंपरा में है ऐसा हमारी जानकारी में नहीं है जबकि श्वेताम्बर परंपरा में प्रस्तुत सारावली प्रकीर्णक के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक ग्रंथ हैं, जो शत्रुंजय (पुड़रिक गिरि) के महत्व, स्तुति एवं विवरण से युक्त हैं। यद्यपि प्रस्तुत सारावली प्रकीर्णक का निश्चित रचनाकाल बता पाना कठिन है फिर भी शत्रुंजय का महत्व बताने वाले ग्रंथों में इसका स्थान प्रमुख है। इसके अतिरिक्त परंपरागत मान्यता यह है कि पूर्व साहित्य के **''कल्प प्राभृत''** के आधार पर भद्रबाहु स्वामी ने शत्रुंजयकल्प की रचना की थी। उसके पश्चात् वज्रस्वामी और पादलिप्त सूरि ने शत्रुंजयकल्प लिखा था। किन्तु आज न तो ये ग्रंथ उपलब्ध हैं और न इन ग्रंथों के अस्तित्व को स्वीकार करने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण ही है। अतः इसे एक अनुश्रुति से अधिक कुछ नहीं माना जा सकता है। यद्यपि जिनप्रभ ने विविध तीर्थकल्प के शत्रुंजयकल्प में इस बात का संकेत दिया है कि उन्होंने इस कल्प की रचना भद्रबाहु, वज्रस्वामी एवं पादलिप्तसूरि के शत्रुंजयकल्प के आधार पर की है। तपागच्छीय धर्मघोषसूरि द्वारा लगभग विक्रम की चौदहवीं शती के पूर्वार्ध में रचित है और दूसरा खरतरगच्छीय जिनप्रभसूरि द्वारा कल्पप्रदीप या विविधतीर्थकल्प के अंतर्गत शत्रुंजयकल्प के नाम से विक्रम संवत् 1385 में रचित है। दोनों की विषयवस्तु में पर्याप्त समानता है। प्रो. एम.ए. ढाकी के अनुसार दोनों में लगभग 50 वर्ष का अंतर

होगा। इसके अतिरिक्त लघु शत्रुंजयकल्प के नाम से एक कृति और मिलती है। यह कृति श्री शत्रुंजय गिरिराज दर्शन में अपने अंग्रेजी अनुवाद के रूप में प्रकाशित है। यह कृति सारावली प्रकीर्णक की कुछ गाथाओं के संकलन के रूप में प्रतीत होती है। कृति के अंत में स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि ये गाथाएँ पूर्वधर के द्वारा **''सारावली पइण्णा''** में रचित है। इससे स्पष्ट है कि लघु शत्रुंजयकल्प की गाथाएँ सारावली प्रकीर्णक से उद्घृत है। इससे एक बात विशेष रुप से यह ज्ञात होती है कि उसमें सारावली प्रकीर्णक को पूर्वधर द्वारा रचित कहा गया है। इस आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि सारावली के रचनाकाल की हमने जो पूर्व में कल्पना की है उसकी अपेक्षा यह कुछ प्राचीन हो।

शत्रुंजय गिरि (पुण्डरिकपर्वत) संबंधी अन्य ग्रंथों में धनेश्वरसूरि द्वारा रचित शत्रुंजय महात्म्य भी एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यद्यपि परंपरागत मान्यता यह है कि धनेश्वरसूरि ने इसकी रचना विक्रम सं. 477 में शीलादित्य के समय में की थी, किन्तु यह बात कम विश्वसनीय लगती है क्योंकि विक्रम की पाँचवी शती में धनेश्वर सूरि नामक किसी जैन आचार्य के होने का कोई भी ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है। वैसे तो परवर्ती काल में धनेश्वर सूरि नामक कई आचार्य हुए हैं, किन्तु उसमें सर्वप्रथम जिन धनेश्वर सूरि की सूचना हमें प्राप्त होती है, वे मुञ्जसज के शासन काल में विक्रम की दसवीं शती के उत्तरार्ध एवं ग्यारहवीं शती के पूर्वार्ध में हुए हैं। उनके पश्चात् दूसरे धनेश्वरसूरि नाणकीय गच्छ के शांतिसूरि के प्रशिष्य और सिद्धसेन सूरि के शिष्य थे। इनका काल 12वीं शती होना चाहिए। तीसरे धनेश्वर सूरि का काल विक्रम की 14वीं शती है। प्रो. एम.ए. ढाकी के अनुसार इन्होंने ही विक्रम संवत् 1372 तदनुसार ईस्वी सन् 1315 में शत्रुंजय महात्म्य की रचना की थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तपागच्छीय धर्मघोष सूरि कृत शत्रुंजय कल्प (लगभग विक्रम संतव् 1340), खतरगच्छीय जिनप्रभसूरि रचित शत्रुंजयकल्प (विक्रम संवत् 1385) और धनेश्वर सूरि रचित शत्रुंजय महात्म्य (विक्रम संवत् 1372) एक ही काल की रचनाएँ हैं और इन सबका आधार सारावलरी प्रकीर्णक ही रहा है। लघुशत्रुंजयकल्प तो उसी की गाथाओं के आधार पर निर्मित ही है।

इस प्रकार शत्रुंजयतीर्थ संबंधी साहित्य की रचना में प्रस्तुत सारावली प्रकीर्णक की कथावस्तु आधारभूत रही है। परवर्ती काल में इन्हीं सब ग्रंथों के आधार पर शत्रुंजयतीर्थ के महात्म्य और स्तुति संबंधी विपूल साहित्य रचा गया, किन्तु विस्तार भय से उन सबकी चर्चा करना यहाँ संभव नहीं है। अब हम इस तीर्थ के उद् भव एवं

विकास के संबंध में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ चर्चा करेंगे।

यद्यपि परंपरागत विश्वास और अनुश्रुतियों के आधार पर निर्मित शत्रुंजय कल्प आदि ग्रंथों के आधार पर सौराष्ट में जैनों की अवस्थिति ऋषभदेव के काल से ही मानी जाती है क्योंकि इस तीर्थ संबंधी कथानकों में ऋषभदेव से लेकर परवर्ती सभी तीर्थंकरों के यहाँ आने के उल्लेख वर्णित हैं, साथ ही इस तीर्थ की स्थापना का संबंध भी ऋषभदेव के सांसारिक पौत्र एवं प्रथम गणधर पुण्डरीक के यहाँ से मुक्ति प्राप्त करने से जोड़ा गया है। मात्र यही नहीं प्रसिद्ध पौराणिक पुरुषों यथा-राम, पाँचों पाण्डव एवं कुंती आदि सहित करोड़ों मुनियों के यहाँ से मुक्त होने के उल्लेख हैं किन्तु यह सब पौराणिक मिथक ही हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन सबकी प्रामाणिकता सिद्ध कर पाना कठिन है। यह सत्य है कि अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण का संबंध इस प्रदेश से रहा है और उनके कारण ही गिरनार तीर्थ की प्रसिद्धि भी है, किन्तु इसे भी एक प्रागैतिहासिक सत्य के रुप में स्वीकार करके संतोष करना पड़ता है, इस संबंध में भी ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं फिर भी यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि ईसा की प्रथम शती के आसपास सौराष्ट जैन धर्म का एक प्रमुख केन्द्र बन गया था। इस काल में सौराष्ट के नगरों में वल्लभी जैनधर्म का प्रमुख गढ़ था। यहाँ पर ईसा की चतुर्थ शती में नागार्जुन की अध्यक्षता में और पाँचवीं शती में देवर्द्धिगणि की अध्यक्षता में दक्षिण पश्चिम के निर्ग्रंथ संघ ने एकत्रित होकर आगमों की वाचना की थी। पादलिप्त, आर्य भद्रगुप्त, आर्यरक्षित, धरसेन, नागार्जुन, देवर्धिगणि आदि प्राचीन आचार्यों का संबंध इस क्षेत्र से रहा है। दिगंबर परंपरा भी यह मानती हैं कि पुष्पदंत और भूतबली ने भी धरसेन से गिरनार पर्वत की गुफाओं में कर्म सिद्धांत का अध्ययन किया था फिर भी आगमों और प्राकृत आगमिक व्याख्याओं में अन्तकृतदशा को छोड़कर कहीं भी शत्रुंजय, पालीताना अथवा पुण्डरीक गिरि का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। आगमों में गिरनार का रैवतक या उर्जयंत के रुप में उल्लेख है। इस रैवतक पर्वत पर निर्ग्रन्थ मुनियों के निवास और संथारा करने के उल्लेख तो अनेक हैं, किन्तु शत्रुंजय अथवा उसके पुण्डरिक गिरि आदि अन्य पर्यायवाची नामों अन्तकृतदशांग के अतिरिक्त उल्लेख प्रायः नहीं मिलता। आचारांग निर्युक्ति में अष्टापद, उर्जयन्त, गजाग्रपद, धर्मचक्र, अहिच्छत्रा के तथा चमर उत्पादक्षेत्र का एवं निशीथगिरि या पालीताना का उल्लेख नहीं है। इससे ऐसा लगता है कि चाहे तपागच्छ पट्टावली के उल्लेख के अनुसार ईस्वी सन् 313 में पुण्डरिकगिरि या शत्रुंजय में जिन मंदिर बन गया हो, फिर भी उसकी प्रसिद्धि प्रमुख तीर्थ के रुप में परवर्तीकालमें ही हुई।

धनेश्वरसूरि कृत शत्रुंजय कल (ई. 1315) के अनुसार इस तीर्थ पर सर्वप्रथम भरत ने जिन मंदिर बनवाया, उनके पश्चात् भरत के वंश में दण्डवीर्य नामक राजा ने इसका जीर्णोद्धार करवाया। तीसरा जीर्णोद्धार ईशानेन्द्र के द्वारा, चौथा महेन्द्र के द्वारा, पाँचवा ब्रह्मोन्द्र के द्वारा, छठा चमरेन्द्र के द्वारा, सातवाँ सगर चक्रवर्ती के द्वारा, आठवाँ व्यन्तरेन्द्र के द्वारा, नौवाँ चन्द्रयश नामक राज के द्वारा दसवाँ शांतिनाथ के पुत्र चक्रधर के द्वारा, ग्यारहवाँ रामचन्द्रजी के द्वारा, बारहवाँ जीर्णोद्धार पाण्डवों के द्वारा किया गया। धनेश्वरसूरि ने इसके पश्चात् तेहरवाँ जीर्णोद्धार जावडशाह के द्वारा विक्रम संवत् 105 में वज्रस्वामी के सान्निध्य में किये जाने का उल्लेख किया है। हमारी दृष्टि में भरत से लेकर पाण्डवों तक के जीर्णोद्धार मात्र अनुश्रुतिपरक ही हैं, इनकी ऐतिहासिक सत्यता का प्रामाणीकरण संभव नहीं है, किन्तु जावडशाह के जिस जीर्णोद्धार उल्लेख धनेश्वर सूरि ने किया है वह ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य है, किन्तु उन्होंने इसे वज्रस्वामी के समय विक्रम संवत् 105 या 108 में होने की जो बात कही है, वह सत्य नहीं है। बर्गेस के अनुसार स्थानीय अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि जावडशाह के द्वारा विक्रम संवत् 1018 में यहाँ उद्धा करवाया गया था। हमारी दृष्टि में यह ऐतिहासिक सत्य है। जावडशाह का संबंध न तो वज्रस्वामी से संभव है और न उनके उद्धार का समय, जो विक्रम संवत् 108 बताया गया है, वह समीचीन है। वस्तुतः 1085 का किसी भ्रांति से 108 हो गया है। जावडशाह के पश्चात् कुमारपाल के मंत्री बाहड़ द्वारा वि.सं. 1213 ई. सन 1156 अर्थात् लगभव 200 वर्ष पश्चात् 2 करोड़ 97 लाख रुपये व्यय करके पुनरोद्धार करवाया गया। यह पंचम आरे का दूसरा पुनरोद्धार था। इसके लगभग 150 वर्ष पश्चात् जब विक्रम संवत् 1369 ई. सन 1311 में मुगलों ने शत्रुंजय के मंदिरों को नष्ट कर दिया तो देशलशाह के पुत्र समराशाह ने संवत् 1371 ई. सन् 1313 में इसका पुनरोद्धार करवाया। इस समय सकलतीर्थ स्तोत्र के कर्ता सिद्धसेन सूरि, जो संभवतः शत्रुंजयमहात्म्य के लेखक धनेश्वरसूरि के गुरु थे, भी उपस्थित थे। इसके पश्चात् विक्रम संवत् 1587 (ई. सन् 1530) में चित्तौड़ के करमाँशाह ने जावडशाह के मंदिर में जिनप्रतिमा प्रतिष्ठित करवाई। यह प्रतिष्ठा श्री विद्यामण्डन सूरिजी द्वारा सम्पन्न की गई थी। इनके अतिरिक्त तपागच्छीय धर्मघोषसूरिजी द्वारा शत्रुंजय कल्प में सम्प्रति, विक्रमादित्य, सातवाहन, पादलिप्त और आम के द्वारा भी यहाँ जिनालयों के निर्माण की सूचना दी गई है, किन्तु वर्तमान में इस संबंध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यद्यपि ये सभी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, किन्तु यह कथन मात्र अनुश्रुति है या सत्य है, इस संबंध में आज कोई प्रमाण प्रस्तुत

कर पाना कठिन है।

इनके अतिरिक्त वस्तुपाल, पेथडशाह और तेजपाल (खम्भात) आदि अन्य व्यक्तियों द्वारा भी यहाँ जिनालय बनाये जाने के उल्लेख मिलते है। शत्रुंजय पर्वत के मंदिरों और उनके निर्माणकर्ताओं का पूर्ण विवरण देने के लिए तो एक स्वतंत्र ग्रंथ की अपेक्षा होगी। प्रस्तुत भूमिका में वह सब विवरण देना न तो संभव है और न आवश्यक ही है। इस संबंध में जिन्हें विशेष जानकारी की इच्छा हो उन्हें जेम्स बर्गेस की पुस्तक दी टेम्पल्स ऑफ पालीताना (The Temples of Palitana) और मुनि कान्तिसागर की शत्रुंजय वैभव नामक ग्रंथ देखने की अनुशंसा की जाती है। ज्ञातव्य है कि ये दोनों ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यों की समीक्षा पूर्वक लिखे गये हैं और किसी सीमा तक अनुसंधान परक है। इसकी अपेक्षा शत्रुंजयकल्प, शत्रुंजय महात्म्य आदि ग्रंथ मुख्यतः अनुश्रुति परक है, अनुसंधानपरक नहीं है। वे श्रद्धा के विषय अधिक है। इन ग्रंथों में शत्रुंजय और उस पर किये गये दान-पूजा के महत्व को अतिश्योक्ति पूर्वक ही प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि जन-साधारण इस तीर्थ के प्रति अधिक आकर्षित हुआ। सत्य है कि ईसा की 7वीं शती तक भी शत्रुंजय को अधिक महत्व नहीं मिला था। इस तीर्थ को अधिक महत्व लगभग 10वीं शती में मिलना प्रारंभ हुआ और यह उत्तर पश्चिमी भारत के श्वेताम्बर समाज का एक प्रमुख तीर्थ बन गया। यद्यपि कुछ दिगम्बर आचार्यों ने इस तीर्थ का नामोल्लेख किया है, फिर भी यह तीर्थ प्रारंभ से ही श्वेताम्बर समाज का ही तीर्थ रहा। प्रस्तुत सारावंली प्रकीर्णक इसी तीर्थ के उद् भव, विकास और महात्म्य से संबंधित है।

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि प्रकीर्णक साहित्य के प्रकाशन की योजना के अंतर्गत इस ग्रंथ का प्रकाशन भी अमूर्तिपूजक स्थानकवासी परंपरा की संस्था कर रही हैं। इनकी यह उदारवृत्ति प्रशंसनीय है, फिर भी यह सावधानी रखनी आवश्यक है कि इस ग्रंथ की व्याख्या तथा भूमिका में जो तथ्य प्रकाशित हो रहे हैं, उनका इस संस्था की परंपरा से कोई संबंध नहीं है। अंत में हम पुनः प्रकाशक संस्था को धन्यवाद देना चाहेंगे कि उन्होंने अपनी परंपरा में मान्य नहीं होते हुए भी इस ग्रंथ के प्रकाशन में रुचि ली और अननुदित प्रकीर्णक ग्रंथों का अनुवाद कर उन्हें प्रकाशित करने का विशिष्ट कार्य सम्पन्न किया है।

सागरमल जैन

सुरेश सिसोदिया



प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उदेश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

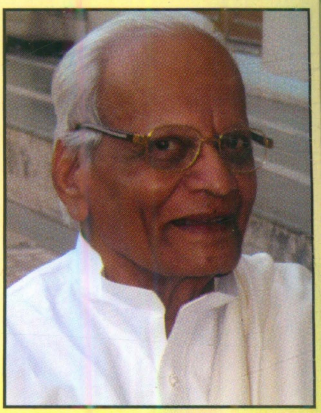
इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती है

इस परिसर में साधु–साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रुप में मान्यता प्रदान की गई है।

डॉ. सागरमल जैन



जन्म	:	दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्यरत्न : 1954
		एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963
		पी–एच.डी. : 1969

अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1964–67
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1968–85
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1985–89
निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	: 1979–1987 एवं 1989–1997
लेखन	: 49 पुस्तकें
सम्पादन	: 160 पुस्तकें
प्रधान सम्पादक	: जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार	: 1986 एवं 1998
स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार	: 1987
डिप्टीमल पुरस्कार	: 1992
आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान	: 1994
विद्यावारधि सम्मान	: 2003
प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए	: 2007
वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन)	: 2007
गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती)	: 2008
आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान	: 2009
विद्याचन्द्रसूरी सम्मान	: 2011
समता मनीषी सम्मान	: 2012
सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ	: पूर्व सदस्य – विद्वत परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल सदस्य – जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
	: पूर्व सदस्य – मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति	: संस्थापक – प्रबंध न्यासी एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र) पूर्वसचिवःपार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
विदेश भ्रमण	: यू.एस.ए. , शिकागो, राले, ह्यूटन, न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वॉशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टों, (कनाड़ा) न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काटमाडूं (नेपाल)

Printed at Akrati Offset, UJJAIN Ph. 0734-2561720